

# न

## नगालैण्ड

(Nagaland)

भारत के उत्तर-पूर्वी भाग में स्थित नगालैण्ड की राजधानी कोहिमा है और दीमापुर इसका सबसे बड़ा शहर है। नगालैण्ड का गठन भारत के सोलहवें राज्य के रूप में एक दिसम्बर, 1963 को हुआ था। यहाँ की राजनीति में भारत की 'केंद्रीय' या 'मुख्यधारा' की राजनीति से अलग मुद्दे हावी रहे हैं। यह भारत का एक ऐसा राज्य है जहाँ लम्बे समय से अलगाववाद की हथियारबंद राजनीति चलती रही है। भारत सरकार विद्रोही समूहों से शांति वार्ता करने के साथ-साथ अपनी दमनकारी शक्ति का भी प्रयोग करती है। इसके अलावा यहाँ के विद्रोही समूहों की कुछ माँगें दूसरे पड़ोसी राज्यों के हितों के भी खिलाफ जाती हैं। सम्भवतः इसीलिए नगालैण्ड के विद्रोही समूहों की माँगों को पूरी तरह मानना सम्भव नहीं हो पाता। ऐसा लगता है कि नगालैण्ड में स्थिति पूरी तरह सामान्य बनाने की दिशा में अभी काफी प्रयास किये जाने की आवश्यकता है।

नगालैण्ड के पश्चिम में असम, उत्तर में असम का एक भाग और अरुणाचल प्रदेश, पूर्व में बर्मा और दक्षिण में मणिपुर स्थित है। नगालैण्ड का कुल क्षेत्रफल 16,579 वर्ग किमी है। 2011 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 19,80,602 है। क्षेत्रफल के हिसाब से यह भारत का पच्चीसवाँ और जनसंख्या के हिसाब से भारत का चौबीसवाँ सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ की विधायिका एक सदनीय है, जिसमें कुल 60 सदस्य होते हैं। यहाँ से लोक सभा और राज्य सभा के एक-एक सदस्य चुने जाते हैं। यहाँ की जनसंख्या का घनत्व 119

व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। नगालैण्ड की साक्षरता दर 80.11 प्रतिशत है। साक्षरता-दर के हिसाब से यह भारत में इसका स्थान तेरहवाँ है। अंग्रेज़ी और छह अन्य जनजातीय भाषाएँ इस राज्य की राजकीय भाषाएँ हैं।

नगा लोगों को बर्मी भाषा में 'नाका' कहा जाता था, जिसका अर्थ होता है कि 'ऐसे लोग जिनका कान छेदा हुआ हो।' यह भी कहा जाता है कि वास्तविक रूप में 'नगा' शब्द का सबसे पहले इस्तेमाल अंग्रेज़ों ने हिंदी शब्द 'नंगा' को नगा करके किया। अंग्रेज़ों ने मणिपुर की जनजातियों को 'नगा' और 'कुकी' दो प्रमुख भागों में बाँटा। नगा जनजातियों का असम और बर्मा के जनजातियों से सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जुड़ाव था। आजकल भी असम में नगाओं की एक बहुत बड़ी जनसंख्या निवास करती है। 1816 में बर्मा अब म्यांमार के हमले के बाद असम सहित यह पूरा क्षेत्र बर्मा के कब्जे में आ गया। इस दौर में असम और नगा हिल्स में दमनकारी शासन रहा। 1826 में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने असम पर अपना नियंत्रण क़ायम किया और ब्रिटेन ने नगा हिल्स के क्षेत्रों पर भी अपने प्रभाव का विस्तार किया। 1892 में तुएनसांग क्षेत्र को छोड़ कर उत्तर-पूर्व में पूरा नगा हिल्स क्षेत्र अंग्रेज़ों के शासन के अंतर्गत आ गया और इसे राजनीतिक रूप से असम में मिला दिया गया। ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के कारण बहुत से नगाओं ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। नगालैण्ड की कुल जनसंख्या में 90.02 प्रतिशत ईसाई, 7.7 प्रतिशत हिंदू, 1.8 प्रतिशत मुसलिम हैं। यहाँ की 75 प्रतिशत से ज्यादा आबादी खेती पर निर्भर है और ग्रामीण इलाकों में रहती है।

भारत के उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में आज़ादी की माँग करने वाले आंदोलनों में से नगा आंदोलन सबसे पुराना आंदोलन है। इसकी शुरुआत 1918 से मानी जाती है, जब नगा क्लब



नगालैण्ड : अलगाववाद की हथियारबंद राजनीति से ग्रस्त

की स्थापना हुई थी। इसकी स्थापना में प्रथम विश्व-युद्ध में भाग लेने वाले सैनिकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। 1945 में नगा लोगों ने नगा हिल डिस्ट्रिक्ट ट्राइबल कौंसिल की स्थापना की। आगे चल कर 1946 में यही नगा नैशनल कौंसिल (एनएनसी) के रूप में सामने आया। एनएनसी में विभिन्न उप-जनजातियों का प्रतिनिधित्व था। फ्रिजो के नेतृत्व में नगा नैशनल कौंसिल ने अपने सभी नगा समूहों को मिला कर एक स्वतंत्र नगा राजनीतिक संघ बनाने की माँग की।

एनएनसी ने महसूस किया कि भारत के आजाद होने और उसके बाद नगा क्षेत्रों के भारत में विलय हो जाने से नगा लोगों की स्वायत्तता खत्म हो जाएगी। एनएनसी ने इस क्षेत्र में आये दूसरे राज्यों के अधिकारियों पर हमला भी किया। लेकिन उसके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था, इसलिए उस समय एनएनसी को भारत के साथ दस वर्षों के लिए आंतरिक समझौता करना पड़ा। एनएनसी ने तय किया कि वह इन दस वर्षों में इस बात पर फ़ैसला करेगी कि नगा लोगों को भारत से पूर्ण रूप से स्वतंत्र होना चाहिए या नहीं। इस संदर्भ में 1947 में बंगाल के गवर्नर सर अकबर हैदरी और एनएनसी के बीच एक नौ-सूत्रीय समझौता हुआ। हालाँकि इस समझौते की नवीं धारा की व्याख्या के संदर्भ में एक विवाद भी पैदा हुआ। इस धारा में उल्लेख किया गया था कि 'इस अवधि (दस साल) के अंत में नगा कौंसिल से यह पूछा जाएगा कि क्या वे यह चाहते हैं कि इस समझौते को आगे भी क़ायम रखा जाए या नगा लोगों के भविष्य के बारे में एक नया समझौता किया जाए।' नगा लोगों ने इस धारा का यह अर्थ निकाला कि दस वर्ष की अवधि पूरी होने पर उन्हें आजाद

होने का मौक़ा दिया जाएगा। वहीं भारत सरकार ने इसका यह अर्थ निकाला कि हम नगा हिल्स (या पहाड़ी) क्षेत्र भारत के अभिन्न हिस्से हैं और दस वर्ष की अवधि के बाद या तो इस समझौते को जारी रखा जाएगा या नगा हिल्स क्षेत्र को भारत का अभिन्न हिस्सा मानते हुए कोई अन्य समझौते किया जाएगा।

बहरहाल, नगा हिल्स को असम के भीतर एक जिले का दर्जा दे दिया गया जिसका प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के अनुसार किया जाता था। इस समझौते के कारण ही आगे चलकर एनएनसी में विभाजन हो गया। इसके एक धड़े के नेता ए. जैड. फ़िजो पूर्ण स्वतंत्रता की माँग कर रहे थे। भारतीय सेना की मौजूदगी के कारण एनएनसी को 1953 से भूमिगत प्रतिरोध की रणनीति अपनानी पड़ी। तभी से इस क्षेत्र में नियमित बगावत की घटनाएँ होती रही हैं। मार्च, 1956 में नगा लोगों ने नगा संघीय सरकार की स्थापना की। इस सरकार के पास अपना झण्डा था। इसने अपने नगा होमगार्ड्स का गठन किया जिसमें हर जनजाति से पाँच सौ लोगों को शामिल किया गया। इस तरह कुल-मिला कर तक्ररीबन पंद्रह हजार लोगों की एक सशस्त्र फ़ौज तैयार हो गयी जिसने हिंसक तरीके से आजादी हासिल करने का लक्ष्य रखा। इस संघर्ष के दौरान नगाओं में इस बात पर भी विभाजन रहा कि वे भारत से पूर्ण आजादी चाहते हैं या वे भारतीय संघ के भीतर पूर्ण राज्य का दर्जा चाहते हैं। 1957 में यहाँ केंद्र ने सेना भेजी और विद्रोह का सख्ती से दमन किया। इसके बाद सेना पर बलात्कार, हत्या तथा स्कूलों और चर्चों पर क़ब्ज़ा करने के आरोप भी बड़े पैमाने पर लगे। नगा हिल्स डिस्ट्रिक्ट एरियाज़ ऑर्डिनेंस, असम मेटेनेंस ऑफ़ पब्लिक ऑर्डर एक्ट तथा 1958 के आर्म्ड फ़ोर्सेज़ स्पेशल पावर एक्ट (1972 में संशोधित) द्वारा सेना द्वारा की जाने वाली गतिविधियों को 'क़ानूनी' मान्यता प्रदान की गयी।

साठ के दशक के दौरान उदारतावादी नगाओं ने महसूस किया कि भारत से पूर्ण आजादी का लक्ष्य वास्तविक लक्ष्य नहीं है। इसी तरह भारत सरकार ने भी नगा लोगों को संतुष्ट करने के लिए एक दिसम्बर, 1963 को पूर्ण नगा राज्य का गठन किया। इसके बाद नगालैण्ड की संसदीय राजनीति को मुख्य रूप से तीन भागों में बाँटा जा सकता है : राज्य-गठन से 1986 तक की राजनीति; दूसरा कांग्रेस वर्चस्व का दौर (1986-2003) और तीसरा, गैर-कांग्रेस गठजोड़ का वर्चस्व (2003 से अब तक)।

नगालैण्ड की संसदीय राजनीति में अमूमन गैरकांग्रेसी दलों या मोर्चे का वर्चस्व रहा है। राज्य के गठन के बाद से 1974 तक राज्य में नगा नैशनलिस्ट ऑर्गनाइज़ेशन का शासन रहा। इस दौरान राज्य के तीन मुख्यमंत्री रहे : पी. शीलू

(दिसम्बर, 1963-अगस्त, 1966), ओ.टी.एन. अंगामी (अगस्त, 1966-फ़रवरी, 1969), होकिसे सेमा (फ़रवरी, 1969-फ़रवरी, 1974)। इसके बाद 1986 तक राज्य में क्षेत्रीय दलों के नेतृत्व वाली सरकार रही। इस दौरान यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट के विजोल अंगामी दो बार राज्य के मुख्यमंत्री बने (फ़रवरी, 1974-मार्च, 1975; नवम्बर, 1977-अप्रैल, 1980)। इसके अलावा, नगा नैशनल डेमोक्रेटिक पार्टी के जॉन बोस्को जेसुकी (10 मार्च, 1975-20 मार्च, 1975; जून, 1980-नवम्बर, 1982) और यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रंट-प्रोग्रेसिव के एस.सी. ज़मीर (अप्रैल, 1980-जून, 1980; नवम्बर, 1982-अक्टूबर, 1986) भी दो-दो बार राज्य के मुख्यमंत्री रहे। राज्य में अभी तक कुल चार बार कांग्रेस की सरकार बनी है। इस दौरान होकिसे सेमा (अक्टूबर, 1986-अगस्त, 1988), एस.सी. ज़मीर (जनवरी, 1989-मई 1990; फ़रवरी, 1993-मार्च 2003), तथा के.एल. चिसी (मई, 1990-जून, 1990) राज्य के मुख्यमंत्री रहे हैं। 2003 से अभी तक राज्य में नगालैण्ड पीपुल्स फ्रंट का शासन है और इस दौरान नेफ्यू रियो (मार्च, 2003-जनवरी, 2008; मार्च, 2008 से अभी तक) राज्य के मुख्यमंत्री रहे हैं। नगालैण्ड के स्तर पर भाजपा ने भी इस सरकार को समर्थन दिया है, लेकिन केंद्रीय राजनीति में उसके साथ कोई गठजोड़ नहीं है। नगालैण्ड में अभी तक कुल चार बार राष्ट्रपति शासन भी लागू हुआ है।

राज्य के गठन के बाद और संसदीय राजनीति के सक्रिय होने के बावजूद राज्य में हिंसक विद्रोही गतिविधियाँ जारी रही हैं। 23 मई, 1964 को दोनों पक्षों ने एक युद्ध विराम समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। इससे हिंसा में कमी आयी थी लेकिन एनएनसी ने अपनी भूमिगत गतिविधियाँ खत्म नहीं कीं। लेकिन यह समझौता भी लम्बे समय तक नहीं चल पाया। 31 अगस्त, 1972 को भूमिगत एनएनसी, नगा संघीय सरकार, और नगा संघीय आर्मी पर भारत सरकार ने पाबंदी लगा दी और युद्ध विराम भी खत्म कर दिया। 1980 में नैशनल सोशलिस्ट कौंसिल ऑफ़ नगालिंगम का गठन हुआ। आगे चल कर यह दो भागों में बँट गया : एनएससीएन (इसाक-मुवैयाह) और एनएससीएन (खापलांग)। 1997 के बाद फिर से नगा होहो, द नगा पीपुल्स मूवमेंट फॉर ह्युमैन राइट्स और नगा मदर्स एसोसिएशन जैसे सिविल सोसाइटी संगठनों के दबाव में भारत सरकार और एनएससीएन (आई-एम) के बीच समझौता-वार्ता शुरू हुई।

बहरहाल, 2001 में भारत सरकार द्वारा नगालैण्ड के अलावा मणिपुर के नगा जिलों में एनएससीएन (आई-एम) के साथ युद्धविराम का विस्तार करने के प्रस्ताव ने मणिपुर के नगा क्षेत्रों में अशांति पैदा की। मणिपुर में बहुत से लोगों को यह लगा कि इस तरह का युद्धविराम दरअसल एनएससीएन (आई-एम) की बृहद नगालैण्ड या नगालिंगम बनाने की

माँग को स्वीकार करने की दिशा में पहला क़दम है। एनएससीएन के दोनों धड़ों ने इस तरह की माँग रखी थी जिसमें वे मणिपुर के तीन उत्तरी जिलों को भी शामिल करना चाहते हैं। दरअसल नगा क्षेत्रों का एकीकरण एक काफ़ी विवादास्पद मसला है। इसके कारण अरुणाचल प्रदेश और असम के कुछ क्षेत्रों में भी अशांति पैदा हो सकती है।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झाड़खण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, पश्चिम बंग, पंजाब, बिहार, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

### संदर्भ

1. डॉली किकॉन (2009), 'फ्रॉम लॉयनक्लाथ, सूट्स टू बैटल ग्रीस : पॉलिटिक्स ऑफ़ क्लोदिंग नैकेड नगाज़', सजीब बरुआ (सम्पा.), *बियांड काउंटर इंसर्जेसी : ब्रेकिंग द इम्पास इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. संजीब बरुआ (2009), 'इंट्रोडक्शन', संजीब बरुआ (सम्पा.), *बियांड काउंटर इंसर्जेसी : ब्रेकिंग द इम्पास इन नार्थ-ईस्ट इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. आर. वासुम (2000), *नगाज़ राइट्स टू सेल्फ़ डिटरमिनेशन : ऐन एंथ्रोपोलॉजिक-हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिव*, मित्तल पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

## नंद किशोर देवराज

(Nand Kishor Devraj)

दार्शनिक एवं साहित्यकार नंद किशोर देवराज (1917-1999) को सर्जनात्मक मानववाद के प्रतिपादन के लिए जाना जाता है। भारतीय दर्शन के स्वातंत्र्योत्तर युग के प्रमुख हस्ताक्षरों में से एक डॉ. देवराज ने मनुष्य के आत्मचेतन उत्पाद होने में निहित उसकी स्वतंत्रता, तर-तम-भाव और मूल्योन्वेषी प्रकृति को आधारभूत माना। देवराज का सर्जनात्मक मानववाद एक ओर मनुष्य के स्वरूप के संबंध में भारतीय दर्शन के तत्त्वमीमांसीय लंगर से कटा हुआ है तो दूसरी ओर मूल्य सर्जक और मूल्यसेवी रूप में महज मानवकेंद्रित नहीं है। *फ़िलॉसफ़ी ऐंड कल्चर*, *ऐन इंट्रोडक्शन टू क्रियेटिव ह्यूमनिज़म*, *ह्यूमनिज़म इन इण्डियन थॉट*, *फ्रीडम क्रियेटिविटी ऐंड वैल्यू*, *द लिमिट्स ऑफ़ डिसएग्रिमेंट*

जैसी रचनाओं में देवराज के सर्जनात्मक मानववाद का विकसित रूप सामने आया है। सृजनात्मक मानववाद का प्रमुख उद्देश्य भारतीय मनुष्य को उस सांस्कृतिक संकट से उबारना है जिसे देवराज सांस्कृतिक विभ्रम की अवस्था मानते हैं। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति एक ओर भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए प्रतिस्पर्धा में शामिल रहता है तो दूसरी ओर धार्मिक पुनरुत्थानजन्य कर्मकाण्ड में शांति की खोज करता रहता है। इस मूल्यांकन संबंधी असमंजस को देवराज ने वर्तमान सांस्कृतिक संकट का मूल कारण माना है। वे आजीवन ऐसे दर्शन का विकास करने के लिए प्रयत्नशील रहे जो व्यक्ति में ऐसा जीवन-विवेक जाग्रत कर सके जिससे उच्चतर और निम्नतर जीवन रूपों/स्थितियों में भेद किया जा सके और उच्चतर के अन्वेषण की तरफ बढ़ा जा सके।

नंद किशोर देवराज का जन्म तीन जून, 1917 को रामपुर (उप्र) में हुआ था। बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आचार्य शंकर पर पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने देश-विदेश में अध्यापन किया और अनेक पत्रिकाओं के सम्पादक मण्डल के सदस्य भी रहे। 1972 में वे इण्डियन फ़िलॉसॉफ़िकल कांग्रेस के अध्यक्ष भी चुने गये।

देवराज के अनुसार दर्शन का विषय मनुष्य और उसका जीवन है। हम आत्मा, पुनर्जन्म, परलोक और परम्परागत मोक्ष को दर्शन न भी स्वीकारें तो भी जीवन के लक्ष्य और सार्थकता के बारे में तो विचार करना ही होगा। देवराज का कहना है कि व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसमें है कि वह विपुल प्रतीकाश्रित सांस्कृतिक-आत्म के कुछ चुने हुए आयामों में अपनी चेतनावृत्ति का विस्तार करते हुए उसे चरितार्थ करे। इस प्रकार का चरितार्थन ही मानव की स्वयं-निर्मित नियति कही जा सकती है। देवराज की मान्यता है कि व्यक्तियों की गुणात्मक नियति अलग-अलग हो सकती है, पर उच्च कोटि के जीवन-पथ पर बढ़ने के लिए प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में धन-सम्पत्ति, मान-सम्मान आदि प्रतियोगितापरक मूल्यों के प्रति कमोबेश विरक्ति और उदासीनता की भावना आवश्यक है। देवराज एडमण्ड हसर की इस मान्यता से सहमत हैं कि दर्शन का प्रकृत विषय मानव-संसार या मनुष्य का जीवन-संसार है। देवराज इसमें एक संशोधन प्रस्तावित करते हैं कि दर्शन की दिलचस्पी मानव जगत के गुणात्मक पक्ष में होनी चाहिए और उसका प्रमुख कार्य गुणात्मक भेदों का विश्लेषण और व्याख्या ही है। चूँकि मनुष्य का अध्ययन समाजशास्त्र, मानवशास्त्र और मनोविज्ञान आदि भी करते हैं इसीलिए समीचीन यही होगा कि दर्शन जीवन के वैयक्तिक एवं अन्य पक्षों का अनुशीलन-परीक्षण विशेष मूल्यपरक दृष्टि से करे। जहाँ मूल्यों का अनुसंधानकर्ता होने के नाते सचेत मनुष्य विभिन्न विज्ञानों के

सम्पादन और विस्तार में रुचि लेता है, वहीं वह मूल्यानुसंधान की विभिन्न प्रक्रियाओं की गुणात्मक परीक्षा भी करता है। दर्शन मुख्यतः एक समीक्षात्मक प्रक्रिया और अवगति है। इसका प्रमुख कार्य जीवन मूल्यों का अनुचिंतन करना है।

देवराज ने दर्शन की अवधारणा को पुनः परिभाषित करने के साथ-साथ परम्परागत दृष्टि से दर्शन के विषयभूत आत्मा के प्रत्यय की भी नयी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार दर्शन अथवा दार्शनिक चिंतन-विश्लेषण का विषय मनुष्य की सांस्कृतिक इयत्ता है जो निरंतर वर्द्धमान अथवा विकासमान है। यह व्यक्ति विशेष को अनुप्राणित करने वाला आत्म-तत्त्व न होकर समग्र मानवता की सांस्कृतिक आत्म है जिसकी चेतना परिधि में युग-युग का सौंदर्य बोध, नीति बोध आध्यात्मिक बोध एवं इस सबसे सहचारित और उन्हें दृष्टि की एकता में बाँधने वाला जीवन समाहित रहता है। इस दृष्टि से दर्शन मनुष्य की विकासमान संस्कृति अथवा सांस्कृतिक चेतना, जो विभिन्न रूपों में तरह-तरह के प्रतीक-व्यूहों के आधार लेकर गठित और रक्षित होती चलती है, की आत्मावगति है।

देवराज का सर्जनात्मक मानववाद किसी परलोक या दूसरे जीवन की कल्पना को स्वतः सिद्ध मान कर नहीं चलता। उनकी दृष्टि में जन्म-मरण अथवा भवचक्र से छुटकारे के रूप में मोक्ष की मान्यता मानवतावादी स्पिरिट की विरोधी है। लेकिन वे यह भी कहते हैं कि सृष्टिकर्ता ईश्वर से विमुक्त अध्यात्म और मोक्ष संबंधी चिंतन भारतीय धर्म-अध्यात्म की परम्परा के लिए अपरिचित नहीं है। विशेष रूप से जैन-बौद्ध दर्शनों, सांख्य और अद्वैत वेदांत में जीवनमुक्ति की अवधारणा भी पायी जाती है जो मानववाद के इहलोक-केंद्रित दर्शन की पोषक है। इसमें वर्णित मनुष्य का पूर्णत्व या मुक्ति अथवा निर्वाण एक प्रकार का आत्मलाभ है। अपने से बाहर किसी पद या स्थिति की प्राप्ति नहीं। चूँकि मुक्ति की इस अवस्था का अनुभव यहीं धरती के जीवन में किया जा सकता है, इसलिए मानववादी होने के नाते हम जीवन-मुक्ति के लक्ष्य को महत्त्व दे सकते हैं।

देवराज ने दर्शन के इतिहास में निरंतर चले आए यथार्थवाद और भाववाद के विवाद का मानववादी विकल्प भी प्रस्तुत किया है। वे इस बात से इनकार करते हैं कि हमारा ज्ञान, जो अनिवार्य रूप से भाषाश्रित होता है, वस्तु के निजी स्वरूप को पकड़ पाने में सक्षम है। उनकी मान्यता है कि हमारे समस्त प्रयोजनों की दृष्टि से विवर्ध का यथार्थ वही है जो हमें आभासित होता है। हमारा अनुभव सापेक्षता की दुनिया तक सीमित है। इसलिए किसी अनुभवातीत निरपेक्ष की कल्पना बेमानी है। इस दृष्टिकोण के आधार पर देवराज ने 'तथ्य' की नवीन व्याख्या प्रस्तुत करते हुए मूल्यों को तात्त्विक वस्तुनिष्ठता प्रदान की है। तथ्य का अर्थ है दो या दो

से अधिक वस्तुओं का संबंध या एक ही वस्तु की दो विशेषताओं या उनके दो पहलुओं के बीच संबंध। ये संबंध दृष्टा के सापेक्ष होते हैं। निष्कर्ष यह है कि तथ्यों का अस्तित्व दर्शक की चेतना का अपेक्षी होता है। तथ्यों का अस्तित्व इष्टार्थों के संघटन या संहति में निहित होता है। इस दृष्टि से प्राकृतिक तथ्य भी वस्तुओं के अंतर्निहित गुण नहीं हैं। वास्तव में तथ्य नाम की वास्तविकता का उदय तब होता है जब हम वस्तुओं को अपने किसी प्रयोजन के मातहत एक दूसरी विशेषता से संयुक्त करके देखते और संबंधित करते हैं। विभिन्न प्रयोजनों की अपेक्षा में दो या दो से अधिक वस्तुओं के संबंध विविध रूप लेते हुए अनेक तथ्यों को जन्म देते हैं। लेकिन ये संबंध प्रकृति में उपस्थित वस्तुओं के बीच न होकर उन वस्तुओं की ऐसी विशेषताओं के बीच होते हैं जो वक्ता और श्रोता के भी विशिष्ट प्रयोजन के लिए अर्थवत्ता रखती हैं।

उक्त विशेषताओं को देवराज ने इष्टार्थ की संज्ञा दी है जो संदर्भ द्वारा परिभाषित और नियंत्रित होती है। भाषा का स्वामी होने से मनुष्य विभिन्न इष्टार्थों की दुनिया में निवास करता है जिसके विभिन्न क्षेत्र हमारी संस्कृति के विभिन्न आयाम हैं। अर्थ के ये आयाम वैसे ही वस्तुनिष्ठ हैं जैसे प्राकृतिक तथ्य। अतः मूल्यबोध आपने प्रमुख रूपों (सौंदर्य-बोध, नीति-बोध एवं आध्यात्मिक बोध) में निश्चय ही बोध या ज्ञान कहलाने का अधिकारी है। केवल वस्तुजगत का ज्ञान ही ज्ञान नहीं होता। लेकिन सभी तत्त्वों में व्यक्तिगत घटक को स्वीकारते हुए देवराज व्यक्तिनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता के विभिन्न स्तर स्वीकार करते हैं तथा इस आधार पर अनुभवपरक अर्थबोध, उपयोगितापरक अर्थबोध और नैतिक मूल्यों में अंतर को रेखांकित करते हैं। यही अंतर उन्हें भौतिक और मानवीय विद्याओं की अन्वेषण और व्याख्या पद्धति में भेद करने को बाध्य करता है। इस भिन्नता का मुख्य कारण मनुष्य की सृजनशीलता है। प्राकृतिक वस्तु प्रायः एकरूपता से विशेषित पूर्वानुमेय रूपों में क्रियाशील होती है जबकि छुद्रतम जीव का व्यवहार भी सर्जनात्मक बदलाव की क्षमता प्रदर्शित करता है। इसी कारण मानवीय विद्याओं द्वारा प्रतिपादित सामान्य कथन निश्चयात्मक न होकर सम्भावनाओं के द्योतक होते हैं। गुणपरक होने के कारण मानवीय विद्याओं द्वारा उद्घाटित संबंधों को भौतिक शास्त्र के सामान्य कथनों की भाँति मात्रापरक और गणित के समीकरणों के माध्यम से प्रकट नहीं किया जा सकता।

देवराज दार्शनिक ही नहीं अपितु एक संवेदनशील साहित्य सर्जक और साहित्य विचारक भी रहे हैं। उनकी दृष्टि में दर्शन और साहित्य परस्पर विरोधी नहीं है। उनके ग्यारह काव्य संग्रह, आठ उपन्यास और सात समीक्षा ग्रंथ प्रकाशित हुए। काव्य रचना को उनका अधिक स्नेह प्राप्त हुआ। टी.एस. एलियट ने काव्य में विचार और अनुभूति की जिस संयुक्ति

की बात कही थी वह देवराज के साहित्य में मुखरित हुई है। विकल्प की दृष्टि से वे कालिदास और रवींद्रनाथ के अनुकर्ता हैं। उनकी कविता की चरम सार्थकता जीवन के उन्नयन की खोज, सार्थक जीवन के प्रति गहरे लगाव और विकल्पहीन कर्मनिष्ठा में है। देवराज के सभी उपन्यासों के केंद्र में सार्थक अस्तित्व की खोज है। उनमें जीवन की हीरोइक सम्भावनाओं की तड़प पूरी उत्कटता के साथ अभिव्यक्त हुई है। *अजय की डायरी* इस दृष्टि से एक अभूतपूर्व उपन्यास है जिसकी कीर्ति आज तक धूमिल नहीं हुई है। देवराज की शैली में अद्भुत पठनीयता है। लेकिन यह पठनीयता एक विद्या-विभूषित व्यक्ति की अपेक्षा रखती है। उनको भाषा पर ऐसा अधिकार है कि सूक्ष्म चिंतन और संवेदन को संप्रेषित करने के साथ वह पाठकों को बाँध रखने में भी समर्थ है।

**देखें :** आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

### संदर्भ

1. नंद किशोर देवराज (1972), *संस्कृति का दार्शनिक विवेचन*, उप हिंदी संस्थान, लखनऊ.
2. नंद किशोर देवराज (1994), *दर्शन : स्वरूप, समस्याएँ एवं जीवन-दृष्टि*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. सुरेन्द्र बारलिंगे और सुभाष चंद्र भेलके (सम्पा.) (1996), डॉ. नंद किशोर देवराज : *दर्शन और साहित्य*, आकार ऑफसेट प्रेस, मुम्बई.

— आलोक टण्डन

## नंद दुलारे वाजपेयी

(Nand Dulare Vajpayi)

नंद दुलारे वाजपेयी (1906-1967) को परम्परा, संस्कृति, इतिहास, दर्शन, साहित्य और साहित्यशास्त्र के दायरे में भारतीय आधुनिकता से उपजे नये मूल्यों की व्याख्या करने का श्रेय जाता है। उन्होंने भारतीय चिंतन और भारतीय-संस्कृति का परिप्रेक्ष्य गहराये से समझने के बाद उस पर नये सिरे से विचार किया। वाजपेयी का आलोचक रस-रीति, गुण व वक्रोक्ति और अलंकार की मीमांसा करने वाला भाष्यकार नहीं था, बल्कि साहित्य को व्यापक सांस्कृतिक-सामाजिक-नैतिक संदर्भों से देख कर साहित्यिक-सामाजिक सार्थकता की प्रतिष्ठा करने वाला था। जॉनसन, कॉलरिज, ऑर्नल्ड और रिचर्ड्स जैसे पश्चिमी आलोचकों की तरह वाजपेयी बड़े सामाजिक दायित्वों की रोशनी में साहित्य का अनुशीलन करते थे। यद्यपि नंद दुलारे वाजपेयी को अपने गुरु रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-परम्परा आगे ले जाने का श्रेय दिया जाता है, लेकिन शुक्ल के उन प्रतिमानों को चुनौती देने का काम भी उन्होंने ही किया, जो तुलसीकृत *रामचरितमानस* और *पद्मावत* के भीतर से निकाले गये थे। शुक्ल के ये प्रतिमान छायावादी सृजनशीलता के साथ न्याय नहीं कर पा रहे थे। इस संबंध में शुक्ल से आलोचनात्मक संवाद करते हुए वाजपेयी व्याख्या-भाष्य तक ही सीमित नहीं रहे, बल्कि उन्होंने एक भिन्न सैद्धांतिकता का प्रतिपादन किया। नंद दुलारे वाजपेयी की मान्यता थी कि रचना और आलोचना का कार्य है मनुष्य को अपनी स्मृति में लौटा कर परम्परा के सूक्ष्म-गहन अंतःसूत्रों की पहचान और साक्षात्कार कराना। भारतीय परम्परा का जीवंत स्वर पाने के लिए वाजपेयी ने जयशंकर प्रसाद के रचना-कर्म पर पूरी पुस्तक लिखी। हालाँकि इस पुस्तक में अंग्रेजी उद्धरणों की भरमार है लेकिन दृष्टि के लिहाज से इसका उद्यम भारतीयता परिभाषित करने का है। भारतीयता की इसी खोज के उद्यम के तहत वाजपेयी वर्षों *सूरसागर* और *रामचरित मानस* के सम्पादन में लगे रहे।

नंददुलारे वाजपेयी कई वर्षों तक प्रगतिशील लेखक संघ की काशी शाखा के सभापति रहे। लेकिन, मार्क्स के साहित्य और संस्कृति संबंधी चिंतन से वे कभी सहमत नहीं हो पाये। उनका स्पष्ट कहना था, 'मुझे मार्क्स की सामाजिक और साहित्यिक प्रपत्तियाँ स्वीकार नहीं हैं। सामाजिक विकास

क्रम में अर्थ-व्यवस्था को सर्वोच्च बता कर साहित्यिक तथा अन्य उपकरणों को उसका अनुवर्ती मान लेने का तर्क मुझे सुसंगत नहीं जान पड़ता।' वाजपेयी ने इस मार्क्सवादी प्रतिपादन को विदेशी पद्धति करार दिया। वे मानते थे इस पद्धति का हमारी जलवायु में पोषण नहीं हुआ है। यह परम्परा रहित है और एक राजनीतिक मतवाद का अंग होकर आयी है। उनका कहना था कि इस तरह के 'मार्क्सवाद में कलात्मक, आध्यात्मिक, भावात्मक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है।' समझा जाता है कि सम्भवतः अपनी इसी विचार-दृष्टि के कारण वाजपेयी प्रेमचंद का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करने में विफल रहे। अपनी दृष्टिगत सीमाओं के कारण वे यशपाल, रांगेय राघव, प्रकाशचंद्र गुप्त, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, और रामविलास शर्मा पर समुचित ध्यान नहीं दे सके।



नंद दुलारे वाजपेयी (1906-1967)

मार्क्स के बजाय वाजपेयी की आस्था गाँधी-दर्शन की वैष्णव परम्परा में थी। विजयदेव नारायण साही ने गाँधी और छायावादी मनोभूमिका से निर्मित अनुभूति पर विचार करते हुए कहा है कि 'छायावाद के कवि 'परिवर्तनवादी' हैं, लेकिन मेटाफ्रिज़िक्स, मनुष्य, देश कालातीत अनंत सत्व के प्रभामण्डल का दामन नहीं छोड़ते। मेटाफ्रिज़िक्स छायावाद के लिए चिंतन या अनुभव की मुद्रा उतनी नहीं है जितनी एक काव्यात्मक-मुद्रा।' वाजपेयी छायावाद की इसी काव्यात्मक मुद्रा का नयी दृष्टि से विवेचन-विश्लेषण करने वाले आलोचक हैं। उनकी पूरी मानसिकता का संस्कार और परिष्कार-छायावाद की चेतना में होता

है। वाजपेयी ने अपनी रचना *आधुनिक साहित्य* में 1930 से 1942 तक की कृतियों और प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है। इस पुस्तक की 'भूमिका' उनकी जिस आधुनिकता को सामने लाती है, उसी से उनके नये समीक्षा-सूत्र उद्भूत होते हैं।

शुक्ल जी की सैद्धांतिक-व्यावहारिक आलोचना में वाजपेयी ने अनेक कमियों का संकेत किया। इन्हीं कमियों से बचने का प्रयास करते हुए उन्होंने अपनी समीक्षा का मूल दृष्टिकोण ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आधारों पर केंद्रित किया है। वे आलोचना को रसालंकार शैली पर चलाना नवीन सर्जनात्मकता का अपमान समझते थे। इसलिए वे रचना में कवि की अंतर्वृत्तियों (मानसिक उत्कर्ष-अपकर्ष) के अध्ययन पर जोर देते थे। रचना में कवि की मौलिकता, शक्तिमत्ता और सृजन की लघु-विशालता का अध्ययन उनके लिए महत्वपूर्ण था। रीतियों, शैलियों और रचना के बाह्यांगों का अध्ययन; समय और समाज तथा उसकी प्रेरणाओं का अध्ययन; कवि

की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन; कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन; और काव्य के जीवन संबंधी सामंजस्य और संदेश का अध्ययन उनकी समीक्षा का उद्देश्य था।

अपने एक निबंध 'स्वच्छंदतावाद, छायावाद, रहस्यवाद' में वाजपेयी ने अंग्रेजी 'रोमांटिसिज़्म' और 'मिस्टिसिज़्म' का भाष्य करने के बाद कहा कि महादेवी और विलियम ब्लेक रहस्यवादी हैं, प्रसाद और वर्ड्सवर्थ मानवतावादी— ऐसी तुलना ही गलत है। न प्रसाद-पंत वर्ड्सवर्थ-कीट्स हैं और न वर्ड्सवर्थ-कीट्स प्रसाद-पंत। इस तरह की तुलना से हिंदी आलोचना का नुकसान हुआ है। वाजपेयी का कहना था कि हिंदी का छायावाद किसी भी दृष्टि से रोमांटिसिज़्म का पर्याय नहीं है। दो भिन्न युगों-देशों-संस्कृतियों से उत्पन्न ये काव्य-आंदोलन अलग-अलग हैं। छायावाद के प्राणों में 'मुक्ति' की भावना का प्रबल स्वर है और विदेशी साम्राज्यवाद को उखाड़ फेंकने का 'जागरण'। छायावाद की नवीन प्रगीत भावना पर पश्चिमी स्वच्छंदतावाद का सिर्फ प्रभाव ही है। वह उसकी अनुकृति नहीं है।

नंद दुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवाद और अन्य काव्य आंदोलनों पर निर्मम प्रहार किये हैं। उनका कहना था कि 'नयी कविता के कवि मानववाद और मानवतावाद का झूठा मुखौटा ओढ़ कर व्यक्ति एवं वर्ग के टुच्चे वितण्डावाद का इजहार करते हैं। सामूहिकता से नितांत दूर इन कवियों में उन संस्कारों की भयंकर कमी है, जो एक श्रेष्ठ और टिकाऊ काव्य को जन्म देती है।' वाजपेयी के निर्मम प्रहारों ने अज्ञेय और मुक्तिबोध दोनों को विवश किया कि वे अपना पक्ष प्रस्तुत करें। अज्ञेय ने दूसरा सप्तक की 'भूमिका' में वाजपेयी के आक्षेपों का उत्तर दिया और मुक्तिबोध ने नयी कविता का आत्मसंघर्ष में।

नंद दुलारे वाजपेयी की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं : जयशंकर प्रसाद (1939-1940), हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी (1942), आधुनिक साहित्य (1950), महाकवि सूरदास (1953), प्रेमचंद : एक विवेचन (1953), नया साहित्य : नये प्रश्न (1955), राष्ट्रभाषा की कुछ समस्याएँ (1961), कवि निराला (1965), राष्ट्रीय-साहित्य तथा अन्य निबंध (1965), प्रकीर्णिका (1965)। इसके अतिरिक्त उन्होंने हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास भी लिखा जिसकी बहुत कम चर्चा हुई। कुछ मरणोपरांत प्रकाशित हुई हैं : नयी कविता (1976), रस-सिद्धांत : नये संदर्भ (1977), आधुनिक-साहित्य : सृजन और समीक्षा (1977), कवि सुमित्रानंदन पंत (1978) और रीति और शैली (1979)।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2,

भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, भारतेन्दु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

### संदर्भ

1. डॉ. वेंकट शर्मा (1962), आधुनिक हिंदी साहित्य में समालोचना का विकास, आत्माराम ऐंड संस, दिल्ली।
2. नंद दुलारे वाजपेयी (1978), नया साहित्य : नये प्रश्न, मैकमिलन, नयी दिल्ली।
3. कृष्णदत्त पालीवाल (1990), हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली।
4. विजय बहादुर सिंह (सम्पा.) (2001), नंद दुलारे वाजपेयी ग्रंथावली, अनामिका प्रकाशन, नयी दिल्ली।

— कृष्णदत्त पालीवाल

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1

(सीमाओं की शिनाख्त : विफलताओं का विश्लेषण)

(Discourse of Marxism in New Century-1)

पिछली सदी के आखिरी दशक में हुए सोवियत राज्य के ध्वंस और पूर्वी युरोप की कम्युनिस्ट हुकूमतों के पतन से मिले जबदरस्त धक्के के कोई बीस साल गुज़रते-गुज़रते मार्क्सवादी विमर्श ने एक बार फिर पूँजीवाद का विकल्प खोजने के लिए उत्सुक लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचना शुरू कर दिया है। इसके मुख्य कारण हैं : युरोपीय देशों और अमेरिका में चल रही दीर्घकालीन आर्थिक मंदी, लातीनी अमेरिका के कई देशों में वामपंथ समर्थक दलों की विजय और वर्ल्ड सोशल फ़ोरम के रूप में पूँजीवादी भूमण्डलीकरण के प्रतिरोध-केंद्र का उभरना। नयी सदी के मार्क्सवादी विमर्श



फ्रांसिस ह्वीन ( कार्ल मार्क्स : अ लाइफ )

की रचना में विभिन्न अनुशासनों के विद्वान शामिल हैं। इसमें लियोनार्ड वुल्फ और इस्तवान मेस्ज़ारोस जैसे दार्शनिक हैं, तो रणधीर सिंह जैसे राजनीतिशास्त्री, डेविड हार्वे जैसे भूगोलशास्त्री, टेरी ईगलटन जैसे सौंदर्यशास्त्री और एरिक हॉब्सबॉम जैसे इतिहासकार शामिल हैं।

वैसे तो यह विमर्श विविधता से भरपूर है लेकिन इसके केंद्र में मार्क्सवाद का शैक्षणिक रूप है। इक्कीसवीं सदी में जिन लेखकों ने मार्क्स को नये सिरे से पेश किया है, उनकी विशेषता यह भी है कि वे मार्क्स का पुनर्परिचय देने के साथ-साथ उनके चिंतन की सीमाओं पर भी उँगली रखते हैं, मार्क्सवादी प्रयोगों की विफलताओं की समीक्षा करते हैं, उस पर लगने वाले आरोपों का जायज़ा लेते हैं और साथ में भविष्य की सम्भावनाओं का संधान भी करते हैं। इस तरह के प्रयास पहले भी हुआ करते थे, पर 'एंग्लिस्टिंग सोशलजिज़्म' के पक्ष-विपक्ष में रहने के दबाव ने इस आलोचनात्मक स्वर से उसका नैरंतर्य छीन लिया था। यह कहना ग़लत होगा कि इन लेखकों ने मार्क्सवाद में कोई नया तत्त्व जोड़ा है, बल्कि उन्होंने उसके कुछ ऐसे पहलुओं को उभारा है जो अन्यान्य कारणों से अब तक उपेक्षित रह गये थे। दूसरे, यह विमर्श आम तौर से मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं पर ही केंद्रित रहते हुए लेनिनवाद और माओ-विचार को तक्ररीबन उपेक्षित ही कर देता है। इस विमर्श में साम्राज्यवाद की लेनिनवादी समझ की चर्चा भी न के बराबर है। तीसरे, वैसे तो यह विमर्श मार्क्स की सभी रचनाओं को सम्बोधित है, पर बार-बार घूम-फिर कर वह उनके महाग्रंथ *पूँजी* की तरफ़ लौटता है। यह लेखन *पूँजी* में क्या है, उसे किन परिस्थितियों में लिखा गया, उसे किस तरह पढ़ा गया, उसे किस तरह पढ़ा जाना चाहिए— जैसे सवालों से जूझता दिखाई देता है।

नब्बे के दशक में : ध्यान रहे कि समाजवादी खेमे के ढहने के फ़ौरन बाद पैदा हुए नये घटनाक्रम को उत्तर-आधुनिकता के चश्मे से भी देखने का चलन आम हो गया था। दूसरी तरफ़ मार्क्सवाद में तरह-तरह की मान्यताओं का प्रवेश करके उसे उत्तर-मार्क्सवाद बनाया जा रहा था। मसलन, नब्बे के दशक में ही एंतोनियो नेग्री और माइकल हार्ट की किताब *एम्पायर* आयी जिसमें साम्राज्यवाद को नये अवतार में दिखाया गया था। इसमें कहा गया था कि आज साम्राज्यवाद के खिलाफ़ लड़ाई विविधवर्णी हो गयी है। दरअसल, वर्ल्ड सोशल फ़ोरम में जिस तरह भाँति-भाँति की शक्तियाँ शामिल हो रही थीं उसी के कारण इस तरह के सिद्धांत भी पेश किये जा रहे थे। नेग्री और हार्ट ने साम्राज्यवाद से लड़ने की माओवादी नीति यानी तीन दुनिया के सिद्धांत पर भी यह कह कर सवाल उठाया था कि तीसरी दुनिया में भी एक पहली दुनिया बन गयी है और उसी तरह विकसित देशों में भी एक तीसरी दुनिया दिखायी पड़ती है। नेग्री की इस रचना को एक ज़माने में इतनी मान्यता मिल गयी थी कि उसे इक्कीसवीं सदी के लिए कम्युनिस्ट घोषणापत्र कहा जाने लगा था।

इस बीच फ्रांसिस ह्वीन लिखित मार्क्स की एक जीवनी *कार्ल मार्क्स : अ लाइफ़* भी पश्चिमी देशों में बहुत लोकप्रिय हुई। इस किताब में मार्क्स की रचना *पूँजी* को लेकर कुछ नयी बातें कहने की कोशिश की गयी थी। लेखक ने *पूँजी* को उन्नीसवीं सदी के महाकाय उपन्यासों की तरह पढ़ने की सलाह दी थी। इस किताब की जटिल शैली को लेकर लेखक का कहना था कि मार्क्स ने जिस विषय को व्याख्या के लिए चुना था वही इतना जटिल था कि विषय की जटिलता उनकी शैली में भी चली आयी। लेखक के अनुसार मार्क्स का ध्यान वस्तु के बजाय उसके रूप के प्रसार के रहस्योद्घाटन पर था इसलिए नाजुक विषय स्पष्ट करने की शैलीगत बेचैनी उनकी किताब में दिखाई पड़ती है।

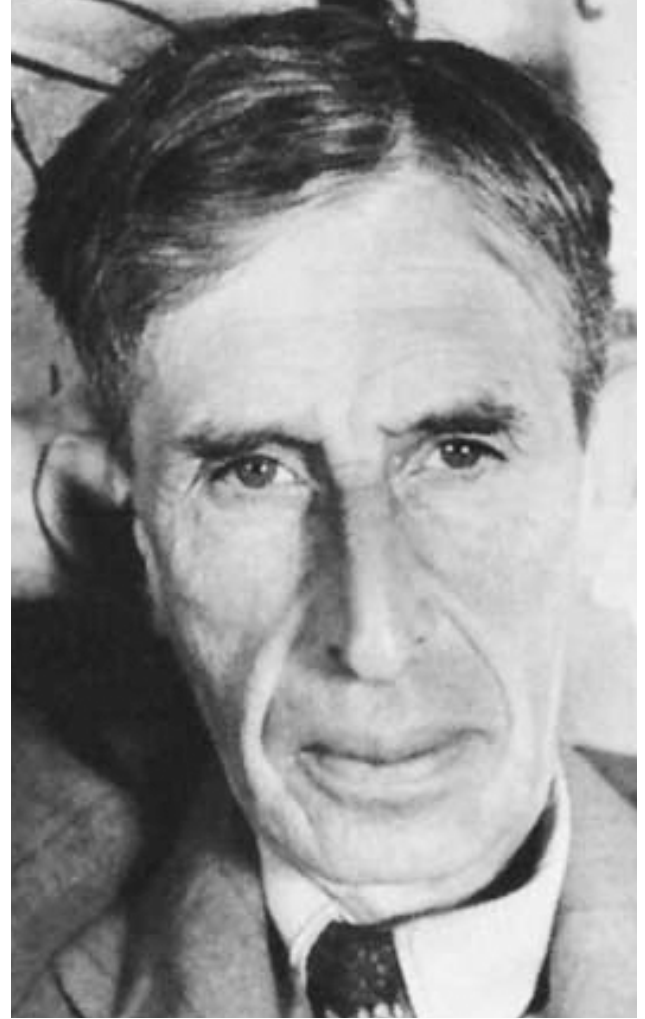
लिओनार्ड वुल्फ़ की चर्चित कृति *व्हाई रीड मार्क्स टुडे* 2002 में प्रकाशित हुई। भूमिका में लेखक ने बताया कि उन्होंने जब मार्क्सवाद पर एक पाठ्यक्रम शुरू किया तो उन्हें उम्मीद नहीं थी कि कोई इसे पढ़ेगा, लेकिन अचरज तब हुआ जब अनेक छात्र इसे पढ़ने के लिए आये। इस रुचि का कारण बताते हुए उन्होंने विश्व सामाजिक मंच के जुलूसों में प्रदर्शित एक बैनर का जिक्र किया है जिसमें लिखा था 'चेंज कैपिटलिज़्म विद समथिंग नाइस'। इसी इच्छा में छात्रों ने मार्क्सवाद के लिए जगह देखी और उसे पूँजीवाद की मूलगामी आलोचना के तौर पर ग्रहण किया। इस पुस्तक में मार्क्स के विचारों के प्रति कोई श्रद्धा व्यक्त करने के बजाय ज्यादातर एक तरह की आलोचना ही की गयी थी। वुल्फ़ ने सबसे पहले यह सवाल उठाया कि इक्कीसवीं सदी में



मार्क्सवाद में से कितना कुछ बचा रहेगा, फिर उत्तर दिया कि हम जितना सोचते हैं उससे कहीं ज्यादा। वे मार्क्स की एक सीमा का संकेत करते हैं जिसे तक्ररीबन सभी विचारकों ने दोहराया है। वे कहते हैं कि मार्क्स की निगाह में प्राकृतिक संसाधन अक्षय थे इसलिए पूँजीवाद की उनकी आलोचना में हम पर्यावरण-विनाश संबंधी प्रसंग उतने नहीं देखते हैं जितने आज दिखायी पड़ते हैं। पूँजीवाद की आलोचना अपने ज़माने में मार्क्स अकेले ही नहीं कर रहे थे। वुल्फ का मक़सद अन्य आलोचकों के मुक़ाबले मार्क्स की विशेषताओं को उजागर करना है। कुल मिलाकर इस किताब में मार्क्स के शुरुआती चिंतन के सिलसिले में ही कुछ नयी बातें कही गयी हैं। पर, बाद के लेखन पर वे कोई नयी बात नहीं कह पाते।

मार्क्सवाद और समाजवाद : इसके बाद एक महत्वपूर्ण किताब भारत के मार्क्सवादी विद्वान रणधीर सिंह की *क्राइसिस ऑफ सोशलिज़्म* आयी जो तक्ररीबन ग्यारह सौ पृष्ठों की थी। इसमें एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी द्वारा समाजवाद के संकट पर विचार किया गया था। भूमिका में लेखक ने स्वीकार किया है कि इस पुस्तक को एक दशक पहले ही प्रकाशित हो जाना चाहिए था क्योंकि तब इस विषय पर बहस चल रही थी लेकिन उस समय भी लेखक ने छिटपुट लेखों के ज़रिये वे बातें प्रस्तुत की थीं जो इसमें विस्तार से दर्ज की गयी हैं। पुस्तक के लिखने में हुई देरी की वजह बताते हुए उन्होंने लिखा है कि उन्हें आशा थी कि कोई न कोई इस काम को ज्यादा तरतीब से करेगा और उनकी उम्मीद पूरी हुई क्योंकि इसी बीच इस्तवान मेस्ज़ारोस की किताब *बियांड कैपिटल : टुवर्ड्स अ थियरी ऑफ ट्रांज़ीशन* प्रकाशित हुई जिससे उन्होंने काफी मदद ली।

इस पुस्तक में समाजवादी निर्माण के सभी प्रयासों को मार्क्सवाद से विचलन साबित करने के प्रयासों का खण्डन किया गया है। शायद इसीलिए इसका उप-शीर्षक *नोट्स इन डिफेंस ऑफ अ कमिटमेंट* है। किताब वैसे तो सोवियत संघ के पतन के शुरुआती प्रभाव के विवेचन से शुरू होती है लेकिन इस किताब का दूसरा अध्याय है 'ऑफ मार्क्सिज़्म ऑफ कार्ल मार्क्स' जो पहले ही एक पुस्तिका के रूप में छप चुका है। रणधीर सिंह का कहना है कि सोवियत संघ के पतन को मार्क्सवादी सिद्धांत के एक विशिष्ट व्यवहार की विफलता के बतौर देखा और समझा जाना चाहिए न कि इसे समाजवाद और पूँजीवाद के बीच जारी जंग का अंतिम समाधान मान लेना चाहिए। इस बात पर लेखक ने इसलिए भी जोर दिया है क्योंकि सोवियत संघ के पतन को समाजवाद या मार्क्सवाद की असफलता बताने के प्रचार के कारण कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों में भ्रम और संदेह फैलता है। यहाँ तक कि जो लोग इसे सिद्धांत के बतौर कारण मानते थे वे भी सामाजिक प्रोजेक्ट के बतौर इसका कोई भविष्य स्वीकार नहीं करते और



लिओनार्ड वुल्फ ( व्हाई रोड मार्क्स टुडे )

सिद्धांत तथा व्यवहार के बीच फाँक दिखाते हैं।

रणधीर सिंह जोर देते हैं कि मार्क्स ने अन्य दार्शनिकों की तरह चिंतन का कोई अंतिम ढाँचा नहीं निर्मित किया क्योंकि वे दार्शनिक या समाजशास्त्री होने के बजाय क्रांतिकारी थे। उनका सैद्धांतिक काम एक असमाप्त परियोजना है। अन्य विषयों (हीगेल के दर्शन, राजनीतिशास्त्र या राज्य, द्वंद्ववाद या पद्धति) पर प्रस्तावित काम की तो बात ही छोड़िए, खुद अर्थशास्त्र संबंधी काम में भी काफी कुछ बकाया रह गया था जिसे कुछ हद तक एंगेल्स ने निपटाया। रणधीर सिंह के मुताबिक इसके कारण भी मार्क्सवाद की ऐसी समझ बनती है मानो वह समाज को केवल आर्थिक नज़रिये से देखता हो।

रणधीर सिंह मानते हैं कि मार्क्स के लेखन में सब कुछ एक ही तरह से महत्वपूर्ण नहीं है। उन्हें बहुत सारा लेखन तात्कालिक दबाव में भी करना पड़ा था, इसलिए उनके गम्भीर काम को अलग से पहचानना चाहिए। उनके चिंतन में विकास भी हुआ है, इसलिए शुरुआती और बाद के कामों का

महत्त्व भी एक जैसा ही नहीं है। वे कहते हैं कि मार्क्स के चिंतन में अर्थशास्त्र से ज्यादा महत्त्वपूर्ण राजनीति है। आर्थिक ढाँचे का विश्लेषण तो वे व्यवस्था के उस आधार को समझने के लिए करते हैं जिसे क्रांतिकारी राजनीतिक व्यवहार के ज़रिये बदला जाना है। मार्क्स ने खुद ही अपनी सीमाओं को रेखांकित किया है कि उनका लेखन उन्नीसवीं सदी में और दुनिया के एक छोटे से कोने यानी यूरोप में हुआ। रूस के एक सम्पादक को लिखी चिट्ठी में उन्होंने स्वीकार किया कि पूँजी पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद के उदय की मेरे द्वारा प्रस्तुत रूपरेखा ही है। वुल्फ ने जिस तरह पर्यावरणीय पहलू पर मार्क्स की कमी का संकेत किया था, उसी तरह रणधीर सिंह ने भी उसे रेखांकित किया है। लेकिन उनका कहना है कि इन सबके बावजूद एक भरपूर मार्क्सवादी सिद्धांत के बारे में सोचा जा सकता है।

रणधीर सिंह मानते हैं कि एक हद तक यूटोपियन होने के बावजूद मार्क्स कहीं भी भविष्य के समाज के बारे में कोई ख़ाका नहीं खींचते। वे यही कहते हैं कि लोग अपने समय के हिसाब से समस्याओं का समाधान करेंगे। उन्होंने तो यह भी कहा कि हमारे लिए साम्यवाद कोई ऐसा आदर्श नहीं है जिसके अनुसार यथार्थ अपने आपको समायोजित करे। उनके मुताबिक समाजवाद किसी अध्ययन कक्ष में नहीं बनेगा बल्कि समाज की वास्तविक हलचलों या ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से उपजेगा।

समाजवाद के बारे में मार्क्स एंगेल्स के विचारों को समझाने के बाद रणधीर सिंह एक विचार की परीक्षा करते हैं जिसके अनुसार रूस में जो स्थापित हुआ और जिसकी नक़ल पूर्वी यूरोप के देशों में की गयी वह समाजवाद था ही नहीं। इस सवाल पर वे आलोचकों से पूरी सहमति तो नहीं जताते लेकिन इस तथ्य को मंज़ूर करते हैं कि विकृतियाँ बहुत ज़्यादा थीं और ऐसे आरोपों के पीछे अवश्य ही प्रचुर अनुभव थे लेकिन आज उसे समाजवाद मान कर ही उसकी ग़लतियों का विश्लेषण किया जा सकता और उन्हें सुधारा जा सकता है। समाजवादी निर्माण की एक सैद्धांतिक समस्या का ज़िक्र करते हुए रणधीर सिंह कहते हैं कि पूँजीवाद के ख़ात्मे के बाद भी बूज़र्वा विचारधारा और सामाजिक अनुकूलनशीलता की ताक़त को एक हद तक कम करके आँका गया, अर्थात् समाजवाद की स्थापना और उसे टिकाये रखने की इच्छा के लिए ज़रूरी वैचारिक-सांस्कृतिक संघर्ष का महत्त्व समझने में कमी रह गयी। मार्क्स को तो उम्मीद थी कि क्रांति यूरोप के विकसित देशों में पहले होगी लेकिन उन्हीं के लेखन में हमें ऐसे देशों में क्रांति की सम्भावना भी दिखाई पड़ती है जहाँ आबादी में किसानों की बहुतायत है। वे किसान बहुल समाजों में मज़दूर-किसान एकता की भी वकालत करते हैं। यह चिंतन पेरिस कम्यून के बाद विकसित

हुआ था। यही चीज़ इतिहास में उनके सिद्धांत के व्यावहारिक प्रयोग में सही साबित हुई और क्रांतियों का गुरुत्व केंद्र पूरब की ओर चला आया। क्रांति की उनकी गौण धारणा ही इतिहास में मुख्य धारणा बन गयी। उनके सिद्धांत के साथ इतिहास का यह खेल बाद की अनेक परेशानियों की वजह बना। रूस में मज़दूर वर्ग विकसित देशों के मज़दूर वर्ग के मुकाबले पिछड़ा हुआ था। रूस की क्रांति के बाद बोल्शेविकों को यूरोप में क्रांति के फूट पड़ने की आशा बहुत दिनों तक बनी रही क्योंकि वे इसे रूसी क्रांति को टिकाये रखने के लिए ज़रूरी समझते थे। लेकिन ऐसा न होने पर उन्हीं पर ज़िम्मेदारी आ पड़ी कि वे अपने ही देश में इसे आगे बढ़ाने की कोशिश करें। रणधीर सिंह के मुताबिक रूसी समाजवाद की अनेक विकृतियों का संबंध घिराव की इस मजबूरी से भी है। रणधीर सिंह के मुताबिक संगठन का लेनिनवादी सिद्धांत आत्मगत ताक़तों का मार्क्सवादी विज्ञान है और आज भी क्रांतिकारी संघर्ष की समस्याओं को हल करने के लिए उपयोगी औज़ार बना हुआ है लेकिन उसमें संगठन की नेतृत्व संबंधी भूलों को सुधारने का कोई संस्थाबद्ध ढाँचा मौजूद नहीं है इसलिए अगर एक बार ग़लती हो जाए तो फिर सुधार की गुंजाइश कम ही रह जाती है।

मार्क्स के सिद्धांतों के आर्थिक अभिग्रहण से भी समाजवाद के ढहने का संबंध है। इसे चिह्नित करते हुए वे लेनिन के बाद सोवियत संघ में समाजवाद को महज़ आर्थिक उपलब्धियों तक सीमित करके देखने-समझने के नज़रिये का उल्लेख करते हैं। इसका उदाहरण वे मार्क्सवाद की ऐसी आधिकारिक व्याख्या को भी मानते हैं जिसमें भौतिकवाद के तीन सिद्धांत, द्वंद्ववाद के चार नियम और ऐतिहासिक भौतिकवाद के पाँच चरण होते थे। जबकि उनके मुताबिक मार्क्सवाद बहुत ही खुला हुआ दर्शन है। यहाँ तक कि वह अपने सुधार की माँग भी आगामी पीढ़ियों से करता है। इसी सिलसिले में वे कहते हैं कि नव-सामाजिक आंदोलनों की चुनौती के समक्ष आज मार्क्सवाद को समृद्ध करने की ज़िम्मेदारी आन पड़ी है क्योंकि इन आंदोलनों की सैद्धांतिकी मार्क्सवाद विरोधी उत्तर-आधुनिकता से निर्मित हुई है और ये कुल मिलाकर सुधारात्मक ही हैं।

अन्य चीज़ों के अलावा रणधीर सिंह कुछ बेहद ज़रूरी सैद्धांतिक सवाल उठाते हैं। उनके अनुसार समाजवादी परियोजना के पतन से एक सवाल पैदा हुआ है जिसका कोई सैद्धांतिक समाधान मार्क्सवाद के भीतर नज़र नहीं आता। अनुभव से दिखायी पड़ा है कि सत्ता पर क़ब्ज़ा हो जाने के बाद नये तरह से वर्ग निर्माण की प्रक्रिया शुरू होती है। उनका कहना है कि रूसी और चीनी दोनों ही क्रांतियों के बाद लेनिन और माओ को यह समस्या नज़र आयी और उन्होंने इसका समाधान खोजने की कोशिश की। लेकिन दोनों के ही उत्तर

पार्टी ढाँचे के बाहर जाकर अंदर की समस्याओं को हल करने पर जोर देते हैं। यह बात माओ की सांस्कृतिक क्रांति में और भी खुल कर व्यक्त होती है, जबकि समस्या यह थी कि संगठन के भीतर ही आत्म-सुधार का कोई कारगर तरीका खोजा जाए। उनके मुताबिक यह ऐसी समस्या है जिसका समाधान अभी नहीं पाया जा सका है।

इसके अलावा लेखक ने इसी सिलसिले में एक ऐसे पहलू को उठाया है जिस पर आम तौर पर ध्यान नहीं दिया जाता। उनका कहना है कि परिस्थितियों और व्यक्ति की भूमिकाओं में द्वंद्वत्मक रिश्ता होता है। लेकिन मार्क्सवादी आम तौर पर इसे परिस्थितियों की प्रमुखता में बदल देते हैं। क्रांति के बाद उस प्रक्रिया में शामिल रहे नेताओं की उपस्थिति भी समस्याओं पर क्राबू पाने में बहुत मदद करती है। रूस के संदर्भ में बोल्शेविक क्रांति के दौरान और बाद में चले गृह युद्ध में नेताओं की पहली खेप का तक्ररीबन सफ़ाया हो गया था, इसलिए स्तालिन तक तो नौकरशाही के विरुद्ध संघर्षरत दिखाई देता है लेकिन उनकी मृत्यु के बाद नौकरशाहों का सरकार पर पूरी तरह से कब्ज़ा हो गया। चीन के प्रसंग में भी यही परिघटना सामने आयी।

इस किताब की खासियत यह है कि इसने प्रतिबद्ध वामपंथी कार्यकर्ताओं को सही मुद्दे को पहचानने में मदद की जो घटनाओं की तीव्रता और न्यस्त आलोचना के समक्ष कुछ हद तक किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

## संदर्भ

1. एजाज़ अहमद (2008), *इन थियरी*, वर्सो, लंदन-न्यूयॉर्क.
2. अंतोनियो नेग्री और माइकेल हार्ट (2000), *एम्पायर*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.
3. अंतोनियो नेग्री (1989), *द पॉलिटिक्स ऑफ़ सब्जर्न : अ मेनिफेस्टो फ़ॉर द ट्वेंटी-फ़र्स्ट सेंचुरी*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

3. फ्रांसिस व्हीन (2000), *कार्ल मार्क्स : अ लाइफ़*, नार्टन, न्यूयॉर्क.
4. लियोनार्ड वुल्फ़ (2002), *व्हाई रीड मार्क्स टुडे*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस
5. रणधीर सिंह (2006), *क्राइसिस ऑफ़ सोशलिज़्म*, अजंता बुक्स इंटरनेशनल, नयी दिल्ली और कनाडा.

— गोपाल प्रधान

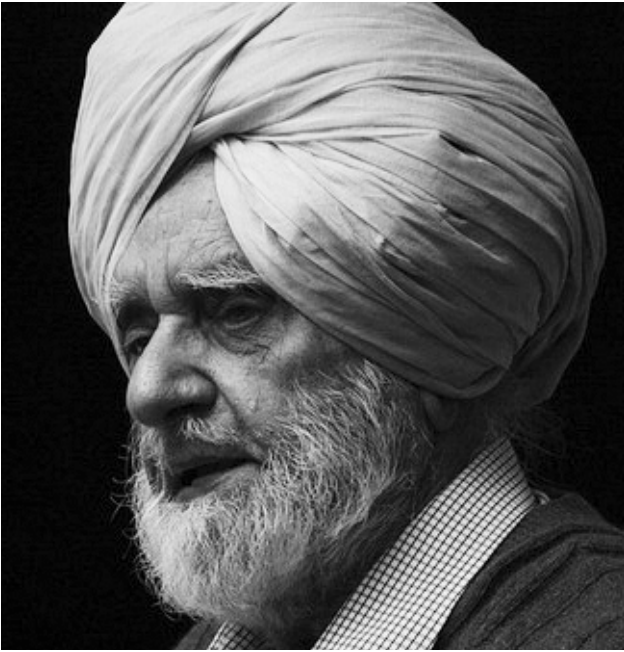
## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-2

(निर्धारणवादी पाठ की आलोचना :  
फ़ॉस्टर और फ़िशर)

(Discourse of Marxism  
in New Century-2)

इसके बाद जिस किताब का जिक्र ज़रूरी है वह छपी तो बहुत पहले थी लेकिन 2008 में उसे फिर से प्रकाशित किया गया है। किताब का नाम है *हाउ टु रीड कार्ल मार्क्स* और लेखक हैं अर्नेस्ट फ़िशर। एक लम्बी और बेहद उपयोगी भूमिका जान बेलामी फ़ॉस्टर ने लिखी है। फ़िशर दूसरे विश्व युद्ध के बाद गठित आस्ट्रिया की अस्थायी सरकार के शिक्षा मंत्री और अनेक वर्षों तक आस्ट्रियाई कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेता रहे। इसके बावजूद वे एक स्वतंत्र मार्क्सवादी बुद्धिजीवी बने रहे। अनेक बार उन्होंने पार्टी अनुशासन की सीमा से बाहर निकल कर भी अपनी राय व्यक्त की। 1968 में जब सोवियत संघ ने चेकोस्लोवाकिया पर हमला किया तो उसका विरोध करने के कारण उन्हें 1969 में पार्टी से निकाल दिया गया था। इस भूमिका में वे मार्क्स के विचारों के साथ उनके ज़माने से अब तक जो बरताव किया गया है उसकी झँकी भी प्रस्तुत करते हैं ताकि इस माहौल के भीतर रख कर इस किताब के महत्त्व को समझा जा सके।

फ़ॉस्टर का कहना है कि सोवियत नमूने की सत्ताओं और पश्चिमी दुनिया द्वारा एक ही तरह से मार्क्स के विचारों को विकृत किया गया। पश्चिमी दुनिया के विकारों के उदाहरण के बतौर वे *कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र* के दो संस्करणों की भूमिकाओं का जिक्र करते हैं जो क्रमशः सैमुएल बीअर और ए.पी.जे. टेलर द्वारा लिखी गयी थीं। टेलर ने इस भूमिका से पहले भी एक किताब में मार्क्स के बारे में लिखा था कि उनका सिद्धांत सामाजिक हितों के टकराव का समाधान सोच-विचार के बजाय हिंसा के ज़रिये निकालने की



रणधीर सिंह (क्राइसिस ऑफ सोशलजिजम : नोट्स इन डिफेंस ऑफ अ कमिटमेंट)

वकालत करता है और यह कि मार्क्स के अनुसार आदमी का दिमाग सिर्फ बाहर के तथ्यों को दर्ज करता है। बीयर और टेलर भूमिकाओं के लेखन से पहले ही अपने मार्क्सवाद विरोधी विचारों को ज़ाहिर कर चुके थे। दोनों ही अपनी भूमिकाओं की शुरुआत इस दावे से करते हैं कि मार्क्सवाद धर्म है। इसके बाद उनके तर्क जुदा हो जाते हैं लेकिन वे दोनों ऐतिहासिक भौतिकवाद का ऐसा रूप तैयार करते हैं जिसे आसानी से खारिज किया जा सके। बीअर अपने पाठकों को सूचित करते हैं कि मार्क्स के विचार दो मान्यताओं पर आधारित हैं : पहला, आर्थिक निर्धारणवाद या यह विचार कि समाज की आर्थिक संरचना मानव-इच्छा और चिंतन से स्वतंत्र होकर विकसित होती है और सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में घटने वाली घटनाओं को निर्धारित करती है। दूसरे, यह विचार कि इतिहास का क्रम अनिवार्यतः हिंसक क्रांतियों से भरा हुआ है। बीअर के अनुसार मार्क्स का ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक अस्तित्व को अलंघनीय नियमों में बाँध देता है। वे द्वंद्ववाद को थीसिस-एंटीथीसिस-सिंथीसिस के त्रिक में समझने का आग्रह करते हैं। मार्क्स के आर्थिक सिद्धांतों की बुनियाद उनके अनुसार मूल्य का श्रम सिद्धांत है जो क्रीमट के बारे में कुछ भी नहीं बताता। वे शोषण को नैतिक शब्दावली मानकर इसकी जगह पर डकैती का विकल्प सुझाते हैं। उन्हें सबसे अधिक आपत्ति मार्क्स के गरीबी की बढ़ती के सिद्धांत पर है। वे कहते हैं कि इसका मतलब मार्क्स के मुताबिक मज़दूर अधिक वेतन और काम के कम घंटों की लड़ाई जीतने में अक्षम हैं। बीअर की आपत्ति यह है कि पूँजीवादी निज़ाम के पिछले सौ सालों में मज़दूर यह लड़ाई कई बार जीत चुके हैं। बेरोज़गारी के बढ़ने के

मार्क्स के अंदेशों को बीअर युद्धोत्तर आर्थिक उछाल का हवाला देकर खारिज करते हैं।

बीअर की भूमिका के बाद फ़िशर टेलर की भूमिका के बारे में बताते हैं जो बीअर की भूमिका के बारह साल बाद आयी जिसकी आलोचना और भी निर्बंध है। टेलर मार्क्स को महत्त्वोन्मादी बताते हैं क्योंकि उनके अनुसार मार्क्स हमेशा ही अपने आपको दुनिया का बौद्धिक स्वामी समझते थे, तब भी जब उन्हें कोई जानता नहीं था। इसके लिए वे द्वंद्ववादी पद्धति में उनके विश्वास का हवाला देते हैं। उनकी नज़र में भी थीसिस-एंटी थीसिस-सिंथीसिस का सरल त्रिस्तरीय ढाँचा था। इसके अनुसार अंत में समाज ऐसी स्थिति में पहुँचेगा जहाँ बिना किसी टकराव के सभी लोग राजी खुशी रहेंगे। उनका कहना है कि एक भी खोज किये बग़ैर मार्क्स अपने आपको वैज्ञानिक कहते हैं। मार्क्स उनकी नज़र में समाज के विकास के बजाय महज़ क्रांति की बात करते हैं जो तीक्ष्ण और तुरंत होगी। इतिहास का यह आलम है तो आर्थिक मामलात में तो और भी गड़बड़ी है। उनके अनुसार मार्क्स अति-उत्पादन से पैदा संकट को अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि मानते थे लेकिन यह तो उस ज़माने में सर्वमान्य मूल्य के श्रम-सिद्धांत की उपज था। अब यह मान्यता शैक्षिक जगत में अमान्य हो गयी है। पूँजीवादी व्यवस्था के आर्थिक अंतर्विरोधों के बढ़ने की भविष्यवाणी टेलर के अनुसार ग़लत साबित हो गयी है। पूँजीपतियों की समृद्धि के साथ ही सर्वहारा की समृद्धि भी बढ़ी है। आधुनिक पूँजीवादी व्यवस्था मार्क्स के बताये पूँजीवाद की तरह नहीं रह गयी है, क्योंकि स्वामित्व और नियंत्रण में अलगाव आया है। टेलर के मुताबिक मुनाफ़ा पूँजीवाद का एकमात्र चालक तो दूर, उसकी प्रमुख चालक शक्ति भी नहीं रह गया है। टेलर कहते हैं कि मार्क्स ने शांतिपूर्ण समाजवादी क्रांति की सम्भावना जतायी थी लेकिन बाद में इसे छोड़ दिया। असल में तो मार्क्स की असली प्रवृत्ति न केवल स्तालिन तक, बल्कि हिटलर और मुसोलिनी तक ले जाने वाली है।

मार्क्स का यह निर्धारणवादी पाठ प्रथम विश्व युद्ध से पहले ही दूसरे इंटरनैशनल में सामने आ चुका था। तब तक मार्क्स के लेखन का आधा हिस्सा भी प्रकाशित नहीं हुआ था। बाद में प्रकाशित लेखन को असल में सबसे महत्त्वपूर्ण माना गया है जो 1960-70 के दशकों में ही अंग्रेज़ी में आ सका। इन्हीं में मार्क्स का मानवतावादी रूप उभरकर आया। इस लेखन का असर 1968 में चरम पर पहुँच गया। संयोग से उसी साल फ़िशर की यह किताब भी छपी। किताब के इस संस्करण के परिशिष्ट में मार्क्स के दो लेखों— थीसिस ऑन फ़ायरबाख और अ कंट्रीब्यूशन टु द क्रिटीक ऑफ पालिटिकल इकॉनॉमी की भूमिका से आधार-अधिरचना के मुहावरे के अलावा उनकी पद्धति के बारे में पाल स्वीज़ी का

एक लेख भी छापा गया है जो उनकी किताब *द थियरी ऑफ़ कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट* का एक बेहद उपयोगी हिस्सा है।

इधर के दिनों में मार्क्सवाद पर जो भी सोच-विचार हो रहा है उसकी एक विशेषता यह है कि उसमें मार्क्स के मानवतावादी नज़रिये पर ख़ास जोर दिया जाता है। रणधीर सिंह ने भी इस पहलू को उभारा। फ़िशर की इस किताब में मार्क्स के ही लेखन से महत्वपूर्ण अंशों को चुनकर उनकी व्याख्या की गयी है। पुस्तक के पहले अध्याय 'द ड्रीम ऑफ़ द होल मैन' में मार्क्स के लेखन के उस हिस्से पर बल दिया गया है जिसमें वे आधुनिक पूँजीवादी खण्डित मनुष्य के बरक्स सम्पूर्ण मनुष्य के सपने को समाजवादी समाज का लक्ष्य घोषित करते हैं। उनके मुताबिक अट्ठारहवीं सदी में मनुष्य का अपने आप से अलगाव समूचे युरोप का बुनियादी अनुभव था। इसलिए अपने आपसे, अपनी प्रजाति से, आसपास की प्रकृति से मनुष्य के इस अलगाव का खात्मा उस समय के सभी मानववादियों की साझी चिंता थी। उनमें रोमांटिक लोग भी शामिल थे लेकिन समय बीतने के साथ कुछ लोग अतीत को चरम मुक्ति का समय मानकर उसका गुणगान करने लगे, जबकि अन्य भविष्य में मनुष्य के इस अलगाव के खात्मे का सपना सँजोये रहे।

किताब के अंत में फ़िशर भविष्य के लिए मार्क्सवाद की चार रोचक धाराओं का जिक्र करते हैं : पहली, मार्क्सवाद को ऐसा वैज्ञानिक विश्व दृष्टिकोण समझना जिसे इतिहास की द्वंद्वात्मक व्याख्या के लिए लागू किया जा सकता है। यह धारणा मार्क्स की बनिस्बत एंगेल्स के विचारों से ज़्यादा प्रभावित है लेकिन एंगेल्स की इस बात को भी ध्यान में रखती है कि हरेक नयी खोज के साथ भौतिकवाद को भी बदलना होगा। दूसरी, मनुष्य के दर्शन के रूप में मार्क्सवाद की परिकल्पना जिसमें अलगाव को बुनियादी धारणा माना जाए। आजकल ज़्यादातर मार्क्सवाद का विकास इसी दिशा में हो रहा है। तीसरी, संरचनावाद से प्रभावित होकर मार्क्स के लेखन को भाषा और मिथ के विश्लेषण के लायक बनाना। यह विकास मार्क्सवाद को अकादमिक बनाने की ओर ले गया। चौथी, इतिहास और राजनीतिक पहल के अध्ययन के लिए वैज्ञानिक पद्धति के बतौर उसे विकसित करना। तीसरी दुनिया के देशों में मार्क्सवाद का विकास अधिकांशतः इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-

चाल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. अर्नेस्ट फ़िशर (2008), *हाउ टु रीड कार्ल मार्क्स*, आकार बुक्स, नयी दिल्ली.
2. पॉल स्वीजी (1942), *द थियरी ऑफ़ कैपिटलिस्ट डिवेलपमेंट*, मंथली रिव्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिख एंगेल्स (1976-2005), *क्लेक्टिड वर्क्स*, 50 खण्ड, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयॉर्क.
4. कार्ल मार्क्स (2009), *अ कंट्रीव्यूशन टू द क्रिटीक ऑफ़ पॉलिटिकल इकॉनॉमी*, स्टैंडर्ड पब्लिकेशंस, न्यूयॉर्क.

— गोपाल प्रधान

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-3

(पूँजी के परे : लेबोविट्ज़)

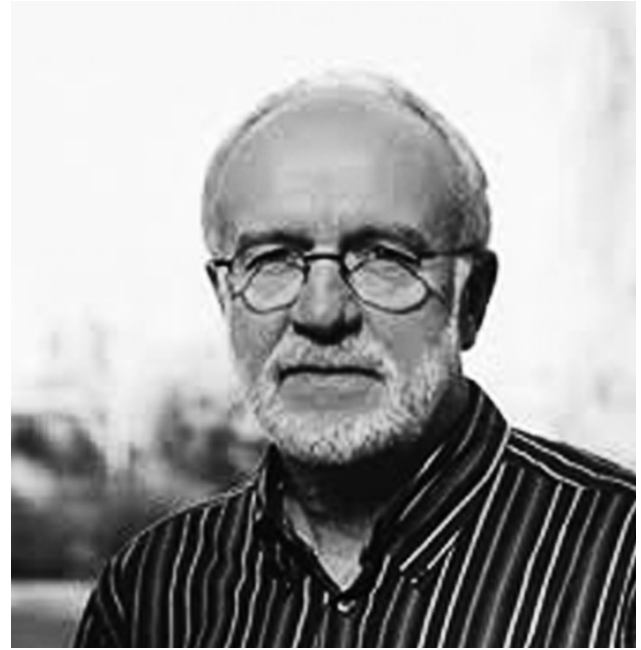
(Discourse of Marxism  
in New Century-3)

कनाडा के मार्क्सवादी विद्वान माइकेल ए. लेबोविट्ज़ की किताब *द सोशलिस्ट आल्टरनेटिव : रियल ह्यूमैन डिवेलपमेंट* 2010 में छपी। लेबोविट्ज़ की एक अन्य किताब *बियांड कैपिटल* भी है जिसमें वे हंगारी चिंतक इस्तवान मेस्ज़ारोस की मान्यताएँ सरल-सुबोध ढंग से प्रस्तुत करते हैं। मेस्ज़ारोस पहले ही इसी शीर्षक से अपनी पुस्तक लिख चुके थे।

लेबोविट्ज़ की किताब की शुरुआत इस सवाल से होती है कि आखिर इक्कीसवीं सदी के पूँजीवाद को समझने के लिए उन्नीसवीं सदी के एक लेखक को क्यों देखा जाए। उत्तर देते हुए वे बताते हैं कि मार्क्सवाद असल में महज़ आर्थिक सिद्धांत नहीं है। उनका तर्क है कि मार्क्सवादी ऐसे प्रत्येक समाज का विरोध करते हैं जो शोषण पर आधारित है और इसीलिए मनुष्य के सम्पूर्ण विकास में बाधक है। वे पूँजीवाद का विरोध इसलिए करते हैं क्योंकि इस समाज में

फ़ैसले मनुष्य की ज़रूरत के आधार पर नहीं बल्कि निजी मुनाफ़े को ध्यान में रखकर किये जाते हैं। मनुष्य और संसाधनों का पूरा इस्तेमाल नहीं हो पाता क्योंकि उन्हें मनुष्य की ज़रूरत के अनुसार संयोजित ही नहीं किया जाता। मानव अस्तित्व की बुनियादी शर्त यानी प्राकृतिक पर्यावरण को निजी मुनाफ़े के लिए नष्ट कर दिया जाता है। ऐसे समाज में न्याय की बात बेमानी है जिसमें उत्पादन के साधनों का स्वामित्व एक बड़ी आबादी को अमानवीय हालात में काम करने के लिए मजबूर कर देता है। यहाँ तक कि जनता को लिंग, नस्ल और राष्ट्रीयता आदि के आधार पर इसीलिए बाँटा जाता है क्योंकि अन्यथा लोगों के बीच आपसी सहयोग पूँजी के लिए फ़ायदेमंद नहीं होगा।

लेबोविट्ज़ के मुताबिक़ मार्क्स ने पूँजीवाद की गतिकी का अब तक का सर्वोत्तम अध्ययन किया था। पूँजीवाद के लिए माल और मुद्रा के साथ ही ऐसे श्रमिक की ज़रूरत होती है जो अपना श्रम बेचे, वह श्रम जो उसके शरीर में ही अवस्थित है। दूसरे कि इस श्रम को ख़रीदने वाला पूँजीपति हो। इसके लिए श्रमिक को आज़ाद होना चाहिए। उसका अपने शरीर में निहित इस ताक़त पर इतना अधिकार होना चाहिए कि वह इसे मालिक के बतौर बेच सके। उसे उत्पादन के सभी साधनों से भी आज़ाद होना चाहिए ताकि उसके पास अपना शरीर छोड़कर बेचने के लिए और कुछ भी न हो। तीसरी बात कि पूँजीपति को उस श्रम का बाक्रायदा अधिग्रहण करना चाहिए। पहले भी बाज़ार के ज़रिये ख़रीद-फ़रोख़्त हुआ करती थी लेकिन श्रम-शक्ति की बिक्री की ख़ासियत यह है कि वह उसके मालिक से अलग कोई वस्तु नहीं होती। इसलिए इसकी बिक्री के साथ मज़दूर एक तरह से अपने ही शरीर पर अपना अधिकार बेच देता है। इसका अभिप्राय यह है कि ख़रीदारी के वक़्त उसे सशरीर मौजूद रहना होता है। ख़रीदार यानी पूँजीपति भी इसकी ख़रीदारी निजी उपभोग के लिए नहीं करता। उसकी रुचि इससे पैदा होने वाले अतिरिक्त मूल्य में होती है। सिर्फ़ अतिरिक्त मूल्य के लिए ही वह श्रम शक्ति को ख़रीदता है। यह अतिरिक्त मूल्य उत्पादन के क्षेत्र में पैदा होता है। उत्पादित होने वाली वस्तु भी श्रम पर अधिकार के कारण उसके ख़रीदार की ही सम्पत्ति हो जाती है। अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन और अधिग्रहण ऐसी कहानी है जो मार्क्स के पाठक आम तौर पर जानते हैं। इसके लिए पूँजीपति काम के घंटे या उत्पादकता बढ़ाता है जिससे निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का सृजन होता है। लेकिन मार्क्स निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का ही उद्घाटन नहीं करते बल्कि वे सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य का भी रहस्योद्घाटन करते हैं। अपने एक लेख *क्लोक्टिव वर्कर* में लेबोविट्ज़ ने इस पहलू पर जोर दिया है क्योंकि काम के घंटे या उत्पादकता बढ़ाकर जो मुनाफ़ा पूँजीपति कमाता है उसका अन्याय तो



अन्स्ट फ़िशर ( हाउ टु रीड कार्ल मार्क्स )

प्रत्यक्ष है, लेकिन ऐसा न करने से भी जो अतिरिक्त मूल्य पैदा होता है वह सबकी नज़र में नहीं आता।

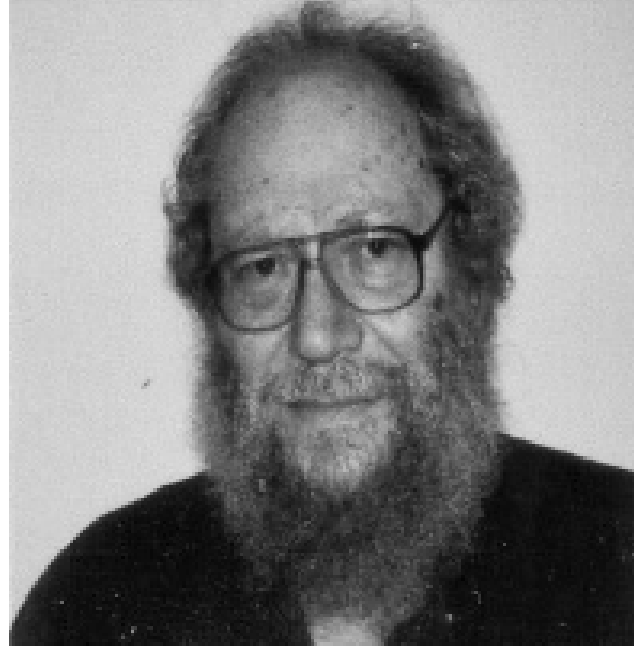
लेबोविट्ज़ के अनुसार पूँजीवाद की मार्क्स की आलोचना सिर्फ़ कम या ज़्यादा वेतन की नहीं बल्कि स्वयं मज़दूरी की है। अगर मज़दूर काम के घंटे कम करवाकर मज़दूरी में बढ़ोतरी करवा लें तो भी मार्क्स की आलोचना ख़त्म नहीं हो जाएगी। अतिरिक्त मूल्य का हरेक क़तरा मार्क्स की नज़र में चोरी है। सवाल गुलामी का है उसके रूप का नहीं। मार्क्स के लिए पूँजीवाद में सुधार का कोई मतलब नहीं, पूँजीवाद का ख़ात्मा ही एकमात्र विकल्प है। चूँकि यह अंतर्दृष्टि आंदोलनों से अपने आप नहीं उपजती इसलिए पूँजी के तर्क के पार जाने के लिए पूँजी का अध्ययन ज़रूरी है। इसके बग़ैर यही धारणा बनी रहती है कि मज़दूर ने ख़ास मात्रा में अपना श्रम बेचा और इसीलिए शोषण भी सही मज़दूरी न मिलने में दिखाई पड़ता है। मार्क्स का जोर पूँजीवाद में सुधार पर नहीं बल्कि उसके निषेध और विनाश पर है।

लेबोविट्ज़ कहते हैं कि मार्क्स का ग्रंथ पूँजी एकतरफ़ा तौर पर महज़ पूँजी को सक्रिय दिखाता है और इसके दूसरे पहलू अर्थात् मज़दूर की स्वतंत्र सक्रियता को उजागर नहीं करता। इसके बरक्स वे मार्क्स के पहले इंटरनैशनल के भाषण से मज़दूर वर्ग के राजनीतिक अर्थशास्त्र की धारणा को ले आते हैं और मार्क्स के एक सपने का ज़िक्र करते हैं जिसको आजकल बहुत से विद्वान उद्धृत करते हैं। वह है— आपस में जुड़े हुए उत्पादकों का ऐसा समाज जिसमें सामाजिक सम्पदा, श्रम-शक्ति के ख़रीदारों को प्राप्त होने के

बजाय स्वाधीन तौर पर परस्पर सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा नियोजित की जाती है जो सामुदायिक उद्देश्यों के लिए और सामाजिक ज़रूरत के मुताबिक उत्पादन करते हैं ।

अपने एक लेख *स्पेक्टर ऑफ सोशललिज़म फॉर द 21 सेंचुरी* में लेबोविट्ज़ समाजवाद को तीन चीज़ों का समुच्चय मानते हैं। पहला : उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व । यह चीज़ राजकीय स्वामित्व से अलग है । इसके लिए गहन लोकतांत्रिकता की ज़रूरत है जिसमें जनता, उत्पादकों और समाज के सदस्य के बतौर हमारे सामाजिक श्रम के परिणामों के उपयोग के बारे में निर्णय लेगी । सामाजिक सम्पत्ति की उनकी धारणा में अतीत के संचित श्रम की केंद्रीयता है जिसमें औज़ार और कौशल शामिल हैं । अतीत का यह संचित श्रम हमें मुफ्त मिलता है और इसी के साथ सहयोग के उपहार को जोड़ देने से सामाजिक उत्पादक शक्ति प्राप्त होती है । इसी सामाजिक विरासत के लिए लड़ाई एक तरह से वर्ग संघर्ष है । पूँजीवाद इसी विरासत से मनुष्य को अलग करता है और उसे पूँजी में बदलकर हथिया लेता है । इसको वापस हासिल करना और जीवित सामाजिक श्रम तथा अतीत के सामाजिक श्रम को संयुक्त करना समाजवाद के लिए आवश्यक है । दूसरा : मजदूरों द्वारा उत्पादन का संगठन । मजदूरों द्वारा संगठित उत्पादन से उत्पादकों के बीच नये रिश्तों की बुनियाद पड़ती है जो सहयोग और एकजुटता के होते हैं । इसके लिए मजदूरों को काम की जगह पर चिंतन और कर्म को आपस में जोड़ने की क्षमता विकसित करनी होगी । इससे उनमें निर्णय लेने का आत्म विश्वास आता है । तीसरा : सामुदायिक ज़रूरतों और उद्देश्यों की संतुष्टि । यह बात मानव परिवार के सदस्यों के बतौर हमारी ज़रूरतों और हमारी साझा मानवता को मान्यता देने पर आधारित है । इसके लिए स्वार्थ से ऊपर उठने और समुदाय तथा समाज के बारे में सोचने के महत्त्व पर जोर देना होगा । जब तक हम निजी लाभ के लिए उत्पादन करते हैं तब तक दूसरों को प्रतिद्वंद्वी या ग्राहक ही समझते हैं यानी दुश्मन या अपने मकसद को पूरा करने का साधन और इसी कारण एक दूसरे से अलग-थलग और एकांगी बने रहते हैं । समाजवाद के आरम्भिक त्रिक का यह पहलू आचरण में भिन्नता को मानकर एकता स्थापित करने पर बल देता है । इस तरह हम जनता में एकजुटता का निर्माण तो करते ही हैं अपने को भी अलग तरीके से उत्पादित करते हैं ।

एक लेख *द इंपॉर्टेंस ऑफ सोशलिस्ट एकाउंटेंसी* में वे मेस्ज़ारोस की एक धारणा ले आते हैं । उनका कहना है कि नया समाजवादी समाज बनाने के लिए नयी धारणाओं का निर्माण करना होगा । ये नयी धारणाएँ पूँजी की तार्किकता के मुक्राबले सामाजिक तार्किकता की स्थापना करेंगी । इस सिलसिले में वे मेस्ज़ारोस की समाजवादी एकाउंटेंसी की धारणा का जिक्र करते हैं जो पूँजी के तर्क में निहित



माइकेल ए. लेबोविट्ज़ ( *द सोशलिस्ट आल्टरनेटिव* : रियल ह्यूमन डिवेलपमेंट )

एकाउंटिंग और ऐडमिनिस्ट्रेशन के बरक्स प्रस्तावित किया गया है । इसमें पूँजीवादी व्यवस्था के परिमाण पर जोर के विपरीत गुण पर जोर दिया जाना चाहिए और उत्पादन का लक्ष्य ज़रूरतों की सीधी संतुष्टि होना चाहिए । इसका दूसरा पैमाना स्वतंत्र समय होना चाहिए जिसे मनुष्य अपने आपको साकार करने के लिए रचनात्मक तरीके से इस्तेमाल करेगा और अनिवार्य श्रम के समय की तानाशाही से आज़ादी हासिल करेगा । इस तरह समाजवादी लेखा-जोखा अनिवार्य श्रम समय के निषेध पर आधारित होगा । इतिहास में आगे चलकर स्वतंत्र समय का उत्पादन मुक्ति की अनिवार्य शर्त होगा । यह पूँजीवाद की इस स्थिति के विरोध में होगा जहाँ समय ही सब कुछ होता है, मनुष्य कुछ नहीं होता । समाजवादी लेखा की धारणा की ज़रूरत पूँजीवादी लेखा और सक्षमता की पूँजीवादी धारणा को तोड़ने के लिए है । स्वतंत्र समय मानव विकास और व्यवहार से जुड़ा हुआ है, इसलिए समाजवादी लेखा की धारणा यहाँ आकर परिस्थिति को बदलने के साथ ही खुद को बदलने के क्रांतिकारी आचरण से मिल जाती है । इस तरह यह मानव क्षमता में विकास को भी समाहित करती है । जहाँ पूँजीवादी लेखा उत्पादन के समय को ध्यान में रखता है और मानव क्षमता का मूल्यांकन प्रति इकाई वस्तुओं के उत्पादन में लगे मानव श्रम के हिसाब से करता है वहीं समाजवादी लेखा मनुष्य के लिए आवश्यक निवेश के आधार पर श्रमिक की क्षमता में विकास का आकलन करता है ।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ाई लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल

हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. माइकेल ए. लेबोविट्ज़ (2010), *द सोशलिस्ट अल्टरनेटिव : रीयल ह्यूमैन डिवेलपमेंट*, आकार बुक्स, नयी दिल्ली।
2. माइकेल ए. लेबोविट्ज़ (2003), *बियांड कैपिटल*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क।
3. कार्ल मार्क्स (2009), *एट्थि ब्रुमेर ऑफ लुई बोनापार्ट*, सेरेनिटी पब्लिशर्स, रॉकविले, मैरीलैण्ड।
4. कार्ल मार्क्स (1988), *द इकॉनॉमिक ऐंड फ़िलॉसॉफ़िकल मैनुस्क्रिप्ट ऑफ 1844*, प्रॉमिथियस बुक्स, न्यूयॉर्क।

— गोपाल प्रधान

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-4

(पूँजी की अराजकता : इस्तवान मेस्ज़ारोस)

(Discourse of Marxism  
in New Century-4)

मार्क्सवाद के मौजूदा विमर्श में हंगरी के चिंतक इस्तवान मेस्ज़ारोस फ़िलहाल सबसे महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उनकी किताब *बियांड कैपिटल* का ज़िक्र हम पहले ही कर चुके हैं। किताब का पहला और दूसरा खण्ड इंग्लैण्ड में और फिर अमेरिका में छपा। भारत में उसका प्रकाशन 2000 में हुआ। पहला खण्ड है *द अनकंट्रोलैबिलिटी ऑफ़ कैपिटल ऐंड इट्स क्रिटिक* जिसमें वे पूँजी की अराजकता का विश्लेषण करते हैं। दूसरा खण्ड *कनफ्रंटिंग द स्ट्रक्चरल क्राइसिस ऑफ़ द कैपिटल सिस्टम* है जिसमें वे पूँजी के वर्तमान संरचनात्मक

संकट को व्याख्यायित करते हैं। मेस्ज़ारोस के अर्थशास्त्र संबंधी लेखन को पढ़ते हुए यह ध्यान रखना पड़ता है कि उनका मूल क्षेत्र दर्शन है और इस क्षेत्र की ओर उनका आना वर्तमान समस्याओं को समझने-समझाने के क्रम में हुआ है। मेस्ज़ारोस की दूसरी महत्वपूर्ण किताब *द चैलेंज ऐंड बर्डेन ऑफ़ हिस्टोरिकल टाइम* है। इस किताब का उपशीर्षक *सोशलिज़्म इन ट्वेंटी फ़र्स्ट सेंचुरी* है। भूमिका जान बेलामी फ़ॉस्टर ने लिखी है जिसमें वे बताते हैं कि मेस्ज़ारोस की सैद्धांतिक अंतर्दृष्टि आज लैटिन अमेरिकी देशों में जारी परिवर्तन के नायकों की वजह से एक भौतिक शक्ति में बदल चुकी है। वेनेजुएला के पूर्व राष्ट्रपति ह्यूगो शावेज द्वारा उनकी खुलेआम प्रशंसा को अनेक अखबारों और पत्रिकाओं ने प्रमुखता से प्रकाशित किया। मेस्ज़ारोस प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिंतक ग्योर्गी लूकाच के शिष्य रहे। 1956 में रूसी आक्रमण के बाद उन्होंने हंगरी छोड़ दिया और अमेरिका में दर्शन के प्रोफ़ेसर बने और मार्क्स, लूकाच और सार्त्र पर किताबें लिखीं। 1971 के इर्द-गिर्द उन्होंने पूँजी के वैश्विक संकट का सवाल उठाया तथा दर्शन संबंधी काम को किनारे करके इस विषय पर लिखना शुरू किया।

फ़ॉस्टर ने उनके सैद्धांतिक अवदान की चर्चा करते हुए उनके द्वारा प्रयुक्त पदों की नवीनता का ज़िक्र किया है। उनमें से कुछेक का ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। एक अन्य धारणा पूँजी की चरम सीमाओं की सक्रियता है जो वर्तमान संकट का बड़ा कारण है। वे मेस्ज़ारोस द्वारा सोवियत संघ को एक ऐसा उत्तर-पूँजीवादी समाज मानने को भी उनका योगदान मानते हैं जो पूँजी की सम्पूर्ण व्यवस्था ख़त्म न कर सका। मेस्ज़ारोस ने ऐसा किसी ज़िम्मेदारी से पीछा छुड़ाने के लिए नहीं बल्कि बेहतर समाजवाद के निर्माण का कार्यभार स्पष्ट करने के लिए किया है। फ़ॉस्टर की निगाह में मेस्ज़ारोस का एक योगदान यह भी है कि वे पूँजी के पूरी तरह से ख़ात्मे की ऐतिहासिक स्थितियों का विवरण देते हैं और सामाजिक अवयव के नियंत्रण की वैकल्पिक व्यवस्था प्रस्तावित करते हैं जिसकी जड़ें तात्त्विक समानता में होंगी। भूमिका में कहा गया है कि मेस्ज़ारोस की किताब मार्क्सवादी आलोचना के सीमांतों का विस्तार करती है। इसमें मानव मुक्ति की मज़बूत स्त्रीवादी और पर्यावरणिक धारणाओं को पूँजी की सत्ता के निषेध का अविभाज्य घटक बनाया गया है।

मेस्ज़ारोस पूँजीवाद (कैपिटलिज़्म) के बजाय पूँजी (कैपिटल) शब्द का प्रयोग बेहतर समझते हैं और दोनों के बीच फ़र्क़ बताने के लिए कहते हैं कि मार्क्स ने अपने ग्रंथ का नाम पूँजी यूँ ही नहीं रखा था। *बियांड कैपिटल* की भूमिका में उन्होंने बूज़र्वा नेताओं, खासकर माग़रिट थैचर द्वारा टिना (देयर इज़ नो अल्टरनेटिव) तथा उन्हीं नेताओं द्वारा राजनीति को 'आर्ट ऑफ़ पॉसिबल' बताने के बीच निहित





इस्तवान मेस्ज़ारोस (बियांड कैपिटल : टुवर्ड्स अ थियरी आफ ट्रांजीशन )

अंतर्विरोध को रेखांकित किया है। इसी भूमिका में उन्होंने किताब के शीर्षक के तीन अर्थ बताये हैं : पहला, मार्क्स ने खुद ही पूँजी लिखते हुए इसका मतलब स्पष्ट किया था जिसका अर्थ है सिर्फ पूँजीवाद के परे नहीं बल्कि पूँजी के ही परे जाना। दूसरा, मार्क्स द्वारा पूँजी के पहले खण्ड और उनकी मृत्यु के बाद प्रकाशित शेष दो खण्डों तथा *गुंडरिज़* और *थियरीज ऑफ सरप्लस वैल्यू* के भी परे जाना क्योंकि ये सभी उनकी मूल परियोजना के शुरुआती दौर तक ही पहुँचे थे और उनके प्रस्तावित काम को पूरी तरह प्रतिबिम्बित नहीं करते। तीसरा : मार्क्सिय परियोजना के भी परे जाना क्योंकि यह उन्नीसवीं सदी के माल उत्पादक समाज के वैश्विक उत्थान की परिस्थितियों को ही व्यक्त करती है और बीसवीं सदी में उसका जो रूप उभर कर सामने आया वह उनके सैद्धांतिक विश्लेषण से बाहर रहा।

मेस्ज़ारोस के अनुसार पूँजीवाद पूँजी की मौजूदगी का महज़ एक रूप है। पूँजीवाद के खात्मे के साथ ही पूँजी का अंत नहीं होता। इसे समाजवाद के लिए संघर्ष से जोड़ते हुए वे कहते हैं कि समाजवाद का काम पूँजी के प्रभुत्व का खात्मा करना है। इस प्रभुत्व को व्यक्त करने के लिए वे इसे सोशल मेटाबोलिक रिप्रोडक्शन की व्यवस्था कहते हैं जिसका मतलब ऐसी व्यवस्था है जो सामाजिक रूप से चयापचय की ऐसी प्रणाली बना लेती है जो अपने आप इसका पुनरुत्पादन करती रहे। इसे ही वे मार्क्स द्वारा प्रयुक्त पद आवयविक प्रणाली (आर्गनिक सिस्टम) कहते हैं। पूँजी का यह प्रभुत्व मेस्ज़ारोस के मुताबिक महज़ पिछली तीन सदियों के दौरान

सामान्य माल उत्पादन की व्यवस्था के रूप में सामने आया है। इसने मनुष्य को अनिवार्य श्रम शक्ति के बतौर महज़ उत्पादन की लागत में बदल कर जिंदा श्रमिक को भी विक्रेय माल बना दिया है। मनुष्यों में आपस में अथवा प्रकृति के साथ उसकी उत्पादक अंतःक्रिया के पुराने रूप उत्पादन की ओर लक्षित होते थे जिसमें कुछ हद तक आत्मनिर्भरता होती थी लेकिन पूँजी का आंतरिक तर्क किसी भी मात्रा में न समा सकने वाली मानव आवश्यकताओं तक महदूद नहीं रह सकता था। अंत में पूँजीवाद ने आत्मनिर्भरता के इसी आधार का नाश करके उपयोग को गणनीय और अनंत विनिमय मूल्य की पूजा परक अपरिहार्यता के अधीन कर दिया। इसने अपने आपको ऐसी लौह प्रणाली के रूप में पेश किया जिससे पार पाना सम्भव नहीं दिखाई देता। लेकिन पूँजीवाद की जिंदगी ही अबाध विस्तार की जरूरतों को अनिवार्यतः पूरा करने पर निर्भर है जिसके कारण इसके सामने अनेक ऐतिहासिक सीमाएँ प्रकट होती हैं। इन्हीं सीमाओं को ध्यान में रखते हुए बीसवीं सदी में इसकी अतृप्त लिप्सा पर रोक लगाने की असफल कोशिशों की गयीं। इनसे बस एक तरह का मिश्रण ही हो सका कोई संरचनागत समाधान नहीं निकला। पूँजी लगातार संकटों में ही फँसती गयी और इन अवरोधों से उसके अनेक अंतर्विरोध भी सामने आये।

मेस्ज़ारोस के मुताबिक पूँजीवाद मूलतः विस्तारोन्मुखी और संचयवृत्तियुक्त होता है इसलिए मनुष्य की जरूरतों को संतुष्ट करना इसका ध्येय ही नहीं होता। इसमें पूँजी का विस्तार अपने आप में एक मकसद हो जाता है और इसलिए इस व्यवस्था का निरंतर पुनरुत्पादन इसकी मजबूरी बन जाती है। श्रम से इसकी शत्रुता जन्मजात होती है और निर्णय की प्रक्रिया में श्रमिक की कोई भागीदारी इसके लिए असह्य होती है। चूँकि यह शत्रुता संरचनागत है इसलिए इस व्यवस्था में सुधार या इस पर कोई नियंत्रण असम्भव है। सुधारवाद के अंत ने सीधे समाजवाद के लिए क्रांतिकारी आक्रामकता का रास्ता खोल दिया है। सुधारवाद की राजनीति प्रमुख रूप से बूर्ज्वा संसदीय सीमाओं के भीतर चलती थी इसलिए इसका एक मतलब संसद के बाहर क्रांतिकारी सक्रियता को बढ़ाना भी है।

मेस्ज़ारोस के विचार से पूँजी की व्यवस्था में तीन अंतर्विरोध मौजूद होते हैं : उत्पादन और उसके नियंत्रण के बीच, उत्पादन और उपभोग के बीच, तथा उत्पादन और उत्पादित वस्तुओं के वितरण के बीच। इन अंतर्विरोधों के कारण विघटनकारी और केंद्रापसारी वृत्ति इसका गुण होती है। इसी वृत्ति को क्राबू में रखने के लिए राष्ट्र-राज्य की संस्था खोजी गयी लेकिन वह भी इसे नियंत्रित करने में असफल ही रही है। सच तो यह है कि अपनी शुरुआत से ही यह व्यवस्था वैश्विक रही है। इसे पूरी तरह से खत्म करने के लक्ष्य का

पहला चरण पूँजीवाद को पराजित करना है। उनका कहना है कि जिन क्रांतियों को समाजवादी कहा गया वे दरअसल इसी काम को पूरा कर सकी थीं। वे केवल उत्तर पूँजीवादी समाज की ही रचना कर सकी थीं जिसे समाजवाद की ओर जाना था लेकिन इसे ही समाजवादी क्रांति मान लेने से समाजवादी कार्यभार शुरू ही नहीं हो सका।

इस खण्ड के पहले ही अध्याय में वे कहते हैं कि हीगेल की आलोचनात्मक धार को फिर से अर्जित किया जाना चाहिए। अपने जीवन में ही हीगेल सत्ता के लिए असुविधाजनक हो गये थे, मरने के बाद तो उन्हें व्यावहारिक रूप से दफ़ना ही दिया गया। इसके लिए वे कहते हैं कि हीगेल की महान उपलब्धियों को ग्रहण करते हुए भी पूँजी को अनादि-अनंत की तरह पेश करने के उनके काम की क्रांतिकारी आलोचना करनी होगी। मार्क्स की धारणाओं को समझने के लिए हीगेल की पुनः प्रतिष्ठा की इस कोशिश की वे तीन वजहें बताते हैं। पहली कि 1840 के दशक में मार्क्स के बौद्धिक निर्माण के समय की राजनीतिक और दार्शनिक बहसों के कारण ऐसा करना अपरिहार्य है। असल में 1841 में बर्लिन विश्वविद्यालय में मार्क्स और किर्केगाद ने साथ-साथ शेलिंग के हीगेल विरोधी व्याख्यान सुने लेकिन दोनों ने राह अलग-अलग अपनायी। उस समय का माहौल ही ऐसा था कि आपको हीगेल के समर्थन या विरोध में खड़ा होना ही पड़ता। दूसरी वजह उनके अनुसार यह है कि जर्मन बूर्ज्वा द्वारा हीगेल को पूरी तरह से खत्म कर देने की कोशिश के मद्देनजर उनकी उपलब्धियों को विकसित करना ज़रूरी था। हीगेल का समर्थन करते हुए भी मार्क्स ने उनकी समस्याओं को समझा और उसका आलोचनात्मक सार सुरक्षित रखते हुए भी उसका क्रांतिकारी परिवर्तन के लिए सकारात्मक निषेध किया। मजेदार बात यह है कि पूँजीवाद ने ही हीगेल को स्थापित किया था और ज़रूरत खत्म हो जाने पर उन्हें दफ़ना दिया। इसी तरह समाजवादी आंदोलन का भी हीगेल के उतार-चढ़ाव से गहरा रिश्ता रहा है। बर्नस्टाइन के नेतृत्व में हीगेल के द्वंद्ववाद के मुक्राबले कांट के विधेयवाद का उत्थान हुआ और दूसरे इंटरनैशनल के सामाजिक जनवाद की राजनीति के पतन तक इसका बोलबाला रहा। असल में हीगेल का दर्शन मूलतः महत्तर सामाजिक टकरावों के बीच विकसित हुआ था और बाद के दिनों में हीगेल के अनुदारवादी समायोजनों के बावजूद संक्रमण की गतिमयता के निशान कभी खत्म नहीं किये जा सके। तीसरी वजह यह है कि वास्तव में 1848 के क्रांतिकारी माहौल में हीगेल बूर्ज्वा वर्ग के लिए लज्जा का विषय हो गये थे और मार्क्सवाद तथा उनके दर्शन के बीच सूत्रों पर परदा डालना सम्भव नहीं रह गया था।

बाद के चिंतकों में मेस्ज़ारोस लुकाच की इसीलिए प्रशंसा करते हैं क्योंकि उन्होंने हीगेल को अपनाने की

कोशिश की थी। लुकाच की प्रासंगिकता मेस्ज़ारोस के मुताबिक इसलिए भी बढ़ गयी है, क्योंकि सोवियत संघ के बीसवीं सदी में उभरे अंतर्विरोधों के कारण इसकी आलोचनाओं को दोबारा गम्भीरता से देखने की ज़रूरत पड़ी है। इस नाते उन्हें लुकाच की रचना *हिस्ट्री ऐंड क्लास कांशसनेस* ऐसा काम लगता है जो सोवियत संघ के जन्म के साथ जुड़ी ऐतिहासिक परिस्थितियों और बाद में हुए राजनीतिक बौद्धिक विकासों के मामले में उसकी समस्याओं की निशानदेही करता है। मेस्ज़ारोस के अनुसार इस किताब की चर्चा के प्रमुख कारण इस प्रकार हैं :

पहला, पहली समाजवादी क्रांति जंजीर की सबसे कमज़ोर कड़ी में हुई। इससे अनेक सैद्धांतिक सवाल जुड़े हुए हैं। आधिकारिक सोवियत साहित्य में इसे सकारात्मक अर्थ में पेश किया जाता है जबकि लुकाच ने इस शब्दावली का प्रयोग रूस के समाजार्थिक ढाँचे के अत्यधिक पिछड़ेपन पर जोर देने के लिए किया। ध्यातव्य है कि सोवियत समाज की बाद में सामने आने वाली ज़्यादातर समस्याओं की जड़ें रूस के इन हालात में देखी जा सकती हैं। यहाँ हमें क्रांति के बाद उपजे समाज के अंतर्विरोधों और उसके दार्शनिक सूत्रीकरण के बीच जीवंत संबंध की पहचान मिलती है। दूसरी, चूँकि लुकाच पश्चिम की असफल क्रांतियों में से एक के भागीदार रहे थे इसलिए इस किताब में अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी क्रांति की गारंटी करने वाले तत्त्वों की तलाश मिलती है। तीसरी, हंगरी की क्रांति की विफलता से उन्होंने कुछेक निष्कर्ष निकाले थे जिनमें पार्टी का नौकरशाहीकरण एक मुद्दा था, हालाँकि उन्होंने इसे सिर्फ़ नेतृत्व की मसीहाई भाषा में चिह्नित किया लेकिन बाद में रूस में आयी विकृतियों के प्रसंग में इसका महत्त्व स्पष्ट हुआ। चौथी, उन्होंने रूसी क्रांति के प्रभाव से बूर्ज्वा बुद्धिजीवियों के कम्युनिस्ट आंदोलन में आगमन से पैदा होने वाली समस्याओं को भी उठाया। ये लोग अपने साथ अपना एजेंडा और मक्रसद लेकर आये थे। हालाँकि बाद में इस बिंदु पर अतिरिक्त जोर देकर पश्चिमी मार्क्सवाद की कोटि भी निर्मित की गयी लेकिन उसका उद्देश्य लुकाच जैसे बुद्धिजीवियों को मार्क्सवाद से बाहर साबित करके उनके प्रयासों का फ़ातिहा पढ़ना था।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी

समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख्तिन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैंसिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. इस्तवान मेस्ज़ारोस (2000), *बियांड कैपिटल*, खण्ड 1 और 2, के.पी. बागची, कोलकाता।
2. इस्तवान मेस्ज़ारोस (2009), *द चैलेंज ऐंड बर्डेन ऑफ हिस्टारिकल टाइम*, आकार बुक्स, नयी दिल्ली।

— गोपाल प्रधान

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-5

(पूँजी के परे : राज्य का अतिक्रमण)

(Discourse of Marxism  
in New Century-5)

इस्तवान मेस्ज़ारोस ने नव-सामाजिक आंदोलनों का परिप्रेक्ष्य भी उठाया है। पर्यावरण आंदोलन के संदर्भ में वे बताते हैं कि पूँजीवादी विकास के शुरुआती दिनों में उसके अनेक नकारात्मक पहलुओं और प्रवृत्तियों को थोड़ा अनदेखा किया जा सकता था। लेकिन आज उनकी अनदेखी धरती के विनाश की क्रम पर ही सम्भव है। इसी पृष्ठभूमि में तमाम तरह के पर्यावरणवादी आंदोलन उभरे। पूँजीवादी देशों में सुधारोन्मुख ग्रीन पार्टियों के रूप में ये आंदोलन राजनीति में भी जगह बनाने की कोशिश करते हैं। वे पर्यावरण के विनाश से चिंतित व्यक्तियों को आकर्षित करते हैं लेकिन इसके समाजार्थिक कारणों को अपरिभाषित छोड़ देते हैं। ऐसा उन्होंने शायद व्यापक चुनावी आधार बनाने के लिए किया लेकिन आरम्भिक सफलता के बाद जिस तेज़ी से वे हाशिये पर पहुँच गयीं। उससे साबित होता है कि पर्यावरण के विनाश के कारण इन पार्टियों के नेताओं के आकलन से कहीं अधिक गहरे हैं। असल में आज न केवल विकास के साथ जुड़े हुए ख़तरे अभूतपूर्व रूप से बढ़ गये हैं बल्कि विश्व-पूँजी की व्यवस्था के अंतर्विरोध भी पूरी तरह से परिपक्व हो गये हैं और ये ख़तरे समूची धरती को इस तरह अपनी ज़द में ले चुके हैं कि उनका कोई आंशिक समाधान सोचना सम्भव नहीं रह गया है।

जिस नयी धारणा की चर्चा मेज़ारोस ने पूँजी की चरम सीमाओं की सक्रियता के नाम से की है उससे संबंधित अध्याय में वे पूँजी के वर्तमान संकट के प्रसंग में चार मुद्दों पर बात करना ज़रूरी समझते हैं जिन्हें वे एक दूसरे से अलग नहीं मानते, बल्कि कहते हैं कि उनमें से हरेक बड़े अंतर्विरोधों का केंद्र बिंदु है लेकिन ये सभी मिलकर ही एक-दूसरे की मारकता को भीषण बना देते हैं। भूमण्डलीय पूँजी और राष्ट्र-राज्य की सीमाओं के बीच का विरोध कम से कम तीन बुनियादी अंतर्विरोधों से जुड़ा हुआ है— इजारेदारी और प्रतियोगिता के बीच, श्रम की प्रक्रिया के अधिकाधिक समाजीकरण और उसके उत्पाद के भेदभावपरक अधिग्रहण के बीच तथा अबाध रूप से बढ़ते वैश्विक श्रम-विभाजन और असमान रूप से विकासशील पूँजी की वैश्विक व्यवस्था के निरंतर बदलते शक्ति-केंद्रों द्वारा प्रभुता स्थापित करने की कोशिशों के बीच। इन सबसे मिलकर पैदा हुई बेरोज़गारी की समस्या ने विश्व-पूँजी व्यवस्था के अंतर्विरोधों और शत्रुताओं को सर्वाधिक विस्फोटक रूप दे दिया है।

पहले खण्ड के तेरहवें अध्याय में वे राज्य को उखाड़ फेंकने के समाजवादी कार्यभार के प्रसंग में राज्य के बारे में मार्क्स के राजनीतिक सिद्धांत के मुख्य तत्त्वों को बिंदुवार बताते हैं। यह वर्णन बहुत कुछ पूर्व समाजवादी शासनों के कटु अनुभवों से प्रभावित है।

पहला, समूचे समाज के क्रांतिकारी रूपांतरण के ज़रिये राज्य का अतिक्रमण करना होगा न कि किसी सरकारी आदेश या तमाम राजनीतिक / प्रशासनिक उपायों के ज़रिये इसे उखाड़ा जाएगा। दूसरा, आगामी क्रांति को अगर समाजार्थिक शोषण की सीमाओं में ही क़ैद होकर नहीं रह जाना है तो उसे केवल राजनीतिक होने के बजाय सामाजिक क्रांति होना होगा। तीसरा, अतीत की राजनीतिक क्रांतियों ने आंशिकता और सार्विकता के बीच जिस अंतर्विरोध को पैदा किया था तथा नागर समाज के प्रभावी तबकों के पक्ष में सामाजिक सार्विकता को राजनीतिक आंशिकता के अधीन कर दिया था सामाजिक क्रांति उस अंतर्विरोध को ही ख़त्म कर देती है। चौथा, मुक्ति का सामाजिक अभिकर्ता सर्वहारा इसीलिए होता है क्योंकि पूँजीवादी समाज के शत्रुतापूर्ण अंतर्विरोधों की परिपक्वता के कारण वह सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेंकने के किये बाध्य होता है और वह अपने आपको समाज पर नयी शासक आंशिकता के रूप में थोपने में अक्षम होता है। पाँचवाँ, राजनीतिक और सामाजिक/आर्थिक संघर्ष द्वंद्वत्मक रूप से एकताबद्ध होते हैं और इसीलिए सामाजिक/ आर्थिक पहलू की उपेक्षा राजनीतिक पहलू को उसके यथार्थ से वंचित कर देती है। छठा, समाजवादी क्रदमों के लिए वस्तुगत परिस्थितियों की ग़ैर मौजूदगी में राजनीतिक सत्ता पर अपरिपक्व अवस्था में

क्रब्जा हो जाने पर नये शासक विरोधी की ही नीतियों को लागू करने लगते हैं। सातवाँ, कोई भी सफल सामाजिक क्रांति स्थानीय या राष्ट्रीय ही नहीं होगी। राजनीतिक क्रांति ही अपनी आंशिकता के नतीजतन इन सीमाओं तक महदूद रह सकती है। इसके विपरीत उसे वैश्विक होना होगा यानी राज्य का अतिक्रमण भी वैश्विक स्तर पर करना होगा।

किताब का दूसरा खण्ड ज्यादा मजेदार है जिसमें वे पूँजीवाद के मिथकों को एक-एक कर ध्वस्त करते हैं। इसमें कुछ ऐसे लेख भी संकलित हैं जो हालिया प्रश्नों को लेकर लिखे गये हैं। इसका पहला अध्याय सम्पदा के उत्पादन तथा उत्पादन की समृद्धि का विवेचन करता है। इसमें वे वास्तविक जरूरतों की अनदेखी करके उत्पादन में बढ़ोतरी करने की पूँजीवादी रिवायत के मुकाबले जरूरतों की दृष्टि से मनुष्य की उत्पादक क्षमताओं के विकास का वैकल्पिक नजरिया अपनाने की सलाह देते हैं। वजह यह है कि जरूरत और सम्पदा-उत्पादन में संबंध विच्छेद विकसित और सुविधा सम्पन्न पूँजीवादी देशों में भी नहीं चल पा रहा है। उत्पादन का वर्तमान उद्देश्य जैसा है वैसा ही सदा से नहीं रहा— इस बात के समर्थन में वे मार्क्स को उद्धृत करते हैं जिनके मुताबिक प्राचीन काल में उत्पादन का लक्ष्य सम्पदा बटोरना नहीं था, बल्कि मानव जीवन उत्पादन का लक्ष्य था। वह स्थिति आज के विपरीत थी जब मानव जीवन का उद्देश्य उत्पादन हो गया है और उत्पादन का लक्ष्य सम्पदा हो गयी है। इस बदलाव के लिए उपयोग मूल्य को विनिमय मूल्य से अलगाना और उसके अधीन लाना जरूरी था। मेस्ज़ारोस सम्पदा के उत्पादन के बरक्स उत्पादन की समृद्धि पर जोर देते हैं। इसके बाद वे बताते हैं कि पूँजीवाद असल में बर्बादी को बढ़ावा देता है। इसका उदाहरण यूज़ ऐंड थ्रो की संस्कृति है। अब टिकाऊ चीजों को बनाना उसका लक्ष्य नहीं रह गया है। यहाँ तक कि गुणवत्ता वाली चीजें बनाने के मुकाबले उसका जोर उत्पादन की मात्रा पर होता है। मेस्ज़ारोस के अनुसार पूँजीवाद उपयोग में निरंतर गिरावट को जन्म देता है। उपयोग की घटती हुई दर पूँजीवादी उत्पादन और उपभोग के सभी बुनियादी पहलुओं, वस्तुओं और सेवाओं, कारखाना और मशीनरी तथा श्रम शक्ति पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। इसका ज्वलंत उदाहरण सैन्य औद्योगिक परिक्षेत्र है।

मार्क्स ने कहा था कि पूँजी जीवंत अंतर्विरोध है इसलिए हमें इसके साथ जुड़ी किसी भी प्रवृत्ति पर सोचते समय उसकी विपरीत प्रवृत्ति को भी ध्यान में रखना चाहिए। मसलन पूँजी की एकाधिकारी प्रवृत्ति का विरोध प्रतियोगिता से होता है, केंद्रीकरण का विरोध बिखराव से, अंतर्राष्ट्रीकरण का राष्ट्रवाद और क्षेत्रीय विशिष्टता से तथा संतुलन का विरोध संतुलन-भंग से होता है। यह भी दिमाग में रखना होगा कि पूँजी की व्यवस्था का विकास असमान होता है इसलिए ये

सभी प्रवृत्तियाँ और प्रति-प्रवृत्तियाँ एक साथ सभी देशों में नहीं भी प्रकट हो सकती हैं।

पूँजीवाद ने एक समय मुक्त प्रतियोगिता से जन्म लिया था लेकिन प्रतियोगिता के विध्वंसक होने पर उसे संगठित पूँजीवाद की शक्ति दी गयी। इसका अर्थ संकट का खात्मा नहीं था लेकिन यह बदलाव कुछ मार्क्सवादी विचारकों में भ्रम फैलाने में कामयाब रहा। फ्रैंकफर्ट स्कूल के विचारकों ने इसे ही एक नयी संरचना मान लिया और मजदूरों को समाहित कर लेने की व्यवस्था की क्षमता को बढ़ा-चढ़ाकर आँकने लगे।

मार्क्स की पूँजी संबंधी समूची परियोजना की एक झलक देने के लिए मेस्ज़ारोस *गुंडरिसे* से एक लम्बा उद्धरण देते हैं जिसके मुताबिक बूर्ज्वा समाज उत्पादन का सबसे विकसित और सबसे जटिल ऐतिहासिक संगठन है। जिन कोटियों के जरिये इसके रिश्तों को व्यक्त किया जाता है, इसकी संरचना को समझा जाता है, वे उन सभी लुप्तप्राय समाजों की संरचनाओं और उत्पादन संबंधों को समझने की अंतर्दृष्टि प्रदान करती हैं जिनके ध्वंसावशेषों और तत्वों से यह निर्मित हुआ है, और जिनके कुछेक अविजित अवशेष अब भी इसके साथ लगे-लिपटे हुए हैं, जिनके छिपे मानी इसमें पूरी तरह प्रकट हुए हैं। इसके आधार पर वे नतीजा निकालते हैं कि मार्क्स का इरादा सिर्फ पूँजीवादी उत्पादन की कमियों की गणना करना नहीं था। वे मानव समाज को उन परिस्थितियों से बाहर निकालना चाहते थे जिनमें मनुष्य की जरूरतों की संतुष्टि को पूँजी के उत्पादन के अधीन कर दिया गया था।

किताब के तक्ररीबन अंत में मेस्ज़ारोस ने लिखा है कि वर्तमान दौर समाजवाद के लिए रक्षात्मक के बजाय आक्रामक रणनीति का है। इस दौर की शुरुआत की बात करते हुए इसे वे पूँजी के संरचनागत संकट से जोड़ते हैं और इस संकट के लक्षण गिनाते हुए बताते हैं कि यह सार्वभौमिक है, उत्पादन की किसी विशेष शाखा तक महदूद नहीं है। इसका प्रभाव क्षेत्र सचमुच भूमण्डलीय है, किसी देश विशेष तक सीमित नहीं है। यह दीर्घकालीन, निरंतर, स्थायी है, पहले के संकटों की तरह चक्रीय नहीं है। इसका प्रकटीकरण रेंगने की गति से हो रहा है, नाटकीय विस्फोट की तरह नहीं। वे इसकी शुरुआत 1960 दशक के अंत से मानते हुए तीन घटनाओं का उल्लेख करते हैं जिनमें यह संकट फूट पड़ा था : वियतनाम युद्ध में पराजय के साथ अमेरिकी प्रत्यक्ष आक्रामक दखलंदाजी का खात्मा और मई, 1968 में फ्रांस और अन्य विकसित पूँजीवादी केंद्रों में लोगों का व्यवस्था के प्रति विक्षोभ का प्रकटीकरण। चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड जैसे उत्तर औद्योगिक मुल्कों में सुधार की कोशिशों का दमन जिनके जरिये पूँजी के संरचनागत संकट की सम्पूर्णता का अंदाजा लगा।

मेस्ज़ारोस का कहना है कि इन घटनाओं के जरिये उन परिघटनाओं का पता चलता है जो तब से आज तक की तमाम घटनाओं के पीछे कार्यरत रही हैं। उनके अनुसार महानगरीय या विकसित पूँजीवादी देशों के अल्पविकसित देशों के साथ शोषण के संबंध एकतरफ़ा तौर पर निर्धारित होने के बजाय परस्पर निर्भरता से संचालित होने लगे। पश्चिमी पूँजीवादी देशों के अंदरूनी और आपसी अंतर्विरोध और समस्याओं का उभार तेज़ हो गया। वस्तुतः मौजूदा समाजवाद के उत्तर औद्योगिक देशों और समाजों के संकट आपसी विवादों के जरिये प्रकट होने लगे।

समाजवादी आक्रामकता के दौर की राजनीतिक कार्रवाई के लिहाज़ से वे कहते हैं कि अर्थतंत्र की पुनर्संरचना तक अपने आपको सीमित रखने की रणनीति पर दोबारा सोचना चाहिए और उसकी जगह वर्तमान संदर्भ में राजनीति के क्रांतिकारी पुनर्गठन के कार्यभार पर बल देना चाहिए। इस लिहाज़ से गैर-संसदीय कार्रवाई का अपार महत्त्व है। सच्ची समाजवादी आर्थिक पुनर्संरचना की अनिवार्य पूर्वशर्त राजनीति का जनोन्मुखी पुनर्गठन है।

मेस्ज़ारोस का कहना है कि मार्क्स ने पूँजी के दो मूल्य बताये थे- उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य। पूँजीवाद असल में विनिमय मूल्य की प्रभुता से जुड़ा हुआ है। जबकि मनुष्य की ज़रूरतें उपयोग मूल्य से जुड़ी हुई हैं इसलिए लेन-देन के क्षेत्र में उपयोग मूल्य के विस्तार से पूँजीवाद कमज़ोर होता है। इसी तत्त्व को लेबोविटज़ लैटिन अमेरिकी देशों के समाजवादी प्रयोगों में फलीभूत होता हुआ पाते हैं और इसी को वे इक्कीसवीं सदी के समाजवाद की संज्ञा देते हैं जो बीसवीं सदी के प्रयोगों से भिन्न है। यही तर्क बहुत कुछ जिज़ैक का भी है जो 'अकुपाई वाल स्ट्रीट' आंदोलन के बाद खासे चर्चित हुए हैं। वे पूँजी के वर्तमान संकट का कारण विनिमय मूल्य की बेलगाम बढ़ोतरी में देखते हैं।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि रणधीर सिंह द्वारा अपनी किताब मेस्ज़ारोस को समर्पित करने के बावजूद मेस्ज़ारोस से उनके सैद्धांतिक विरोध सतही नहीं बल्कि बहुत कुछ बुनियादी हैं। इसकी जड़ दोनों के अनुभव की दुनिया अलग होने में निहित है। रणधीर सिंह तीसरी दुनिया के एक देश में समाजवादी आंदोलन के विकास से जुड़े हुए हैं और यह चीज़ उनकी सैद्धांतिकी को ठोस ज़मीन देती है जबकि मेस्ज़ारोस के लेखन में अमेरिका में उनकी रिहायश और 1956 में हंगरी पर सोवियत हमले की अनुगूँजें सुनी जा सकती हैं।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय

कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैंसिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. इस्तवान मेस्ज़ारोस (2000), *बियॉन्ड कैपिटल*, खण्ड 1 और 2, के.पी. बागची, कोलकाता.
2. इस्तवान मेस्ज़ारोस (2009), *द चैलेंज ऐंड बर्डेन ऑफ़ हिस्टोरिकल टाइम*, आकार बुक्स, नयी दिल्ली.

— गोपाल प्रधान

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-6

(पूँजी को कैसे पढ़ें : डेविड हार्वे)

(Discourse of Marxism  
in New Century-6)

डेविड हार्वे की किताब *अ कम्पैनिन टु मार्क्सज़ कैपिटल* (2010) नयी सदी के मार्क्सवादी विमर्श का एक अहम नुक्रता है। डेविड हार्वे मूलतः भूगोलवेत्ता हैं। शहरों के अध्ययन के क्रम में उन्होंने मार्क्सवाद का व्यवस्थित अध्ययन किया। वे पूँजी पर हर साल अनौपचारिक व्याख्यान देते रहे हैं। किताब में पूँजी के सिर्फ़ पहले खण्ड का सांगोपांग अध्ययन किया गया है। शायद इसके पीछे यह आग्रह भी रहा हो कि मार्क्स चूँकि पहला खण्ड ही अपने जीवन में पूरा कर सके थे इसलिए उसी में उनकी अंतर्दृष्टि सबसे प्रामाणिक रूप से व्यक्त हुई होगी। हार्वे सबसे पहले प्रथम वाक्य की ओर ध्यान खींचते हैं कि इस वाक्य में दो बार 'प्रकट' शब्द आता है। एक बार यह कि जिन समाजों में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली व्याप्त है वहाँ सामाजिक सम्पदा मालों (पण्यों या कमोडिटीज़) के विशाल संचय के रूप में प्रकट होती है और



डेविड हार्वे (अ कम्पैनिन टु मार्क्सवादी कैपिटल)

दूसरी बार यह कि एक माल उसके प्राथमिक रूप के बतौर प्रकट होता है। हार्वे का जोर इस बात पर है कि दोनों बार प्रकट होने का अर्थ एक ही नहीं है। यह शब्द मार्क्स की पूरी किताब में अनेक बार आया है जिसका मतलब है कि उनके मुताबिक जो ऊपर से दिखाई दे रहा है उसके नीचे कुछ चल रहा है जो असली है। दूसरी बात यह कि मार्क्स सिर्फ पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली पर विचार करना चाहते हैं।

हार्वे के अनुसार पूँजी ऐसी किताब है जिसमें दार्शनिकों, अर्थशास्त्रियों, नृतत्वशास्त्रियों, पत्रकारों और राजनीति-विज्ञानियों के साथ ही तमाम साहित्यकार, परीकथाएँ और मिथक आते रहते हैं। किताब के रूप में इसे पढ़ना अलग तरह का अनुभव है क्योंकि खण्डित उद्धरणों से बृहत्तर तर्क के भीतर उनकी अवस्थिति समझ में नहीं आती। सभी तरह के अनुशासनों में दीक्षित लोग इसमें भिन्न अर्थ निकालते हैं क्योंकि यह पाठक का ध्यान भिन्न क्रिस्म के स्रोतों की ओर ले जाती है। इन स्रोतों को मार्क्स आलोचनात्मक विश्लेषण की धारा से जोड़ते हैं। आलोचनात्मक विश्लेषण का अर्थ पहले के सोच-विचार को एकत्र कर उसे नये ज्ञान में बदल देना है।

हार्वे बताते हैं कि मार्क्स अपनी किताब की समस्याओं के प्रति सचेत थे और भूमिकाओं में उन्होंने इनकी चर्चा की।

फ्रांसीसी संस्करण की भूमिका में उन्होंने स्वीकार किया कि अगर इसे धारावाहिक रूप से छापा जाए तो मजदूर वर्ग के लिए अच्छा होगा लेकिन उन्होंने सावधान भी किया कि इससे पुस्तक की समग्रता को एकबारगी ग्रहण करने में असुविधा होगी। इस किताब में मार्क्स का मकसद राजनीतिक अर्थशास्त्र की आलोचना के जरिये पूँजीवाद की कार्यपद्धति को उद्धाटित करना था। इस लिहाज से उन्होंने दूसरे संस्करण की भूमिका में लिखा कि प्रस्तुति का रूप गवेषणा की पद्धति से अलग होना ही चाहिए। गवेषणा के दौरान विस्तार से सामग्री एकत्र करके उसके विकास के अलग-अलग रूपों का विश्लेषण किया जाता है, उनके आपसी संबंधों की छानबीन की जाती है। इस काम के खत्म होने के बाद ही उस विकास की प्रस्तुति सम्भव होती है। मार्क्स की गवेषणा में यथार्थ की अनुभूति तथा उस अनुभूति का राजनीतिक अर्थशास्त्रियों, दार्शनिकों और उपन्यासकारों द्वारा वर्णन आता है। इसके बाद वे समस्त सामग्री की गहन आलोचना करते हैं, ताकि उस यथार्थ की कार्यपद्धति को स्पष्ट करने वाले कुछ सरल किंतु जोरदार धारणाओं को खोज सकें। आम तौर पर मार्क्स किसी परिघटना को समझने के लिए गहरी धारणाओं के निर्माण के लिए उनके सतही आभास के विश्लेषण से शुरुआत करते हैं। इसके बाद सतह के नीचे उतरकर असल में कार्यरत शक्तियों को उद्धाटित करते हैं।

हार्वे के अनुसार मार्क्स की इस किताब को पढ़ते हुए उनकी धारणाओं को लेकर पहले उलझन होती है कि आखिर ये धारणाएँ आ कहाँ से रही हैं लेकिन धीरे-धीरे आप मूल्य और वस्तु-पूजा जैसी धारणाओं को समझना शुरू कर देते हैं। मार्क्स माल (या पण्य) की धारणा से शुरू करते हैं। उनके लेखन को देखते हुए उम्मीद बनती है कि बात वर्ग-संघर्ष से शुरू होनी चाहिए थी लेकिन तीन सौ पन्नों से पहले इस तरह की कोई बात ही नहीं शुरू होती। खुद मार्क्स पहले मुद्रा से ही शुरू करना चाहते थे लेकिन अध्ययन के बाद उन्हें लगा कि पहले मुद्रा की व्याख्या करना जरूरी है। श्रम से भी तो शुरू कर सकते थे? कुछ क्रागजों से पता चलता है कि बीस-तीस सालों तक वे इस समस्या से जूझते रहे थे कि शुरू कहाँ से करें। अंत में उन्होंने माल से शुरू किया और इसकी कोई वजह भी नहीं बतायी है। मार्क्स ने जिस धारणात्मक औज़ार का निर्माण किया है उसे सिर्फ पूँजी के पहले खण्ड के लिए नहीं बल्कि अपने समूचे विश्लेषण के लिए बनाया है।

हार्वे का सुझाव है कि अगर आप पूँजीवादी उत्पादन पद्धति को समझना चाहते हैं तो तीनों खण्ड देखने होंगे और फिर भी एक बात ध्यान में रखना होगा कि जितनी बातें उनके दिमाग में थीं उनका महज आठवाँ हिस्सा ही वे लिख सके थे। अपनी किताब की पूरी योजना उन्होंने कुछ इस तरह बनायी थी : सामान्य, अमूर्त निर्धारक जो कमोबेश सभी सामाजिक रूपों में लागू होते हैं; वे कोटियाँ जो बूर्जवा समाज

की आंतरिक संरचना की बनावट हैं और जिन पर बुनियादी वर्ग आधारित हैं। जैसे, पूँजी, पगारजीवी श्रम, भू-सम्पदा, उनका अंतस्संबंध, शहर और देहात, तीन बड़े सामाजिक वर्ग, उनके बीच लेन-देन, वितरण, उधारी व्यवस्था (निजी), राज्य के रूप में बूज्वा समाज का संकेंद्रण, उसका अपने साथ संबंध, अनुत्पादक वर्ग, कराधान, सरकारी क्रूर्ज, सार्वजनिक उधारी, जनसंख्या, उपनिवेश, उत्प्रवास; उत्पादन का अंतर्राष्ट्रीय संबंध, अंतर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, अंतर्राष्ट्रीय विनिमय, निर्यात और आयात, विनिमय की दर; विश्व बाजार और संकट।

हार्वे का कहना है कि मार्क्स अपनी इस परियोजना को पूरा नहीं कर सके। इनमें से ज्यादातर की समझदारी पूँजीवादी उत्पादन को समझने के लिए बेहद जरूरी है। पहले खण्ड में मार्क्स पूँजीवादी उत्पादन पद्धति को सिर्फ उत्पादन के जरिये से समझते हैं। दूसरे खण्ड (अपूर्ण) में विनिमय संबंधों का परिप्रेक्ष्य अपनाया गया है। तीसरे खण्ड (अपूर्ण) में पूँजीवाद के बुनियादी अंतर्विरोधों के उत्पाद के बतौर प्रथमतः संकट-निर्माण पर ध्यान केंद्रित किया गया है। उसके बाद ब्याज, वित्त पूँजी पर मुनाफ़ा, ज़मीन का किराया, व्यापारिक पूँजी पर मुनाफ़ा, कराधान आदि के रूप में अधिशेष के वितरण पर विचार किया गया है।

हार्वे का विचार है कि मार्क्स की पद्धति द्वंद्ववादी थी जिसे उनके मुताबिक आर्थिक मुद्दों पर पहले लागू नहीं किया गया था। अब दिक्कत यह है कि अगर आप किसी खास अनुशासन में गहरे धँसे हुए हैं तो सम्भावना ज्यादा इस बात की है कि द्वंद्ववादी पद्धति का इस्तेमाल आपके लिए मुश्किल होगा। द्वंद्ववाद के मुताबिक प्रत्येक वस्तु गति में होती है। मार्क्स भी महज़ श्रम की नहीं बल्कि श्रम की प्रक्रिया की बात करते हैं। पूँजी भी कोई स्थिर वस्तु नहीं बल्कि गतिमान प्रक्रिया है। जब वितरण रुक जाता है तो मूल्य गायब हो जाता है और पूरी व्यवस्था चरमरा जाती है। उनकी किताब में अक्सर वस्तुओं के बजाय उनके आपसी संबंधों का जिक्र दिखाई पड़ता है। आज की तारीख में पूँजी के अध्ययन की एक और समस्या है। पिछले तीस सालों से जो नव-उदारवादी प्रतिक्रांतिकारी धारा विश्व पूँजीवाद के क्षेत्र में प्रबल रही है उसने उन स्थितियों को और मजबूत किया है जिन्हें मार्क्स ने 1850-60 के दशक में इंग्लैण्ड में चिह्नित किया था।

हार्वे बताते हैं कि मालों का व्यापार बाजार में होता है। सवाल खड़ा होता है कि आखिर यह आर्थिक लेन-देन कैसा है। माल मनुष्य के किसी न किसी अभाव, जरूरत या इच्छा को पूरा करता है। यह हमसे बाहर मौजूद कोई वस्तु होती है जिसे हम अधिग्रहीत करते और अपनाते हैं। मार्क्स तुरंत ही घोषित करते हैं कि उन्हें उन जरूरतों की प्रकृति से कोई लेना-देना नहीं, उन्हें इससे भी कोई मतलब नहीं कि ये पेट

से उपजती हैं या दिमाग से। उन्हें सिर्फ इससे मतलब है कि लोग उन्हें खरीदते हैं और इस काम का रिश्ता इस बात से है कि लोग जिंदा कैसे रहते हैं। अब माल तो लाखों हैं जिन्हें मात्रा या गुण के हिसाब से हजारों तरह से वर्गीकृत किया जा सकता है। लेकिन वे इस विविधता को एक किनारे धकेल कर उनको उनके सामान्य गुण में बदलते हैं जिसे वे उपयोगिता के बतौर व्याख्यायित करते हैं। वस्तु का यह उपयोग मूल्य उनके समूचे चिंतन में बेहद महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मार्क्स ने कहा था कि सामाजिक विज्ञानों में प्रयोगशाला की सुविधा न होने से हमें अमूर्तन का सहारा लेना पड़ता है। आप देख सकते हैं कि कैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं के भीतर से उन्होंने अमूर्तन के जरिये उपयोग मूल्य प्राप्त किया। लेकिन जिस तरह के समाज का वर्णन मार्क्स कर रहे थे यानी पूँजीवादी समाज उसमें माल, विनिमय मूल्य के भी भौतिक वाहक होते हैं। हार्वे हमसे वाहक शब्द पर गौर करने को कहते हैं क्योंकि किसी चीज़ का वाहक होना और वही चीज़ होने में फ़र्क है।

हार्वे की व्याख्या है कि जब हम बाजार में विनिमय की प्रक्रिया को देखते हैं तो नाना वस्तुओं के बीच विनिमय की नाना दरें और देश काल की भिन्नता होने से एक ही वस्तु की अलग-अलग विनिमय दरें दिखाई पड़ती हैं। इसलिए पहली नज़र में लगता है कि विनिमय दरें कुछ कुछ सांयोगिक और शुद्ध रूप से सापेक्षिक हैं। इससे प्रकट होता है कि अंतर्निहित मूल्य, यानी ऐसा विनिमय मूल्य जो वस्तु के साथ अभेद्य रूप से जुड़ा हुआ, उसमें अंतर्निहित है, का विचार आत्म-विरोधी प्रतीत होता है। यहाँ आकर वे कहते हैं कि भिन्न-भिन्न वस्तुओं में आपसी विनिमय के लिए जरूरी है कि वे किसी अन्य वस्तु से तुलनीय हों। उपयोग मूल्य के रूप में वस्तुएँ एक दूसरे से गुणात्मक तौर पर अलग होती हैं जबकि विनिमय मूल्य के रूप में उनमें सिर्फ मात्रा का भेद हो सकता है और उपयोग मूल्य का एक कण भी बचा नहीं रहता। वस्तुओं की विनिमेयता उनके उपयोग मूल्य पर निर्भर नहीं होती। सभी वस्तुएँ अपने उत्पादन में लगे मानव श्रम का वाहक होती हैं। हार्वे के मुताबिक मार्क्स मानव श्रम का अमूर्तन करते हुए यह दलील देते हैं कि समाज की समूची श्रम-शक्ति मालों की दुनिया में साकार होती है।

हार्वे का कहना है कि इस धारणा में वैश्विक पूँजीवाद की धारणा शामिल है जिसको मार्क्स ने *कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र* में पूरी तरह से उद्घाटित किया था। आज का वैश्वीकरण तो उनके समय नहीं था लेकिन वे पूँजीवादी उत्पादन पद्धति की विश्वव्यापी उपस्थिति को भविष्य में साकार होता देख रहे थे। इसी के आधार पर उन्होंने मूल्य को सामाजिक रूप से अनिवार्य श्रम-काल के बतौर परिभाषित किया। जिन्होंने रिकार्डों का लेखन देखा है वे समझेंगे कि

मार्क्स सामाजिक रूप से अनिवार्य श्रम-काल की धारणा के अलावा ज्यादातर उन्हीं का अनुसरण कर रहे थे लेकिन यह छोटी-सी बात बहुत बड़ा फ़र्क पैदा कर देती है क्योंकि तुरंत ही सवाल पैदा होता है कि सामाजिक रूप से अनिवार्य क्या है और उसे तय कौन करता है। मार्क्स इसका कोई जवाब तो नहीं देते लेकिन पूरी किताब में यह विषय समाया हुआ है। पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में आखिर कौन सी सामाजिक अनिवार्यताएँ नत्थी हैं? यह हार्वे को बड़ा सवाल लगता है और अनिवार्यताओं के विकल्प खोजने के लिए प्रेरित करता है। मूल्य स्थिर नहीं होता बल्कि तकनीक और उत्पादकता में क्रांति होने पर बदलता रहता है। तकनीक और उत्पादकता के साथ ही वे अन्य कारकों की चर्चा भी करते हैं। इसमें शामिल हैं मजदूरों के कौशल का औसत स्तर, विज्ञान के विकास और उसके तकनीकी प्रयोग का स्तर, उत्पादन प्रक्रिया का सामाजिक संगठन, उत्पादन के साधनों का विस्तार और प्रभाव और प्राकृतिक पर्यावरण की स्थितियाँ शामिल हैं। इनकी गणना करना मार्क्स का मक़सद नहीं है बल्कि वे महज़ इस तथ्य पर जोर देना चाहते हैं कि वस्तु का मूल्य स्थिर नहीं होता वरन् अनेक कारकों से प्रभावित होता रहता है।

हार्वे का ख़याल है कि यहाँ आकर मार्क्स के तर्क में एक पेच पैदा होता है। वे उपयोग मूल्य की ओर दोबारा लौटते हैं और कहते हैं कि मूल्य बने बग़ैर भी किसी वस्तु का उपयोग-मूल्य हो सकता है। हम साँस लेते हैं लेकिन हवा को बोटल में बंद कर अब तक उसे ख़रीद-बेच नहीं सके हैं। वे यह भी जोड़ते हैं कि माल बने बग़ैर भी मानव श्रम का कोई उत्पाद उपयोगी हो सकता है। घरेलू अर्थतंत्र में बहुत कुछ माल उत्पादन से बाहर उत्पादित किया जाता है। इसलिए पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में सिर्फ़ उपयोग मूल्य नहीं बल्कि दूसरों के लिए उपयोग मूल्य का उत्पादित होना ज़रूरी है जिसे बाज़ार की मार्फ़त दूसरों तक पहुँचना होता है। मतलब कि माल में उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य होते हैं लेकिन विनिमय मूल्य में निहित मूल्य के साकार होने के लिए उसमें उपयोग मूल्य का होना ज़रूरी है।

हार्वे के अनुसार मार्क्स उपयोग-मूल्य को दो तत्वों का संश्रय मानते हैं : प्रकृति द्वारा प्रदत्त सामग्री और श्रम। इसलिए मनुष्य जब उत्पादनरत होता है तो प्रकृति के नियमों के अनुसार ही आगे बढ़ सकता है। हार्वे का यह अध्ययन एक हद तक पूँजी के प्रति उस आकर्षण का प्रमाण है जो अनेक आर्थिक और अर्थतर कारणों से पैदा हुआ है।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय

कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सै-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. डेविड हार्वे (2010), *अ कम्पैनिन टु मार्क्सिज़ कैपिटल*, वसों, लंदन-न्यूयॉर्क.
2. जोआन रॉबिंसन (1960), *एन एसे ऑन मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, लंदन, मैकमिलन.
3. पी.एन. जुनानकर (1982), *मार्क्सिज़ इकॉनॉमिक्स*, फ़िलिप एन, डेडिंगटन.

— गोपाल प्रधान

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-7

(आरोपों के आईने में : टेरी ईगलटन)

(Discourse of Marxism  
in New Century-7)

साहित्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र के विद्वान टेरी ईगलटन की किताब *व्हाई मार्क्स वाज़ राइट* मार्क्सवाद के बारे में प्रचारित भ्रमों का सरल-सहज भाषा में खण्डन करती है। ईगलटन सबसे पहले इस आपत्ति पर विचार करते हैं कि मार्क्सवाद औद्योगिक पूँजीवादी समाज की समस्याओं से जुड़ा हुआ था लेकिन अब दुनिया बदल चुकी है इसलिए इस उत्तर-औद्योगिक दुनिया में मार्क्सवाद की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी है। इसका जवाब देते हुए वे कहते हैं कि अगर ऐसा हो जाए तो मार्क्सवादियों से अधिक कोई भी ख़ुश नहीं होगा। मार्क्सवाद तो बहुत कुछ चिकित्सा के पेशे की तरह है जिसका मक़सद अपनी ही ज़रूरत को ख़त्म करना है। मार्क्सवाद को तभी तक रहना है जब तक उसका विरोधी अर्थात् पूँजीवाद है। उनका कहना है कि आज पूँजीवाद ख़त्म होने के बजाय और भी आक्रामक होकर सामने आया है।



जहाँ तक पूँजीवाद का रूप बदलने की बात है— मार्क्स भी इस बात को जानते थे कि यह अत्यंत परिवर्तनशील है। मार्क्सवाद ने ही इसके अलग-अलग रूपों— व्यापारी, खेतिहर, औद्योगिक, इजारेदार, महाजनी— आदि को पहचाना और अलगाया था। जो पूँजीवाद आज अधिकाधिक अपने शुरुआती रूप में लौटता जा रहा है उसी के समर्थक इसे बदलाव साबित करने पर तुले हुए हैं। हुआ दरअसल यह है कि सत्तर और अस्सी के दशक में पूँजीवाद ने अपना रूप बदला था और पारम्परिक औद्योगिक उत्पादन की जगह उपभोक्तावाद, संचार, सूचना प्रौद्योगिकी और सेवा क्षेत्र की उत्तर-औद्योगिक संस्कृति सामने आयी। लेकिन मार्क्सवादियों के पीछे हटने या पाला बदलने का कारण पूँजीवाद के रूप का बदलाव नहीं बल्कि उसके खात्मे की कल्पित असम्भाव्यता थी। उनका कहना है कि आज के पूँजीवाद की आक्रामकता का कारण पूँजी की दुश्चिन्ता है। यह आत्मविश्वास के कारण नहीं बल्कि भयजनित प्रतिक्रिया है। इसके पीछे दूसरे विश्व-युद्ध के बाद आये उछाल का खत्म होना है। इसी भय के कारण पूँजी हल्का भी विरोध बर्दाश्त नहीं कर पा रही है। पूँजी की इस नयी आक्रामकता के साथ वाम की निराशा ही मार्क्सवाद के अप्रासंगिक होने की घोषणाओं का मूल कारण है। आज की तारीख में मार्क्सवाद को बीते समय की बात कहना ऐसे ही है जैसे आग लगाने वालों की ताकत का मुकाबला न कर पाने के कारण आग बुझाने की व्यवस्था को बेकार कह देना।

इसके बाद ईगलटन दूसरे आरोप की चर्चा करते हैं कि मार्क्सवाद का सिद्धांत तो ठीक है लेकिन उसके व्यवहार ने बेकार की हिंसा को बढ़ावा दिया है। इसके उत्तर में वे आधुनिक समय के युद्धों की हिंसा को सामने रखकर बताते हैं कि उनके मुकाबले समाजवादी देशों की हिंसा कुछ भी नहीं है। जैसे पूँजीवाद तमाम खून-खराबे के बावजूद अनेक सकारात्मक उपलब्धियों के लिए जाना जाता है वैसे ही समाजवादी समाजों की भी अपनी कमियों के बावजूद उल्लेखनीय उपलब्धियाँ रही हैं। सोवियत रूस में लोकतंत्र की कमी को उन परिस्थितियों में देखा जाना चाहिए जो क्रांति के तत्काल बाद पैदा हुई। लेकिन समाजवाद ने इससे सीख भी ली है और पूँजीवाद की ताकत को पहचानते हुए बाजार समाजवाद जैसी चीज़ विकसित करने की कोशिशें जारी हैं। हालाँकि उनकी खूबियों-खामियों की चर्चा भी होती है लेकिन महत्त्वपूर्ण बात नयी दिशा में आगे जाने का खुलापन है। इसके बाद विस्तार से वे इस तरह के प्रयोगों में लोकतंत्र की सम्भावना पर विचार करते हैं।

तीसरे आरोप की चर्चा करते हुए वे मार्क्सवाद को निर्धारणवादी साबित करने की कोशिश का जिक्र करते हैं। इसका उत्तर देते हुए वे बताते हैं कि मार्क्स की ज्यादातर



टेरी ईगलटन (व्हाई मार्क्स वाज राइट)

मान्यताओं का उत्स उनसे पहले के चिंतकों में मौजूद है। वर्ग-संघर्ष की धारणा के साथ उत्पादन-संबंध को जोड़कर सामाजिक परिवर्तन का एक खाका प्रस्तुत करना उनका मौलिक योगदान कहा जा सकता है और इसी पर निर्धारणवाद का आरोप भी लगा है। लेकिन खुद मार्क्सवादियों ने इस पर सवाल उठाये हैं। इस मामले में द्वंद्वात्मकता पर जोर देने के बावजूद वे कुछ हद तक इस आरोप को स्वीकार करते हैं लेकिन दूसरे तरह से मार्क्स के सोचने को भी रेखांकित करते हैं। उनका कहना है कि हालाँकि मार्क्स सामाजिक परिवर्तन में उत्पादक शक्तियों की प्रधान भूमिका देखते हैं लेकिन उत्पादन संबंधों की भूमिका को भी पूरी तरह खारिज नहीं करते। वे सामाजिक परिवर्तन में मनुष्य को सचेतन कारक के तौर पर भी देखते हैं। ईगलटन यह भी बताते हैं कि मार्क्स के तई इतिहास एक रेखीय तरीके से नहीं आगे बढ़ता बल्कि उनके चिंतन में पर्याप्त जटिलता को समाहित करने की गुंजाइश है।

चौथे आरोप की चर्चा ईगलटन इस रूप में करते हैं कि मार्क्स के सपनों का साम्यवाद मनुष्य की प्रकृति को अनदेखा करके गढ़ा गया है। मनुष्य स्वार्थी, संग्रही, आक्रामक और स्पर्धा करने वाला प्राणी होता है। इस बात को भुलाकर मार्क्स साम्यवाद का सपना बुनते हैं। इस आरोप को ईगलटन सिरे से खारिज करते हैं और बताते हैं कि असल में तो मार्क्स पर यह आरोप ज्यादा सही होगा कि वे भविष्य की कोई समग्र रूपरेखा नहीं खींचते। भविष्य को लेकर अटकल

न लगाने की मार्क्स की आदत के पीछे ईगलटन एक सचेत कोशिश देखते हैं और वह यह कि ऐसा करने से वर्तमान में करणीय के प्रति उत्साह खत्म हो जाएगा। वे कहते हैं कि भविष्यकथन मार्क्सवादियों का नहीं पूँजीवाद के समर्थकों का पेशा है जो आपके धन की सुरक्षा की गारंटी लिए फिरते हैं। असल में मार्क्स के जमाने में ढेर सारे लोग भविष्य के प्रति अगाध आशा से भरी भविष्यवाणी किया करते थे क्योंकि उन्हें लगता था कि दुनिया को तर्क की ताकत से बदला जा सकता है लेकिन मार्क्स के लिए यह काम वर्तमान के ठोस संघर्षों के जरिये होना था। वे मानते थे कि वर्तमान में ही वे शक्तियाँ होती हैं जो भविष्य का निर्माण करती हैं। मजदूर आंदोलन का काम उन शक्तियों को मुक्त करना है।

पाँचवें आरोप की चर्चा करते हुए वे मार्क्सवाद द्वारा हरेक समस्या को आर्थिक साबित करने के आरोप का उल्लेख करते हैं। मार्क्स के विरोधी कहते हैं कि कला, धर्म, राजनीति, क्रानून, नैतिकता, युद्ध आदि को अर्थिक व्यवस्था का प्रतिबिम्ब माना गया है और इस तरह मार्क्स जिस पूँजीवाद का विरोध कर रहे थे उसी के तर्क से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। इसके बारे में जवाब देते हुए ईगलटन कहते हैं कि आर्थिक पहलू तो इतना स्पष्ट है कि इस पर संदेह किया ही नहीं जा सकता। कुछ भी करने से पहले मनुष्य को खाना-पीना होता है। *जर्मन आइडियॉलॉजी* में मार्क्स लिखते हैं कि पहला ऐतिहासिक कार्य हमारी भौतिक जरूरतों को पूरा करने के साधनों का उत्पादन है, इसके बाद ही कोई और काम किया जा सकता है। संस्कृति का आधार श्रम है। भौतिक उत्पादन के बिना कोई सभ्यता सम्भव नहीं। लेकिन मार्क्सवाद इतना ही नहीं है। वह कहता है कि इसी से अंततः सभ्यता का स्वभाव तय होता है। वैसे भी मार्क्स के विरोधी इससे इनकार नहीं करते बस वे अपघटन पर आपत्ति प्रकट करते हैं। वे निर्धारकों की बहुलता पर जोर देते हैं। लेकिन क्या इस बहुलता के भीतर किसी एक की प्रधानता नहीं होती? इसे मानने से कारकों की बहुलता खण्डित नहीं होती। माना जा सकता है कि कोई परिघटना बहुत से कारकों का परिणाम होती है लेकिन उन सबको समान रूप से महत्वपूर्ण मानना मुश्किल है। आपत्ति असल में किसी एक की प्रधानता पर नहीं बल्कि प्रत्येक प्रसंग में एक ही कारक की प्रधानता पर है। इतिहास में पैटर्न की मौजूदगी से किसी को कैसे इनकार हो सकता है? मसलन समूचे युरोप में फ्रासीवाद एक ही समय में उभरना एक ऐसे ही पैटर्न की ओर इंगित करता है। यह सही नहीं कि मार्क्स के लिए इतिहास का महावृत्तांत प्रगति का है बल्कि अगर है भी तो तकलीफ और कष्ट का है। असल में मार्क्स के लेखन में अन्य तमाम चीजों को आर्थिक में अपघटित नहीं किया गया है बल्कि राजनीति, संस्कृति, विचार, विज्ञान, विचार और सामाजिक अस्तित्व का स्वतंत्र इतिहास है, वे महज अर्थतंत्र की छायाएँ नहीं बल्कि उस पर भी प्रभाव डालने में समर्थ तत्त्व हैं। आधार और

अधिरचना के बीच एकतरफ़ा सम्पर्क नहीं होता बल्कि पारस्परिकता होती है। बात यह है कि मनुष्य जिस तरह अपने भौतिक जीवन का उत्पादन करते हैं वह उनके द्वारा सृजित सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक और क्रानूनी संस्थाओं का रूप तय करता है। निर्धारित का अर्थ यहाँ सीमा निश्चित करना है।

ईगलटन की व्याख्या है कि उत्पादन-पद्धति सीधे खास तरह की राजनीति, संस्कृति या विचारधारा को पैदा नहीं करती, न ही एक ही तरह के विचारों को जन्म देती है। अगर ऐसा होता तो पूँजीवादी दौर में मार्क्सवाद का जन्म ही असम्भव होता। यह कहना ठीक नहीं कि मार्क्स इतिहास की आर्थिक व्याख्या पेश करते हैं, बजाय इसके उनके अनुसार इतिहास की चालक शक्ति वर्ग और वर्ग संघर्ष हैं जो मार्क्स के लेखन में आर्थिक से ज्यादा सामाजिक कोटि हैं। मार्क्स सामाजिक उत्पादन संबंधों और सामाजिक क्रांति की बात करते हैं। सामाजिक कोटि के रूप में वर्ग के निर्धारण में रीति रिवाज, परम्परा, सामाजिक संस्थाएँ, मूल्य मान्यता और सोचने की आदतें शामिल हैं। वे राजनीतिक परिघटना भी हैं। मार्क्स के लेखन से यह भी संकेत मिलता है कि जिस वर्ग का कोई राजनीतिक प्रतिनिधित्व नहीं वह सही मायने में वर्ग ही नहीं है। वर्ग के वर्ग सचेत होने में क्रानूनी, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक प्रक्रियाएँ मदद करती हैं। असल में तो मार्क्स की पूरी लड़ाई मनुष्य को महज आर्थिक बना देने वाली व्यवस्था से है। इसीलिए उनकी कल्पना के समाज में इतनी प्रचुरता होनी है कि मनुष्य को हर वक़्त धन के बारे में न सोचना पड़े।

**देखें :** अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सै-सिमों, स्टालिन और स्टालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

## संदर्भ

1. टेरी ईगलटन (2011), *व्हाई मार्क्स वाज राइट*, येल युनिवर्सिटी प्रेस.

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-8

(हिंसा और कठोर राज्य का सवाल)

(Discourse of Marxism  
in New Century-8)

मार्क्सवाद विरोधी चिंतक प्रायः कहते रहे हैं कि मार्क्स परम भौतिकवादी थे। उनके लिए मानवता की आध्यात्मिक उपलब्धियों का कोई मूल्य नहीं था। धर्म को तो उन्होंने खारिज ही कर दिया था। इस तरह उनके चिंतन में ही स्तालिन अथवा परवर्ती कम्युनिस्ट शासकों के अत्याचारों के बीज निहित हैं। इस आरोप का उत्तर देते हुए ईगलटन कहते हैं कि मार्क्स इसके बारे में बहुत चिंतित नहीं थे कि दुनिया भौतिक तत्त्व से बनी है या आत्मा से। असल में तो वे मानते थे कि अमूर्त सरल और निर्गुण होता है जबकि ठोस समृद्ध और जटिल। अट्टारहवीं सदी में ज्ञानोदय के भौतिकवादी चिंतकों के लिए अलबत्ता मनुष्य भौतिक दुनिया का यांत्रिक हिस्सा था। मार्क्स इस तरह की सोच को छद्म-चेतना मानते थे क्योंकि यह मनुष्यों की स्थिति निष्क्रिय बना देता था। उनके दिमाग खाली स्लेट समझे जाते थे जिन पर बाहरी दुनिया के इंद्रिय संवेदन की छाप पड़नी थी और इसी से उसकी वैचारिक दुनिया का निर्माण होना था। मार्क्स ने इस क्रिस्म के भौतिकवाद से नाता तोड़ा और नये क्रिस्म का भौतिकवाद विकसित किया। उन्होंने मनुष्य को निष्क्रिय मानने वाले भौतिकवाद के मुक़ाबले उसे सक्रिय तत्त्व मानकर अपनी बात शुरू की। उनके मुताबिक मनुष्य अपने आस-पास के वातावरण को बदलने के क्रम में खुद को भी बदलता जाता है। बहुसंख्यक लोगों की सामूहिक व्यावहारिक गतिविधि के ज़रिये ही हमारे जीवन को शासित करने वाले विचारों को बदला जा सकता है। मार्क्स के लिए मनुष्य का भौतिक अर्थात् शरीर और उसका चिंतन उतने अलग नहीं थे। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसमें भौतिक और आध्यात्मिक को अलगाना सम्भव नहीं। आखिर हमारा मस्तिष्क मांस का एक लोथड़ा भी है। मनुष्य की चेतना को समझने के लिए उसके सार्वजनिक व्यवहार के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं होता।

सातवाँ सम्भव आरोप ईगलटन के मुताबिक यह हो सकता है कि वर्ग की कोटि बेहद पुरानी पड़ गयी है। यहाँ तक कि जिस मज़दूर वर्ग को उन्होंने क्रांति और समाजवाद का पुरस्कर्ता माना था उसका भी रूप इतना बदल चुका है कि आज वह मार्क्स की नज़र से देखने पर पहचान में ही नहीं आता। उत्तर में ईगलटन बताते हैं कि मार्क्सवाद वर्ग को महज़

शैली, हैसियत, आय, उच्चारण, पेशा आदि के आधार पर नहीं परिभाषित करता। यह इससे तय होता है कि किसी विशेष उत्पादन पद्धति में आप कहाँ खड़े हैं। मज़दूर वर्ग के विलोप की कथा बहुत दिनों से सुनायी पड़ती रही है। वर्गों के संघटक तत्त्व हमेशा से बदलते रहे हैं। वैसे भी पूँजीवाद विरोधों को धूमिल करता है, पुराने विभाजनों को मिटाकर नये मिश्रित रूपों को जन्म देता है, सिर्फ शोषण के मामले में वह समानतावादी होता है। असल में समाजवाद से भी अधिक समानता माल उत्पादन में होती है। मार्क्स इसी समरूपता के खिलाफ़ थे। आश्चर्य नहीं कि विकसित पूँजीवाद वर्गविहीनता को धोखा देता है। हालाँकि सबको पता है कि खाई लगातार चौड़ी हो रही है।

ईगलटन की निगाह में मार्क्स के लिए मज़दूर वर्ग का महत्त्व यह था कि वह पूँजीवादी व्यवस्था के भीतर मौजूद होता है, उसकी कार्यपद्धति को अच्छी तरह समझता है, राजनीतिक रूप से कुशल और सचेत समूह के बतौर संगठित कर दिया गया है, उसके सफल संचालन के लिए अपरिहार्य है लेकिन उसे बर्बाद करने में ही उसका हित है। इसलिए वही उसे हस्तगत करके उसकी उपलब्धियों का सबके फ़ायदे के लिए इस्तेमाल कर सकता है। मज़दूर वर्ग में मार्क्स का यकीन लोकतंत्र के प्रति उनकी गहन निष्ठा से उपजा था। मज़दूर वर्ग को वे सार्वभौम मुक्ति का नायक मानते थे। वर्ग पर मार्क्स का ज़ोर वर्ग की समाप्ति के लिए है। लेकिन इस काम को मज़दूर वर्ग अकेले नहीं कर सकता। उसे अन्य वर्गों के साथ संश्रय बनाना पड़ता है। ध्यान देने की बात है कि प्रोलेतेरियत शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा में ऐसी महिलाओं के लिए प्रयुक्त शब्द से हुई है जो संतान पैदा करके ही राज्य की सेवा करती थीं। आज भी वे ही सबसे अधिक उत्पीड़ित हैं। इसी मायने में डेविड हार्वे कहते हैं कि आज दुनिया में सर्वहारा की तादाद अभूतपूर्व रूप से बढ़ गयी है। मार्क्स के लिए सर्वहारा का मतलब ऐसे लोगों से था जो पूँजीपति के हाथों अपनी श्रमशक्ति बेचने के लिए मजबूर होते हैं।

ईगलटन के अनुसार मार्क्स पर आठवाँ आरोप हिंसा को बढ़ावा देने का लगाया जा सकता है। इसी अर्थ में मार्क्सवाद और लोकतंत्र में तालमेल बैठाना असम्भव बताया जाता है। सही है कि क्रांति का विचार ही हिंसा और अराजकता की तस्वीर पैदा करता है। इसके विरोध में समाज-सुधार की कल्पना की जाती है जो शांतिपूर्ण और क्रमिक दिखाई पड़ता है, लेकिन अनेक समाज-सुधार आंदोलन भी हिंसक रहे हैं। उसी तरह अनेक क्रांतियाँ भी उतनी हिंसक नहीं रही हैं। हिंसा तो प्रतिरोध की तीव्रता के कारण होती है। मार्क्सवादियों की नज़र में किसी क्रांति की गहरायी का पैमाना हिंसा नहीं होता। राजनीतिक सत्ता पर कब्जे की कार्रवाई तात्कालिक मामला हो सकती है, लेकिन

क्रांति आम तौर पर दीर्घकालीन प्रक्रिया होती है। इसमें वैचारिक संघर्ष बड़ी भूमिका निभाता है।

मार्क्सवाद पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि वह कठोर राज्य की वकालत करता है। निजी सम्पत्ति को खत्म करने के बाद समाजवादी क्रांतिकारी तानाशाहों की तरह आचरण शुरू कर देंगे। वे लोगों की निजी स्वतंत्रता का अपहरण कर लेंगे। क्रांति के बाद स्थापित शासनों में ऐसा देखा भी गया है। इस विश्वास का कोई आधार नहीं है कि भविष्य में वे भिन्न व्यवहार करेंगे। उदारतावादी लोकतंत्र में खामियों के बावजूद वह तानाशाही से बेहतर है। उत्तर देते हुए ईगलटन कहते हैं कि मार्क्स तो राज्य के ही विरोधी थे। उन्होंने ऐसे समय का सपना देखा था जब राज्य का लोप हो जाएगा। मार्क्स के विरोधी उनके सपने की खिल्ली उड़ा सकते हैं लेकिन उन पर तानाशाही को प्रोत्साहित करने का आरोप नहीं लगा सकते। असल में उनका सपना पूरी तरह हवाई नहीं था। साम्यवादी समाज में केंद्रीय प्रशासन के अर्थों में राज्य के विलोप की बात उनके कथन का सही अर्थ नहीं प्रतीत होती। किसी भी आधुनिक जटिल संस्कृति में उसकी ज़रूरत रहेगी। वे तो राज्य के हिंसा के औजार के बतौर इस्तेमाल के विरोधी लगते हैं। *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में उन्होंने कहा कि साम्यवाद में सार्वजनिक सत्ता का चरित्र राजनीतिक नहीं रहेगा। मार्क्स के समय ढेर सारे अराजकतावादी लोग थे लेकिन उनसे अलग मार्क्स ने कहा कि शायद इसी ऊपर बताये गये अर्थ में राज्य ओझल हो जाएगा। राज्य को मार्क्स निस्संग नहीं समझते और मानते हैं कि सामाजिक हितों के टकराव में वह पक्षपात करता है। खासकर पूँजी और श्रम के टकराव में तो उसकी पक्षधरता खुलकर सामने आ जाती है। राज्य आम तौर पर प्रचलित सामाजिक व्यवस्था में बदलाव की कोशिशों के विरुद्ध उसे सुरक्षा प्रदान करता है। अगर सामाजिक व्यवस्था अन्यायपूर्ण है तो राज्य भी अन्याय का साथ देता है। राज्य के हिंसक होने में शायद ही किसी को संदेह होगा मार्क्स तो बस यह बताते हैं कि यह हिंसा किसकी सेवा में की जाती है। मार्क्स राज्य के बारे में इस मिथक को ध्वस्त करना चाहते थे कि वह शांति और सहयोग को बढ़ावा देता है। राज्य को वे एक ऐसी असम्पृक्त सत्ता मानते थे जो मनुष्य से अलग होकर उसके नाम पर उसके भाग्य का फ़ैसला करती है। मार्क्स खुद लोकतंत्रवादी थे और इसी नाते राज्य के तानाशाही तरीके के विरोध में थे। लोकतंत्र को वे महज़ सांसदों की सम्पत्ति बनाने के बजाय उसे समूचे समाज और उसकी संस्थाओं में समाया हुआ देखना चाहते थे। वे इसे आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र तक विस्तारित करना चाहते थे। उनका कहना था कि राज्य को अल्पसंख्या का बहुसंख्या पर शासन होने के बजाय नागरिकों द्वारा अपने आप पर शासन का तरीका होना चाहिए। मार्क्स का मानना था कि राज्य नागर

समाज से अलग हो गया है और दोनों के बीच विरोध पैदा हो गया है। इसी विरोध को खत्म करना और राज्य को समाज के निकट ले आना मार्क्स का लक्ष्य था। इसी को वे लोकतंत्र कहते और समझते थे जो उनके मुताबिक समाजवाद में अपनी पूर्णता में प्रकट होगा।

दसवें आरोप के बतौर ईगलटन इस राय का उल्लेख करते हैं कि पिछले चालीस बरसों के सारे क्रांतिकारी आंदोलन मार्क्सवाद की हद से बाहर हुए हैं। नारीवाद, पर्यावरण के आंदोलन, समलिंगी आंदोलन, पशुओं के अधिकार आंदोलन, वैश्वीकरण विरोधी आंदोलन, शांति आंदोलन आदि वर्ग की कोटि से बाहर गये और नयी राजनीतिक सक्रियता को जन्म दिया। वाम धारा तो है लेकिन वह उत्तर-वर्गीय और उत्तर-औद्योगिक संसार के लिहाज़ से चल रहा है। इसका जवाब देते हुए ईगलटन कहते हैं कि नये दौर का सबसे मज़बूत आंदोलन तो पूँजीवाद के विरुद्ध खड़ा हुआ है। उसे मार्क्सवाद से विच्छिन्न कैसे माना जा सकता है। जहाँ तक नारीवादी आंदोलन के साथ मार्क्सवाद का संबंध है यह बहुत सीधा-सादा नहीं रहा है। अगर कुछ पुरुष मार्क्सवादियों ने स्त्री-प्रश्न को सिरे से नकारा है तो कुछ अन्य ने इसे अपनी सैद्धांतिकी में शामिल करने की कोशिश भी की है। कुल मिलाकर नारीवाद में मार्क्सवाद का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। इसी वजह से अनेक नारीवादियों ने माना कि पूँजीवाद की समाप्ति के बिना नारी-मुक्ति नहीं हो सकती। अन्य अब भी इस विश्वास पर क़ायम हैं कि शायद पूँजीवाद स्त्री-उत्पीड़न का खात्मा कर देगा। हालाँकि पूँजीवाद के स्वभाव में ही मार्क्स स्त्री-उत्पीड़न नहीं देखते लेकिन पितृसत्ता और वर्गीय सत्ता एक दूसरे के साथ इस क्रूर जुड़े हुए हैं कि एक की समाप्ति के बग़ैर दूसरे की समाप्ति की कल्पना मुश्किल नज़र आती है। एंगेल्स की किताब *परिवार, निजी सम्पत्ति और राजसत्ता का उदय* स्त्री आंदोलन का ज़रूरी पाठ बनी हुई है। क्रांति के बाद रूसी बोलशेविकों ने स्त्री-मुक्ति के सवाल को पूरी गम्भीरता से उठाया और हल करने की कोशिश की। नारीवादी सवालों की तरह ही उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों में मार्क्सवादियों की भागीदारी सिद्धांत और व्यवहार के लिहाज़ से अतुलनीय रही है। सांस्कृतिक, लैंगिक, भाषाई, भिन्नता, अस्मिता आदि के सवाल राजसत्ता, भौतिक विषमता, श्रम के शोषण, साम्राज्यवादी लूट, जन राजनीतिक प्रतिरोध आदि रूपांतरण से जुड़े हुए हैं।

**देखें :** अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड, लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक,

भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

## संदर्भ

1. टेरी इंगलटन (2011), *व्हाई मार्क्स वाज राइट*, येल युनिवर्सिटी प्रेस.

— गोपाल प्रधान

## नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-9

(प्रासंगिकता का दावा : एरिक हॉब्सबॉम)

(Discourse of Marxism  
in New Century-9)

विख्यात इतिहासकार एरिक हॉब्सबॉम की विशालकाय किताब *हाउ टु चेंज द वर्ल्ड* में मार्क्स-एंगेल्स की मृत्यु के बाद मार्क्सवाद की विकास यात्रा को निरूपित किया गया है। इसमें मार्क्स-एंगेल्स और मार्क्सवाद की शास्त्रीय परम्परा के लेखकों के अलावा सिर्फ़ ग्राम्शी को शामिल किया गया है।

पुस्तक के पहले अध्याय 'मार्क्स टुडे' में हॉब्सबॉम आज के दौर में मार्क्स की लोकप्रियता की एक वजह यह मानते हैं कि सोवियत संघ के अधिकारिक मार्क्सवाद के अंत ने मार्क्स को लेनिनवाद और लेनिन की प्रेरणा से बने समाजवादी निज़ामों के संबंध से मुक्त कर दिया और इस बात की गुंजाइश बनी कि आज की दुनिया के प्रसंग में मार्क्स की प्रासंगिकता को नयी नज़र से देखा परखा जाए। दूसरी वजह उनके अनुसार यह है कि 1990 के दशक में उभरने वाली वैश्विक पूँजीवादी दुनिया बहुत कुछ *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* में दर्ज दुनिया की तरह नज़र आयी। यह चीज़ घोषणापत्र की डेढ़ सौवीं वर्षगाँठ के समय ही दिखाई पड़ने लगी थी, क्योंकि उसी समय वैश्विक अर्थव्यवस्था में नाटकीय उथल-पुथल शुरू हुई थी। उनका कहना है कि निश्चय ही इक्कीसवीं सदी के मार्क्स बीसवीं सदी के मार्क्स से अलग



एरिक हॉब्सबॉम (हाउ टु चेंज द वर्ल्ड)

होंगे। पिछली सदी में मार्क्स की जो छवि बनी उसमें तीन तत्वों का योग था। पहला कि जिन मुल्कों में क्रांति एजेंडे पर थी और जिनमें नहीं थी वे अलग-अलग थे। इसी से दूसरी चीज़ यह बनी कि मार्क्स की विरासत दो हिस्सों में बँट गयी— सामाजिक-जनवादी और सुधारवादी विरासत, तथा रूसी क्रांति से बनी क्रांतिकारी विरासत। तीसरी चीज़ यानी 1914 से 1940 के बीच उन्नीसवीं सदी के पूँजीवाद और बूज्वा समाज के विघटन से यह बात और भी उजागर हुई। तब लगा था कि पूँजीवाद शायद इस झटके से उबर नहीं पायेगा। वह उबरा तो लेकिन पुराने रूप में नहीं। दूसरी ओर सोवियत संघ में जो समाजवाद स्थापित हुआ वह अजेय लगता था। लेकिन ऐसी धारणा बनी कि उत्पादक शक्तियों का पूँजीवाद के मुकाबले तीव्र विकास ही समाजवाद की बरतरी साबित करेगा जो मार्क्स ने शायद नहीं सोचा था। मार्क्स ने यह नहीं कहा था कि पूँजीवाद इसलिए खत्म हो जाएगा कि वह उत्पादक शक्तियों का विकास करने में अक्षम हो गया है, बल्कि उनके अनुसार अति उत्पादन से पैदा पूँजीवाद का आवर्ती संकट अर्थतंत्र को नहीं चला पायेगा और असमाधेय सामाजिक संकटों को जन्म देगा। सामाजिक उत्पादन के परवर्ती अर्थतंत्र को जन्म देना पूँजीवाद के बस की बात नहीं, ऐसा समाजवाद के तहत ही हो पायेगा। अब बीसवीं सदी का यह समाजवादी मॉडल खत्म हो चुका है और दोबारा उसकी वापसी सम्भव नहीं है।

हॉब्सबॉम मानते हैं कि अनेक मामलों में मार्क्सवादी विश्लेषण अब भी प्रासंगिक है। पहला तो यह है कि पूँजीवादी आर्थिक विकास की अबाध वैश्विक गति और अपने सामने आने वाली किसी भी चीज़ का नाश— भले ही वह इनसे कभी लाभान्वित हुआ हो, मसलन परिवार का ढाँचा। दूसरे, पूँजीवादी विकास के क्रम में आंतरिक अंतर्विरोधों का जन्म जिसमें अनंत तनाव और तात्कालिक समाधान, वृद्धि के साथ जुड़े हुए संकट और बदलाव,

अधिकाधिक वैश्विक होते अर्थतंत्र में भयावह केंद्रीकरण शामिल हैं। पुस्तक का दूसरा लेख मार्क्स से पहले के समाजवादियों से उनके संबंध को बताता है। इसके बाद मार्क्स के चिंतन में राजनीति की महत्ता बताने के बाद अलग अलग अध्यायों में उनकी और एंगेल्स की पुस्तकों *कण्डीशन ऑफ वर्किंग क्लास इन इंग्लैण्ड*, *कम्युनिस्ट घोषणापत्र*, *गुंडरिज़* आदि की व्याख्या करने के बाद मार्क्स-एंगेल्स के लेखन के प्रकाशन और सम्पादन की हालत का वर्णन किया गया है। कह सकते हैं कि किताब का पहला खण्ड बाद में वर्णित मार्क्सवाद के विकास की पूर्व-पीठिका के बतौर लिखा गया है।

मार्क्सवाद के इस अध्ययन में हॉब्सबॉम उसे दो कालखण्डों में बाँट कर देखते हैं। वे पहले दौर को 1880-1914 तथा दूसरे दौर को 1929 से 1945 के बीच स्थिर करते हैं। 1914 से 1929 तक का दौर बिना किसी स्पष्टीकरण के छोड़ दिया है, लेकिन लेनिन के बाद सोवियत संघ और अन्य मुल्कों में हो रहे विकास के प्रति लेखक की अरुचि की झलक भी इससे मिलती है। उनके वर्णन में तीसरा दौर 1945 से 1983 तक का है। इसके बाद का उतार का दौर 1983 से 2000 तक का है।

मार्क्सवाद के पहले दौर के प्रभाव का विवरण देते हुए हॉब्सबॉम कहते हैं कि आम तौर पर मार्क्सवाद के समर्थक इतिहासकार जब उसका इतिहास लिखने बैठते हैं तो सबसे पहले मार्क्सवादियों और गैर-मार्क्सवादियों के बीच अंतर करते हुए गैर-मार्क्सवादियों को उसमें से निकाल बाहर करते हैं, जबकि उनके अनुसार मार्क्स, फ्रायड और डार्विन की तरह ही आधुनिक दुनिया की आम संस्कृति में समाये हुए हैं बावजूद इसके कि मार्क्सवाद के प्रभाव का गहरा रिश्ता मार्क्सवादी आंदोलनों से रहा है। यह प्रभाव दूसरे इंटरनैशनल के दिनों से ही महसूस होना शुरू हो गया था। 1880 और 1890 दशक के दौरान मार्क्स के नाम से जुड़े समाजवादी और मज़दूर आंदोलनों का विस्तार हुआ और उसी के साथ इन आंदोलनों के भीतर और बाहर मार्क्स के सिद्धांतों का प्रभाव भी बढ़ा। आंदोलन के भीतर अन्य वामपंथी विचारधाराओं से मार्क्सवाद को होड़ करनी पड़ी और अनेक देशों में वह प्रमुख विचार के रूप में स्थापित हुआ। आंदोलनों से बाहर यह प्रभाव कुछ अर्ध और पूर्व मार्क्सवादियों पर दिखाई पड़ा। उनमें से मशहूर नाम इटली में क्रोचे, रूस में स्त्रूवे, जर्मनी में सोमबार्ट तथा शैक्षिक जगत के बाहर बर्नार्ड शॉ आदि हैं। इसी समय वह प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ी जिसके तहत अनेक लोग मार्क्सवाद से अपना नाता तो नहीं तोड़ते थे लेकिन धीरे-धीरे वे उसके जड़सूत्रवाद से दूर चले जाते थे। उन्हें ही बाद में संशोधनवादी बुद्धिजीवी कहा गया।

मार्क्स के विचारों का प्रसार इस दौर में मुख्य रूप से युरोप और प्रवासी युरोपियों में दिखाई पड़ता है। भारत में बंगाल के जो क्रांतिकारी 1914 से पहले सक्रिय थे, वे बाद में मार्क्सवादी बने। हालाँकि यह दौर मुश्किल से तीस बरसों का है फिर भी हॉब्सबॉम ने इसे तीन चरणों में बाँटा है। पहला चरण इंटरनैशनल की स्थापना के बाद के पाँच-छह बरसों का है जिसमें मार्क्सोन्मुखी समाजवादी और लेबर पार्टियों का जन्म और विस्तार हुआ। यह परिघटना मई दिवस जैसे कार्यक्रमों के जरिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महसूस की गयी। पूँजीवाद संकट में था और मज़दूर वर्ग में उसके विनाश की आशा पैदा हुई। इसी दौर में 1891 में जर्मन सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी ने आधिकारिक रूप से मार्क्सवाद से अपने को जोड़ा। दूसरा चरण 1895 के बाद का है जब विश्व पूँजीवाद का प्रसार होने लगा। इस चरण में जन समाजवादी मज़दूर आंदोलनों की बढ़त जारी रही लेकिन इसी समय राष्ट्रीय आधार पर इस आंदोलन में विभाजन भी दिखाई पड़े।

मार्क्सवाद के विकास का दूसरा दौर फ़्रासीवाद के विरोध से निर्मित है जिसे हॉब्सबॉम 1929 से 1945 तक स्थिर करते हैं। इस दौर में पश्चिमी युरोप और अंग्रेज़ी भाषी इलाकों में मार्क्सवाद गम्भीर बौद्धिक ताक़त के रूप में उभरा। बहरहाल 1920 में क्रांति की लहर के सुस्त पड़ते ही तीसरे इंटरनैशनल का मार्क्सवाद पश्चिमी बौद्धिकों के लिए उतना आकर्षक नहीं रह गया। उसके मुकाबले त्रात्सकीवाद का ज्यादा आकर्षण दिखाई पड़ा, लेकिन इसका वास्तविक आंदोलन की दुनिया में कोई खास दखल नहीं दे पाया। कम्युनिस्ट पार्टियाँ ज्यादातर तीसरे इंटरनैशनल से प्रभावित थीं और उनके बुद्धिजीवी सदस्य इस स्थिति से असहज महसूस करते थे। इसी कारण पश्चिम में मार्क्सवाद का विकास बहुत कुछ उसकी मुख्य परम्परा से हटकर हुआ। सिर्फ़ साहित्य और कला के क्षेत्र में एक तरह का वामपंथी अंतर्राष्ट्रीय सहकार मौजूद रहा क्योंकि उसमें सैद्धांतिक प्रश्नों से इतर उस समय के आंदोलनों के प्रति भावनात्मक प्रतिबद्धता अभिव्यक्त हुई। इस क्षेत्र में आधुनिकता को लेकर बहस में आधिकारिक वाम के सामने बौद्धिकों ने समर्पण नहीं किया। अपनी देशी बौद्धिकता से कटे बगैर ये बुद्धिजीवी अंतर्राष्ट्रीय वाम संस्कृति के सहभागी बने।

फ़्रासीवाद विरोध एक ऐसा बिंदु था जिसने दुनिया भर में वामपंथी लेखकों कलाकारों को एकजुट किया और उनकी स्वीकार्यता बढ़ायी। इसका बड़ा कारण इस दौर की महामंदी (1929-1933) भी थी। पूँजीवादी संकट के मुकाबले नियोजित समाजवादी उद्योगीकरण ने सोवियत संघ की लोकप्रियता में इजाफ़ा किया और हिटलर को लेकर पूँजीवादी मुल्कों के संदिग्ध रुख के मुकाबले उसकी पराजय में रूस की भूमिका ने तो और भी बड़े पैमाने पर उसके प्रशंसक पैदा

किये। 1936 में स्पेनी गणतंत्र के समर्थन में उठी लहर न होती तो वह लड़ाई अनजानी ही रह जाती। फ्रांसीसीवाद के विरोध में कम्युनिस्टों की अग्रणी भूमिका ने उन्हें विश्व शांति आंदोलन में अगुआ बना दिया। इसी दौर में मार्क्सवाद का प्रसार पिछड़े मुल्कों खासकर चीन और भारत में हुआ जो आगामी विकास के लिहाज से महत्वपूर्ण था।

मार्क्सवाद के प्रभाव का तीसरा दौर हॉब्सबॉम के अनुसार 1945 से 1973 तक है। इस दौर के आते-आते अधिकांश युरोप में समाजवादी और मजदूर आंदोलनों में मार्क्स के विचार सबसे बड़े प्रेरणा स्रोत हो गये और लेनिन तथा रूसी क्रांति की मार्फत बीसवीं सदी की सामाजिक क्रांतियों के लिए चीन से पेरू तक अंतर्राष्ट्रीय दिशा निर्देशक हो गये। दुनिया की एक तिहाई आबादी उन देशों में रहती थी जिनकी सरकारें मार्क्स के विचारों को अपना आधिकारिक मत घोषित करती थीं। इसके अलावा बाकी दुनिया में राजनीतिक आंदोलनों के जरिये ढेर सारे लोग मार्क्सवाद से जुड़े हुए थे। मानवता को प्रभावित करने के मामले में यह हैसियत पहले सिर्फ महान धर्मों के संस्थापकों को प्राप्त थी। इस क्रम में उनके विचारों में काफ़ी बदलाव भी किये गये लेकिन उनके मूल निश्चय ही मार्क्स के चिंतन में मौजूद थे। मजे की बात यह है कि उनके नाम पर स्थापित सभी शासन उदार लोकतंत्र के विपरीत लक्षणों से युक्त थे। मार्क्स के विचारों का यह दबदबा सौ सालों के व्यापक आंदोलनों का नतीजा है। उनके विचारों का यह प्रभाव पूर्व सामाजिक जनवादी पार्टियों द्वारा उनके प्रभाव से इनकार, सोवियत संघ की बदनामी और स्तालिन के विरुद्ध रूस में ही शासन द्वारा संचालित अभियान के बावजूद बना हुआ है।

हॉब्सबॉम मार्क्सवाद की इस स्थिति के तीन सम्भव कारण गिनाते हैं। पहला यह कि मार्क्स की मृत्यु के बाद से ही यह यथास्थिति के लिए खतरनाक और मजबूत राजनीतिक आंदोलनों के साथ और 1917 के बाद खतरनाक मानी जाने वाले सत्ताओं के साथ किसी न किसी तरह से जुड़ा रहा है। दूसरे कि मार्क्सवाद यथास्थिति का विरोध करते हुए भी एक बौद्धिक आंदोलन रहा है और सत्तर के दशक के बाद यथास्थिति का विरोध करके उसकी जगह नया समाज या कोई आदर्श बनाने का सपना देखने वाले सभी समाजवाद को ही अपना लक्ष्य घोषित करते रहे हैं। मार्क्स की मृत्यु के एक साल बाद पुराने काल्पनिक समाजवादों में से कोई भी नहीं बचा रह गया था, इसलिए समाजवाद की कोई भी आलोचना मार्क्सवाद की ही आलोचना मानी जाने लगी। तीसरा कारण बीसवीं सदी में बुद्धिजीवियों में इसके प्रति जबर्दस्त आकर्षण रहा है। उच्च शिक्षा में बढ़ती गयी और उनमें थोक के भाव मार्क्सवादी हुए। बहरहाल 1945 के बाद पच्चीस सालों तक

तीन परिघटनाओं का मार्क्सवाद संबंधी बहस पर प्रभाव रहा है : 1956 के बाद सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों के बीच के रिश्ते, तीसरी दुनिया और खासकर लैटिन अमेरिकी देशों की घटनाएँ और, 1960 के दशक के अंतिम दिनों में औद्योगिक देशों के छात्रों की हड़तालेँ और उनका राजनीतिक रूप से क्रांतिकारी रुख पकड़ना। इसी दौर में रूस की घटती लोकप्रियता के बरक्स चीन, खासकर माओ का, प्रभाव बढ़ा। क्रमशः क्रांति का गुरुत्व केंद्र अल्प विकसित देशों या तीसरी दुनिया की ओर खिसकता गया। इन देशों का समाजवाद में रूपांतरण सैद्धांतिक रूप से भी ज्यादा बड़ा सवाल बनता गया। इस दौर में पहले के दोनों दौरों की तरह कोई अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट केंद्र नहीं उभरा।

तीसरा दौर वे 1973 से 2000 तक मानते हैं जब उनके मुताबिक मार्क्सवाद में उतार आया हालाँकि सदी के अंतिम छोर पर उन्हें फिर से एक उभार दिखाई दे रहा है। असल में जो हुआ उसके लक्षण अस्सी दशक में ही दिखाई देने लगे थे जब पूर्वी युरोप के समाजवादी शासनों में संकट प्रकट होने लगे और चीन ने राह बदलनी शुरू की। हालाँकि रूस पर इनकी निर्भरता इतनी अधिक थी कि सोवियत संघ में कम्युनिस्ट पार्टी का शासन ढहते ही पूर्वी युरोप के मुल्कों में ताश के पत्तों की तरह शासन बिखरने लगे और चीनी शासन को रूस के प्रभाव से कोई सहानुभूति नहीं थी फिर भी पूरी दुनिया के वामपंथियों को इससे झटका लगा क्योंकि समाजवाद के निर्माण का यही एकमात्र गम्भीर प्रयास था। वह पूँजीवाद के पुराने और नये केंद्रों की शक्ति को प्रतिस्तुलित करने वाली महाशक्ति था।

अमेरिका में खड़े हुए 'ऑक्युपाई वाल स्ट्रीट' आंदोलन के साथ ही ढेर सारे लोग मार्क्सवाद की ओर खिंचे आ रहे हैं। मसलन, 2012 में डेविड हार्वे की किताब *रिबेल सिटीज़* प्रकाशित हुई है जिसमें युरोप, अमेरिका और दुनिया के अन्य तमाम बड़े शहरों में फूट पड़ने वाले आंदोलनों के नगर आधारित होने के मद्देनजर शहर के क्रांतिकारी महत्त्व को समझाने की कोशिश की गयी है। हमारे देश में उद्योगीकरण के बाद मजदूर आंदोलन तो जरूर शहर केंद्रित रहे लेकिन नये दौर में बढ़ते हुए नगरीकरण की पृष्ठभूमि में इस परिघटना पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

हाल के दिनों में मार्क्सवाद की ओर रुझान को देखते हुए एक फ्रांसीसी मार्क्सवादी एलेन बादू ने इस समय को मार्क्सवाद के उभार का तीसरा दौर कहा है। इसके पहले के प्रथम दौर को वे 1792 में फ्रांसीसी गणतंत्र की स्थापना से लेकर 1781 में पेरिस कम्यून के पतन तक मानते हैं। दूसरा दौर 1917, की रूसी क्रांति से शुरू होकर 1967 में चीन में माओ की सांस्कृतिक क्रांति के खात्मे तक चला था। नयी पीढ़ी के लोगों को बदलाव की प्रक्रिया को तमाम क्रिस्म के

आंदोलनों के क्षणिक उभार के आगे स्थायी प्रतिरोध की ओर ले जाने का रास्ता मार्क्सवाद के भीतर नज़र आ रहा है।

**देखें :** अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, निष्क्रिय क्रांति, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखायल मिखायलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिब्रेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

## संदर्भ

1. एरिक हॉब्सबाम (2011), *हाउ टु चेंज द वर्ल्ड*, एबैकस, न्यूयॉर्क.

— गोपाल प्रधान

## नरेंद्र देव

(Narendra Dev)

शिक्षाविद्, पत्रकार, विचारक और जनतांत्रिक समाजवाद के प्रणेता नरेंद्र देव (1889-1956) का उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन का जनाधार विस्तृत करने एवं समाजवादी आंदोलन का भारतीयकरण करने में अविस्मरणीय योगदान है। अपनी विद्वत्ता के कारण आचार्य की उपाधि से विभूषित नरेंद्र देव वर्ग-संघर्ष की मार्क्सवादी धारणा से सहमत होते हुए मानते थे कि केवल आर्थिक संघर्षों द्वारा पूँजीवाद का विनाश और समाजवादी समाज की स्थापना सम्भव नहीं है। इससे श्रमिकों की आर्थिक स्थिति में थोड़ा-बहुत सुधार तो हो सकता है पर इससे वे राज्य पर आधिपत्य स्थापित करके उसका क्रांतिकारी प्रयोग नहीं कर सकते हैं। लेकिन यह मानते हुए भी उन्होंने सर्वहारा की हिंसक क्रांति को समाजवादी समाज की स्थापना के एकमात्र विकल्प की तरह स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मार्क्सवाद में नैतिकता एवं अध्यात्म का समावेश किया। उनका दृढ़ विचार था कि मार्क्सवाद एक ऐसी वैज्ञानिक

पद्धति है जिसका प्रयोग काल तथा साधन के अनुरूप किया जाना चाहिए। नरेंद्र देव सशस्त्र क्रांति और विप्लव के बीच अंतर करते थे। 'मार्क्सवादी तथा सत्याग्रह' नामक अपने लेख तथा अरुणा आसफ़ अली की एक पुस्तिका के प्रत्युत्तर में उन्होंने लिखा था कि मार्क्सवाद और गाँधीवाद में मौलिक भिन्नता है। लेकिन सत्याग्रह को स्वीकार करने से न तो मार्क्सवाद के किसी सिद्धांत को हानि पहुँचती है और न ही इससे मार्क्सवाद और गाँधीवाद का समन्वय हो जाता है। 'जनतान्त्रिक समाजवाद ही क्यों' नामक लेख में उन्होंने स्पष्ट किया कि अगर वे और उनकी पार्टी 'टोटेलिटेरियन कम्युनिज़म' का विरोध करती है तो इसका मतलब यह नहीं हो सकता कि वे युरोप की 'सोशल डेमोक्रेसी' की बात कह रहे हैं। उन्होंने इसी लेख में लिखा कि राज्यों की बढ़ती हुई सैन्य शक्ति एवं आधुनिक शस्त्रों के इस युग में क्रांति का विचार तभी ग्राह्य है जब सरकार शासन कार्य में सर्वथा असमर्थ हो जाए और फ़ौज भी सरकार के विरुद्ध क्रांतिकारियों का साथ देने हेतु तत्पर हो। अन्यथा समाजवाद की स्थापना हेतु जनतांत्रिक पद्धति ही श्रेष्ठ है। वे जनतंत्र के बिना समाजवाद को असम्भव मानते थे।

नरेंद्र देव का जन्म 31 अक्टूबर, 1889 को सीतापुर (उत्तर प्रदेश) के एक सनातनी हिंदू परिवार में हुआ था। बचपन में उनका नाम अविनाशी लाल था। धार्मिक रुझान वाले पिता बलदेव प्रसाद स्थापित वकील होने के साथ-साथ कांग्रेस की राजनीति में दिलचस्पी रखते थे। फलतः बचपन से ही नरेंद्र देव को जहाँ एक ओर स्वामी रामतीर्थ जैसे तत्त्वज्ञानियों का सान्निध्य प्राप्त हुआ वहीं मदन मोहन मालवीय जैसे जन-नायकों का मार्गदर्शन मिला। ये दोनों पहलू नरेंद्र देव के जीवन में लगातार विद्यमान रहे। जहाँ सम्पूर्णानंद, भगवानदास एवं राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वानों के साथ नरेंद्र देव का बौद्धिक विचार-विमर्श हुआ, वहीं गाँधी, एम.एन. राय, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया जैसे राजनीतिक विचारकों और नेताओं के साथ वे भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आजादी के लिए प्रयत्नशील रहे। नरेंद्र देव बौद्ध दर्शन के प्रकांड विद्वान थे। हिंदी में उनके द्वारा लिखे गये *बौद्ध धर्म-दर्शन* के संदर्भ में गोपीनाथ कविराज ने लिखा है कि ऐसा ग्रंथ हिंदी भाषा में तो क्या किसी भी भारतीय भाषा और विदेशी भाषा में नहीं है। नरेंद्र देव ने वसुबंधु के अभिधर्म कोश, क्षेमेंद्र के प्राकृत व्याकरण जैसे अनेक बौद्ध ग्रंथों का अविकल हिंदी अनुवाद भी किया।

नरेंद्र देव ने संस्कृत, पाली, पुरातत्व, भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन, अंग्रेज़ी साहित्य एवं समाज-विज्ञानों का गहरा अध्ययन किया था। वे अरबी, संस्कृत, बांग्ला, हिंदी तथा फ्रेंच तथा जर्मन भाषाओं के भी जानकार थे। नरेंद्र देव चाहते तो अजमेर कॉलेज में संस्कृति के प्राध्यापक हो जाते, पर पुरातत्व में रुचि होने के कारण उन्होंने यह प्रस्ताव





आचार्य नरेंद्र देव (1889-1956)

स्वीकार नहीं किया। लेकिन पुरातात्विक गवेषणा हेतु उपयुक्त नौकरी न मिल पाने पर वे कानून की शिक्षा हेतु इलाहाबाद चले गये। 1915 से 1920 के मध्य नरेंद्र देव ने फ़ैजाबाद में वकालत की लेकिन उनका अध्यवसायी एवं समाज-सुधारक मन इस वृत्ति में स्थिर नहीं रह सका।

नरेंद्र देव को अपने पिता के साथ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में 1899 में दर्शक के रूप में जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। 1905 में उन्होंने कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में भी भाग ले कर स्वदेशी का व्रत लिया। 1916 से उनके राजनीतिक जीवन की सक्रिय शुरुआत हुई जब उन्होंने फ़ैजाबाद में होम रूल लीग की शाखा की स्थापना की। 1921 में वकालत छोड़ कर वे असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हुए। फ़ैजाबाद ज़िले के अकबरपुर तहसील में किसान आंदोलन का नेतृत्व करने के बाद नरेंद्र देव ने काशी विद्यापीठ की स्थापना होने पर वहाँ आकर अध्यापन कार्य आरम्भ किया। 1936 में नरेंद्र देव ने संयुक्त प्रांत कांग्रेस कमेटी के स्थानापन्न मंत्री के रूप में सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन का नेतृत्व किया। उन्हें गिरफ़्तार किया गया और तीन महीने की सज़ा मिली। 1932 में सविनय अवज्ञा के सिलसिले में पुनः गिरफ़्तार किये गये और इस बार उन्हें एक वर्ष का कारावास भुगतना पड़ा।

1934 में नरेंद्र देव की अध्यक्षता में ही कांग्रेस

समाजवादी कन्वेंशन की स्थापना हुई। 1940 में उत्तर प्रदेश में नरेंद्र देव ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का नेतृत्व किया, जिसके लिए उन्हें एक बार फिर जेल जाना पड़ा। अप्रैल, 1942 में कांग्रेस कार्य समिति में जब जवाहरलाल नेहरू ने प्रस्तावित भारत छोड़ो आंदोलन का विरोध किया तो नरेंद्र देव गाँधी के इस प्रस्ताव के पक्ष में खड़े हुए।

नरेंद्र देव को भारतीय संस्कृति, भारतीय मानस एवं असमानता जनित विकृतियों की गहरी समझ थी। वे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति, साम्राज्यवाद के चरित्र एवं मार्क्सवाद की विशिष्टता के साथ-साथ स्तालिनवाद के तहत पनपने वाली तानाशाही को अनेक नामी-गिरामी समकालिकों की अपेक्षा बेहतर समझते थे। द्वितीय विश्व-युद्ध की परिस्थिति में नरेंद्र देव ने एक लेख प्रकाशित किया जो उस समय के सम्पूर्ण यथार्थ को उजागर कर देता है। इस लेख में उन्होंने विश्लेषण करके दिखाया था कि रूस और जर्मनी में युद्ध छिड़ जाने तथा ब्रिटेन और रूस में मित्रता हो जाने के आधार पर कम्युनिस्टों का यह मानना गलत है कि विश्व-युद्ध अब साम्राज्यवादी की जगह जन-युद्ध में तब्दील हो गया है। नरेंद्र देव का कहना था कि साम्राज्यवादी युद्ध घटनाचक्र के अधीन हो कर राष्ट्रीय युद्ध हो सकता है और राष्ट्रीय युद्ध साम्राज्यवादी युद्ध हो सकता है। यह बात सही है कि विश्व-युद्ध में कुछ राष्ट्रीय तत्त्व आ गये हैं, लेकिन वे अभी गौण हैं। युद्ध का स्वरूप अभी साम्राज्यवादी ही है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि देश की रक्षा के नाम पर ब्रिटिश साम्राज्यशाही से सहयोग करना उचित नहीं होगा। नरेंद्र देव स्वतंत्रता के लिए जन-संघर्ष को अनिवार्य मानते थे जो उनके अनुसार किसानों, मजदूरों और सामाजिक रूप से निम्न समझ लिए गये लोगों को साथ लिए बिना सम्भव नहीं था। उनका स्पष्ट मत था कि कोई भी राष्ट्र दूसरों को आज़ाद कराने के लिए आत्म-बलिदान नहीं करता। वे न तो जापान के हस्तक्षेप से आज़ादी के पक्षधर थे न ही सोवियत संघ और चीन की पद्धति के अंधानुकरण के समर्थक थे।

नरेंद्र देव ने भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष की इस दुविधा को उजागर किया कि उपनिवेश विरोधी आंदोलन की मुख्यधारा के प्रभाव में सामंतवाद विरोधी आंदोलन कमज़ोर पड़ गया है। सच्चे अर्थों में स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए वे विदेशी दासता से मुक्ति के साथ-साथ साम्राज्यवाद के सभी स्वरूपों का उन्मूलन भी आवश्यक मानते थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही नरेंद्र देव ने भारत में किसान एवं मजदूर आंदोलन संगठित करने का प्रयास किया। वे इस तथ्य के प्रति भी सचेत थे कि सामंतवाद विरोधी संघर्ष उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष को कमज़ोर कर सकती है। दरअसल, वे दोनों का उचित समायोजन निकालने के पक्ष में थे। 1939 में नरेंद्र देव अखिल भारतीय किसान सभा के गया अधिवेशन में

अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1949 में वे अखिल भारतीय किसान पंचायत की संगठन समिति के भी उपाध्यक्ष मनोनीत हुए। उन्होंने कई जगहों पर किसान संगठनों को खड़ा किया। संयुक्त प्रांत में ज़मींदारी उन्मूलन पर प्रस्ताव देने हेतु गठित समिति को नरेंद्र देव ने 1947 में एक लिखित स्मृति पत्र भेजा जिसमें ज़मींदारों द्वारा किसानों के बर्बर शोषण को उजागर करते हुए इस प्रथा के उन्मूलन की माँग की गयी थी। नरेंद्र देव ने 1949 में उत्तर प्रदेश के कांग्रेस मंत्रिमण्डल द्वारा ज़मींदारी उन्मूलन हेतु रखे गये विधेयक का किसानों को चार भागों में बाँटे जाने, ज़मींदारी उन्मूलन हेतु कोई तिथि निश्चित न किये जाने तथा हजारों एकड़ की काशत बनाये रखने के कारण विरोध किया।

नरेंद्र देव को श्रमिक वर्ग की क्रांतिकारी शक्ति में विश्वास था। वे यह भी मानते थे कि इस वर्ग में महान राजनीतिक ताकत बनने की क्षमता है। लेकिन औद्योगिक श्रमिकों के प्रति कांग्रेस की नीति से वे संतुष्ट नहीं थे। नरेंद्र देव कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय संघर्ष से मज़दूरों को अलग रखने की कम्युनिस्टों की नीति को एक ऐसा आत्मघाती क्रदम मानते थे जिसके कारण मज़दूर न तो राजनीतिक शक्ति बन सकते थे और न ही अपने वर्गीय हितों को पूरा कर सकते थे। नरेंद्र देव का विचार था कि मज़दूरों के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक प्रशिक्षण आवश्यक है। लेकिन साथ में उनका यह भी कहना था कि 'नैतिक तथा आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न वर्ग संघर्ष का अविच्छिन्न अंग है।' नरेंद्र देव के विचार में समाजवाद की प्राप्ति हेतु संघर्ष 'श्रमिक वर्ग के नैतिक उत्कर्ष' की अपेक्षा करता है। उनके अनुसार 'यदि हम नैतिक स्तर पर पूँजीवाद को घृणित मानते हैं तो हमको नैतिक स्तर पर समाज को एक नयी दृष्टि देनी चाहिए।'

अकादमिक जगत में भी नरेंद्र देव का गौरवपूर्ण स्थान है। महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, लखनऊ विश्वविद्यालय तथा काशी हिंदू विश्वविद्यालय के कुलपति रूप में उनका उल्लेखनीय योगदान रहा है। भारत के प्रथम शिक्षा आयोग के सदस्य तथा संयुक्त प्रांत के प्राथमिक शिक्षा आयोग के अध्यक्ष के रूप में भी नरेंद्र देव ने कार्य किया। नरेंद्र देव ने सैद्धांतिक शिक्षा और व्यावहारिक शिक्षा के समावेश हेतु पहल ली। व्यापक जन शिक्षा उनका लक्ष्य था और वे स्त्री शिक्षा के प्रबल हिमायती थे। उनका कहना था कि 'स्त्री-जाति की उत्साहपूर्ण क्रियाशीलता के बिना कोई भी महान परिवर्तन सम्भव नहीं है।' नरेंद्र देव प्रत्येक बालक-बालिका के लिए कम से कम आठ वर्ष की अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा के प्रबंध को आवश्यक मानते थे। वे प्रादेशिक मातृभाषाओं को प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्षधर थे। साथ ही उनका आग्रह था कि विश्वविद्यालयी शिक्षा में हिंदी भाषा को ही माध्यम बनाया जाना चाहिए। इसी प्रकार वे विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा में

कम से कम एक विदेशी भाषा के ज्ञान को भी आवश्यक मानते थे। हिंदी के उत्थान के लिए नरेंद्र देव ने विभिन्न मंचों पर कार्य किया। 1950 में वे नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। विलक्षण वक्तृत्व के धनी नरेंद्र देव का व्यक्तित्व अत्यंत उदार और आत्मनिग्रही था। विनोदप्रियता उनके स्वभाव में थी। विभिन्न विश्वविद्यालयों के कुलपति रहते हुए अपने वेतन का चालीस प्रतिशत वे गरीब विद्यार्थियों के सहयोग में लगाया करते थे।

देखें : अबुल कलाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांशी राम, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, दयानंद सरस्वती और आर्य समाज-1 और 2, दादाभाई नौरोजी, बाल गंगाधर तिलक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया, वल्लभभाई पटेल, विनायक दामोदर सावरकर, सहजानंद सरस्वती।

### संदर्भ

1. मुकुट बिहारी लाल (1987), *आचार्य नरेंद्र देव : युग और नेतृत्व*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
2. हरिदेव शर्मा (सम्पा.) (1998), *सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ आचार्य नरेंद्र देव*, नेहरू मैमोरियल म्यूज़ियम ऐंड लाइब्रेरी, रेंडिंट पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. नरेंद्र देव (1949), *राष्ट्रीयता और समाजवाद*, ज्ञानमण्डल, वाराणसी।
4. नरेंद्र देव (1956), *बौद्धधर्म दर्शन*, राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय

## नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा

(Nagendra and Theoretical Criticism)

हिंदी के आधुनिक आलोचना-साहित्य में डॉ. नगेंद्र का विशिष्ट योगदान रहा है। रस-संख्या, रसों का परस्पर संबंध, रस-भंग, रसाभास आदि की स्थापनाओं में नगेंद्र ने सम्पूर्ण भारतीय काव्य शास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन पर खोजपूर्ण कार्य किया है। हिंदी समीक्षाशास्त्र में रामचंद्र शुक्ल की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने अलंकार, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य की सम्यक परीक्षा के बाद रस की स्थापना की। साथ ही आभिजात्यवाद, स्वच्छंदतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, अभिव्यंजनावाद, प्रभाववाद और प्रतीकवाद सभी से तुलना करने के बाद निष्कर्ष दिये। यह भी माना कि भावना और कल्पना पर टिका स्वच्छंदतावाद रस-सिद्धांत से दूर नहीं

है। नगेंद्र की इस स्थापना का सर्वाधिक विरोध हुआ कि रस काव्य का सार्वभौमिक और सार्वदेशिक मूल्य है। दरअसल, अपनी रस-सिद्धांत से जुड़ी स्थापनाओं के कारण छायावादोत्तर साहित्य समीक्षा में भी नगेंद्र का सर्वाधिक विरोध हुआ। नये रचनाकारों ने इस का विरोध किया और कहा कि उनकी इस मान्यता का आधार अ-द्वंद्व है, जबकि आज का साहित्य द्वंद्व-चेतना पर केंद्रित है। नगेंद्र को शास्त्रीय आलोचक कह कर दरकिनार किया गया।

नगेंद्र का साहित्यिक जीवन कवि के रूप में शुरू हुआ। 1931 से 1936 तक वे कवि-समाज और कवि सम्मेलनों में छाये रहे। अचानक 1937 में 'छायावाद' निबंध के प्रेमचंद की *हंस* में प्रकाशित होते ही वे समीक्षा और शास्त्र की ओर स्थायी रूप से मुड़ गये। आलोचनात्मक गद्य का माध्यम उनकी बौद्धिकता के अनुकूल साबित हुआ। भारतीय काव्यशास्त्र की रसवादी परम्परा और पाश्चात्य समीक्षा की सौंदर्यमूलक स्वच्छंदतावादी दृष्टि का विकास डॉ. नगेंद्र की समीक्षा दृष्टि में एक साथ दिखाई देती है। उनके निबंधों में प्राचीन सिद्धांतों का नये ज्ञान-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में नया भाष्य या विमर्श समाहित रहता है। भारतीय-पाश्चात्य सैद्धांतिक दृष्टिकोण का आगमन तुलनात्मक दृष्टि से आता है और उनका समाधान वे मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की मान्यताओं के आधारभूत तत्त्वों के ज़रिये करते हैं। मनोविश्लेषण की मान्यताओं का प्रभाव उनकी समीक्षा-दृष्टि पर इतना गहरा है कि प्रायः उन्हें मनोविश्लेषणवादी आलोचक कह दिया जाता है। रस और रसशास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं का समाधान भी वे मनोविश्लेषण के आधार पर ही करते हैं। नतीजा यह होता है कि उनकी आलोचना तर्क-पुष्ट, प्रमाण-पुष्ट होने के कारण पाठक पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ती है।

नगेंद्र ने जब हिंदी आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया तब तक नंद दुलारे वाजपेयी और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपना स्थान बना चुके थे। नगेंद्र ने 1940 में लिखे अपने निबंध 'आधुनिक हिंदी काव्य के आलोचक' में इन दोनों आलोचकों की विशिष्टताओं को लक्षित किया है। वाजपेयी को उन्होंने 'छायावाद के महत्त्व को स्वीकृत और प्रतिष्ठित करने वाला' पहला आलोचक माना है, पर छायावाद पर दार्शनिकता का आवरण चढ़ाने का दोषी भी। हजारी प्रसाद द्विवेदी के संस्कृत साहित्य के गहन-विस्तृत अध्ययन और शास्त्रीयता का पुष्ट आधार लेने का हिंदी पाठकों पर उन्होंने शुभ प्रभाव माना। शांतिप्रिय द्विवेदी को उन्होंने गतिमय आलोचक कहा लेकिन यह कहने से भी नहीं चूके कि वे 'छायावाद के रस का आस्वादन तो करा सके, लेकिन स्वरूप स्पष्ट नहीं कर सके'। नगेंद्र की इन टिप्पणियों

से जाहिर है कि वे पूर्ववर्तियों के दोषों से बच कर छायावाद की सूक्ष्म-गहन मनोवैज्ञानिक व्याख्या करते रहे।

छायावाद पर प्रकाशित निबंध का उपयोग उन्होंने *सुमित्रा नंदन पंत* शीर्षक अपनी पहली पुस्तक में किया। इसे पढ़ कर रामचंद्र शुक्ल बहुत प्रभावित हुए।

नगेंद्र का ध्यान पश्चिमी काव्य सिद्धांतों की ओर शुरू से ही था। 1939 में उन्होंने आई.वी. रिचर्ड्स के *प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज़म* से प्रेरित- प्रभावित होकर निबंध लिखा 'साहित्य में कल्पना का उपयोग'। 1940 में शिवदान सिंह चौहान के आग्रह पर इस आलोचक ने 'साहित्य और समीक्षा' जैसा निबंध लिखा। इसी बीच वे फ्रॉयड के प्रभाव में आये। यह असर 'छायावाद की परिभाषा' शीर्षक निबंध में पूरी रंगत के साथ मौजूद हैं। बाद में 'साहित्य की प्रेरणा' और 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' (1943) निबंध लिखकर इस प्रभाव की उन्होंने पुष्टि कर दी। उनकी व्यावहारिक आलोचना पर भी यह प्रभाव भी देखा जा सकता है।

1948 में लिखा एक निबंध 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' नगेंद्र की मानसिकता को नये रूप में सामने लाता है। यह लेख उनके चिंतन में एक नये मोड़ का सूचक है। इसके बाद वे निरंतर सैद्धांतिक आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय होते गये। कुछ निबंध पुस्तक-भूमिकाओं, रेडियो-वार्ताओं, पत्र-पत्रिकाओं की माँग पर भी लिखे गये, लेकिन काव्यशास्त्र की भूमि उन्होंने नहीं छोड़ी। नगेंद्र ने रीतिकाव्य के समाजशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का कई कोणों से अध्ययन किया। हिंदी में रीतिकाव्य और रीतिशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन करने वालों में वे अग्रणी हैं। उनके शोध प्रबंध का केंद्रीय अंश है 'रीतिकाव्य की भूमिका' (1950)। उन्होंने इसी मनोभूमिका के साथ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संयोजित 'बृहद इतिहास' के छठे भाग का रीतिकाल के अंतर्गत 'रीतिबद्ध काव्य' शीर्षक से खण्ड-सम्पादन भी किया। उनकी रचना 'रीतिकाव्य की भूमिका' शुद्ध साहित्यिक रस-दृष्टि पर आधारित होने पर भी सामाजिक-दृष्टि को लेकर चली है। उन्हें यह अहसास बराबर रहा कि 'हिंदी में रीतिकाव्य प्रायः उपेक्षा का ही भागी रहा है।' आलोचकों ने इसे नैतिक मानदण्डों पर पथभ्रष्ट साहित्य कहा लेकिन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'सेकुलर साहित्य' माना। प्रगतिवादी आलोचक रीतिकाव्य को प्रतिक्रियावादी सामंती कविता कहते हैं। लेकिन रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि का सम्मान करते हुए नगेंद्र इसे 'परम्परा सिद्ध रीतिकाल' नाम देते हैं। आचार्य शुक्ल ने वामन के रीति शब्द का अर्थ-संकेत ग्रहण करते हुए रीति को एक प्रकार न मानकर एक दृष्टिकोण माना। ध्यान देने की बात यह है कि नगेंद्र रीतिकाव्य के प्रबल प्रशंसक नहीं हैं, पर रस-सिद्धांत के समर्थक होने के कारण उन्हें रीतिकाव्य का

प्रशंसक मान लिया जाता है। उन्होंने रीतिकालीन कविता को क्षयग्रस्त माना है। नगेंद्र का यह विवेचन सटीक है कि कवि-कलावंतों का संबंध प्रायः निम्न और मध्यवर्ग से होता था, लेकिन रहते वे उच्च वर्ग के आश्रय में थे। इस तरह उन पर दोनों वर्गों के संस्कारों का असर रहता था। धीरे-धीरे वे निम्न-मध्यवर्ग से कट कर उच्चवर्ग के आश्रय में रह जाते थे और निर्धन जनता से उनका सम्पर्क टूट जाता था। उनमें सतही आचार्यत्व की आकांक्षा रह जाती थी और वे काव्यशास्त्र की आत्मा के गूढ़ तत्त्वों से कट जाते थे।

नगेंद्र ने रीतिकाव्य के विकास में प्राकृत-अपभ्रंश की लौकिक परम्परा को स्वीकार किया है। इसी कारण इसमें आचार्यत्व और कविता का सम्मेलन है। नगेंद्र के अनुसार रीति काव्य में दो प्रवृत्तियाँ अभिन्न रूप से गुँथी हुई हैं—शृंगारिकता और आचार्यत्व। आचार्यत्व के कारण इस कविता में आत्माभिव्यक्ति का गला घुट गया है। रीतिकाव्य के मार्मिक पक्ष भी नगेंद्र की निगाहों से ओझल नहीं रहे। उन्होंने माना कि शृंगारिकता का स्वरूप प्रायः गार्हस्थिक ही रहा है। दूसरे, रीतिकाव्य का कोई भी कवि भक्ति-भावना से मुक्त नहीं है और उनमें धार्मिकता का रंग भी दृष्टिगत हो जाता है। प्राकृत की गाथाएँ, संस्कृत के शृंगार मुक्तक, नायिका-भेद और कामशास्त्र ने मिल कर रीतिकाव्य का विशिष्ट स्वरूप बनाया। ब्रजभाषा काव्य की काव्य-भाषा में व्यंजनात्मक-सर्जनात्मकता का निखार आया। कवि-शिक्षक-आचार्यों ने शास्त्र की सरसता पर ध्यान दिया, लेकिन मौलिक सृजन क्षमता खत्म हो गयी। केवल रीतियों की दासता मात्र रह गयी।

नगेंद्र को रस-सिद्धांत के व्याख्याता-साधक के रूप में आदर-अनादर दोनों मिले हैं। वे खुद रस-सिद्धांत को अपनी साहित्य-साधना की चरम परिणति मानते हैं। उन्होंने काव्यानुभूति के स्वरूप, काव्य सृजन, प्रक्रिया, सृजन-शक्ति, सर्जनात्मक अवधारणा के आधारभूत तत्त्वों को रस-सिद्धांत पुस्तक में विश्लेषित किया है। भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका में वक्रोक्ति-रीति सिद्धांतों की व्याख्या और पाश्चात्य मूल्यों के प्रति सतर्क तुलनात्मक दृष्टि का विकास किया गया है। वे भारतीय सौंदर्य-चिंतन के मूलाधारों को कभी ओझल नहीं होने देते।

साहित्य की प्रेरणा के विवेचन में उनकी दृष्टि फ्रायड से प्रभावित है, हालाँकि वे कहते यही हैं कि काव्य के पीछे आत्माभिव्यक्ति ही प्रेरणा है। नगेंद्र के अनुसार साहित्य की प्रेरणा में काम-वृत्ति का प्राधान्य रहता है। वे आनंद को जीवन की चरम उपयोगिता मानते रहे हैं और आत्माभिव्यक्ति को आत्म या अहं का संस्कार रूप। अहं विसर्जन से आत्म-उन्नयन होता है। यह एक प्रकार का भारतीय दृष्टि में

साधारणीकरण और पाश्चात्य दृष्टि में निर्वैयक्तीकरण सिद्धांत है, जो कॉलरेज, रिचर्ड्स और टी.एस. एलियट की वाणी में पाठक-पद्य है। काव्य में कल्पना का उपयोग ज्ञान के पाँच प्रकारों के रूप में होता है : परिज्ञान, स्मरण, कल्पना का शुद्ध रूप, विचार और सहज ज्ञान। अचेतन दशा में जो स्वप्नावस्था है, चेतन दशा में वही कल्पनावस्था समझनी चाहिए। पाश्चात्य चिंतन में कल्पना को काव्य का साध्य माना गया है, लेकिन भारतीय चिंतन में साधन मात्र। भारतीय काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धांत का पूरा महल 'कल्पना' पर खड़ा है और उसमें व्यंजना की महिमा है।

रामचंद्र शुक्ल की ही तरह नगेंद्र 'कविता क्या है' से जूझते हैं। यह पूरा विचार तुलसीदास की एक चौपाई पर केंद्रित है। उनके मन प्रश्न उठता है कि कविता क्या है—सौंदर्य चेतना, उक्ति-वक्रता, अलंकार का चमत्कार, वर्ण-मैत्री या छंद का संगीत? नगेंद्र कहते हैं कि रमणीक भावतत्त्व कविता है। नगेंद्र की इस परिभाषा पर नामवर सिंह, जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी ने व्यापक विवाद खड़ा करके उनकी मान्यताओं का खण्डन किया। उनका सर्वाधिक विरोध रामलास शर्मा, मुक्तिबोध, अज्ञेय और जगदीश गुप्त आदि में पनपा है। हालाँकि नगेंद्र का विरोध मार्क्सवादियों तक सीमित नहीं है, पर मार्क्सवाद से प्रभावित विश्लेषकों ने उनके आलोचना कर्म की विशेष रूप से निरंतर उपेक्षा की और उन्हें कलावादी, व्यक्तिवादी, फ्राँडवादी, रीतिवादी करार दे कर दरकिनार कर दिया।

इन विवादों के बावजूद नगेंद्र हिंदी आलोचना का एक अविस्मरणीय नाम है। उन्होंने संस्कृत के ग्रंथों का अनुवाद कराया और उनकी भूमिकाएँ लिखीं। उनका एक बड़ा काम यह भी है कि उन्होंने भारतीय साहित्य की कल्पना को पहली बार विद्वानों के सामने रखा और भारतीय साहित्य का समेकित इतिहास निकाला। नगेंद्र ने हिंदी पाठकों को प्लेटो, अरस्तू, लांजाइनस के साथ पश्चिमी चिंतन की अन्य परम्पराओं से परिचित कराया।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीरांबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन,

हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

### संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1982), *इतिहास और आलोचक दृष्टि*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. डॉ. नगेंद्र (1964), *रस सिद्धांत*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नयी दिल्ली.
3. डॉ. नगेंद्र (1950), *रीतिकव्य की भूमिका*, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नयी दिल्ली.
5. कृष्णदत्त पालीवाल (1988), *हिंदी आलोचना का सैद्धांतिक आधार*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. रामचंद्र शुक्ल (1940), *हिंदी साहित्य का इतिहास*, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

—कृष्णदत्त पालीवाल

## नया मीडिया

(New Media)

मीडिया के पुराने रूपों (लिखित और मुद्रित शब्द, फ़िल्म आधारित फ़ोटोग्राफ़ और सिनेमा, टीवी, वीडियो और रिकॉर्डिंग संगीत) और नये रूपों (कम्प्यूटर मल्टीमीडिया, कम्प्यूटर गेम्स, सीडी-रोम, डीवीडी, इंटरनेट, मोबाइल फ़ोन, ब्लॉग, ट्विटर, वेबसाइट) के बीच केवल प्रौद्योगिकीय अंतर ही नहीं है। एक ज़माने में वीडियो को नये मीडिया की श्रेणी में माना जाता था, क्योंकि उसके कारण सिनेमा और टीवी में भारी परिवर्तन हो रहे थे। आज उसे नये मीडिया की प्रौद्योगिकियों में से एक नहीं माना जाता। दरअसल, नया मीडिया सदा नया रहता है क्योंकि वह लगातार बदलता रहता है। प्रौद्योगिकी के जिस रूप को आज नया कहा जा रहा है, वह साल भर बाद नये मीडिया की श्रेणी से बाहर हो सकती है। फ़्लॉपी डिस्क और कॉम्पैक्ट डिस्क का यही हश्र हो चुका है। नया मीडिया नया इसलिए है कि उसके सामाजिक फलितार्थ व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन को आमूल-चूल परिवर्तन की तरफ़ धकेल रहे हैं। उसके द्वारा प्रवर्तित नेटवर्क, इंटरफ़ेस, आर्काइव, स्टोरेज, इंटरएक्टिविटी और वर्चुअलिटी जैसे पहलू परिवर्तन की इस प्रक्रिया के वाहक हैं। मीडिया विमर्शकारों ने दलील दी है कि पुराना मीडिया औद्योगिक मास-सोसाइटी के तर्क के मुताबिक़ था। जबकि नया मीडिया

उत्तर-औद्योगिक या भूमण्डलीकृत समाज की ज़रूरतों के मुताबिक़ है जिसके तहत हर नागरिक के लिए अपने चुनाव के हिसाब से अपने जीवन और अनुभूतियों का विन्यास करने की सम्भावना खुल गयी है। नये मीडिया से संबंधित बहस भूमण्डलीकरण के इर्द-गिर्द होने वाली बहसों से जुड़ी हुई है। भूमण्डलीकरण को सम्भव बनाने संचार क्रांति नये मीडिया के आगाज़ के साथ बँधी हुई है।

संचार प्रौद्योगिकी में होने वाली तब्दीलियों का सूचनाओं को संसाधित, स्थानांतरित और अभिव्यक्त करने के तरीकों पर गहरा असर पड़ता है, जिसके कारण समाज का सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन बदलने लगता है। मनुष्यता के इतिहास में इस तरह का प्रभाव सबसे ज्यादा नये मीडिया से जुड़ी प्रौद्योगिकियों ने डाला है। समझा जाता है कि उनके कारण समाज के भौतिक आधार की रूपरेखा कुछ की कुछ होती जा रही है। मात्रा और गति के लिहाज़ से सूचनाओं के अत्यधिक तीव्र संसाधन और वितरण ने एक ओर तो ज्ञान-अर्थव्यवस्था जैसे नये विमर्शों को जन्म दिया है, तो दूसरी ओर साइबर डेमोक्रेसी और वर्चुअल कम्प्युनिटी जैसी सांस्कृतिक सम्भावनाओं को उभार दिया है। स्वयं मीडिया-अध्ययन के क्षेत्र को इन नयी प्रौद्योगिकियों ने काफ़ी प्रभावित किया है।

नये मीडिया की सामाजिक शक्ति के कई पहलू हैं। उसकी गति और पहुँच ने न केवल संचार की मात्रा में अनाप-शनाप बढ़ोतरी कर दी है, बल्कि अभिव्यक्ति और रचनाशीलता के विभिन्न रूपों का अभूतपूर्व लोकतंत्रीकरण किया है। सूचना ही नहीं, ज्ञान की संरचनाएँ अतीत के किसी भी समय के मुक़ाबले अधिक लोगों को उपलब्ध हैं (गूगल और विकीपीडिया)। व्यक्ति के सामाजिक संबंध उसकी स्थानिकता पर निर्भर नहीं रह गये हैं क्योंकि वह नये मीडिया-रूपों के ज़रिये किसी से भी कहीं भी अन्यान्यक्रिया कर सकता है। भौगोलिक फ़ासलों के तात्पर्य पूरी तरह से बदल चुके हैं। मीडिया के इर्द-गिर्द नये सामाजिक समुदायों की रचना हो रही है जिनसे भविष्य के सार्वजनिक जीवन की तस्वीर में आधारभूत बदलाव आ सकता है। व्यक्तिगत जीवन, व्यक्तिगत रिश्तों (मित्रता और यौन-अंतरंगताओं) के संसार में ऐसा बहुत-कुछ हो रहा है जो पहले सम्भव ही नहीं था। जो प्राइवेट था वह पब्लिक हो गया है, और पब्लिक होते हुए भी उसने अपने प्राइवेट होने की क्वालिटी नहीं खोयी है। सूचना, अनुभव और संसाधनों पर नियंत्रण की संरचनाओं में रैडिकल तब्दीलियाँ हुई हैं।

मोटे तौर पर कहा जाता है कि पुराने मीडिया का आधार एनालॉग टेक्नॉलॉजी थी, जबकि नया मीडिया डिजिटल टेक्नॉलॉजी पर आधारित है। लेकिन उस समय यह एक अधूरा

वक्तव्य लगाने लगता है जब प्लाज़्मा या एलसीडी स्क्रीन पर प्रसारित की जाने वाली हार्ड-डेफ़िनेशन फ़िल्म पुराने मीडिया की श्रेणी में मानी जाती है, जबकि किसी स्थानीय संगीत बैंड के वेब-एड्रेस का पता देने वाला एनालॉग प्रौद्योगिकी से बनाया गया पोस्टर नये मीडिया का उदाहरण माना जाता है। यह पुरानी प्रौद्योगिकी को नये मक़सदों से इस्तेमाल करने का उदाहरण है जिसमें एनालॉग डिजिटल और नेट-इंटरएक्टिविटी की तरफ़ जाने का न्योता देता दिख रहा है। यह सही है कि पुराना मीडिया जिस सामग्री को प्रोसेस करता था वह अपने तकनीकी रूप में ऐसे युनिटों से मिल कर बनती थी जो अविभाज्य नहीं होते थे, जबकि नये मीडिया की सामग्री पिक्सल या बाइट्स की शक्ति में एक-दूसरे से पृथक विशिष्ट इकाइयों के रूप में प्रोसेस होती है। लेकिन, मीडिया-अध्ययन के विमर्शकारों ने दिखाया है कि एनालॉग और डिजिटल के बीच एक निरंतरता है। सिनेमा के शुरुआती रूपों ने डिजिटल मीडिया की कई प्रवृत्तियों को पूर्वकल्पित कर लिया था। सिनेमा शुरू से ही एक-दूसरे से भिन्न हज़ारों बिम्बों की गति के सिमुलेशन (अनुरूपण) से बनता रहा है।

लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं है कि कम्प्यूटर और डिजिटल से पड़े फ़र्क़ को नजरअंदाज किया जा सकता है। पहले टाइपरायटर जिस शब्द को क्रागज पर छापता था, उसे काटा जा सकता था पर मिटाया नहीं। कम्प्यूटर वर्ल्ड-प्रोसेसर के जरिये जिस शब्द को अपने मॉनीटर पर उकेरता है उसके आधारभूत डिजिटल कोड को बदल कर उसका रूप बदला जा सकता है। इसी तरह फ़िल्म पर दर्ज होने वाले बिम्ब को बदला नहीं जा सकता, पर डिजिटल कैमरे में कोई फ़िल्म नहीं होती। वहाँ तो ओ से लेकर आयी तक के डिजिट्स की श्रृंखला होती है जिनसे बिम्ब बनता है। शब्द की तरह इसे भी बदला जा सकता है, मनचाहा रूप दिया जा सकता है, फ़िल्टर्स की मदद से उसके रंग और आभा में परिवर्तन किया जा सकता है, और उसे भिन्न प्रकाश तक में पेश किया जा सकता है। डिजिटल की यह ख़ूबी मीडिया को उसके उपभोक्ता की कल्पनाओं का दास बना देती है। परिणामस्वरूप मीडिया व्यक्ति के बेहद निजी और अंतरंग अनुभव को न केवल व्यक्त कर सकता है, बल्कि उस अन्योन्यक्रिया के दौरान खुद व्यक्ति की कल्पना और अनुभव में नये पहलू जोड़ सकता है।

दूसरे, नये मीडिया में अनगिनत सूचनाओं को सम्पीड़ित करके एक बहुत छोटी सी जगह में सगृहीत किया जा सकता है। एक पूरा का पूरा पुस्तकालय एक हार्ड-डिस्क में दर्ज करना सम्भव है। नये मीडिया के कारण मनुष्य अपरिमित ज्ञान-राशि को अपनी जेब में रख सकता है। वैसे, उसे इसकी भी ज़रूरत नहीं है, क्योंकि नेट पर किसी जगह उसकी इच्छित फ़ाइलें स्टोर की जा सकती हैं जिन्हें वह जब

चाहे चुन कर खोल सकता है।

नये मीडिया की दूसरी ख़ूबी यह है कि उसके विभिन्न रूप आपस में आसानी से जुड़ सकते हैं। अभी कुछ वर्ष पहले ही टाइपरायटर, फ़ैक्स, रिकॉर्ड प्लेयर, रेडियो, कैमरा, टेलिविज़न और वीडियो अलग-अलग संयंत्र हुआ करते थे जिनकी प्रौद्योगिकी भी भिन्न होती थी। इनके कनवर्जेंस की चर्चा से भविष्य की उत्तेजक सम्भावनाओं का सुराग़ मिलता था। आज एक मोबाइल फ़ोन में ये सभी चीज़ें एक साथ मिलती हैं। मोबाइल से पहले कुछ दिन तक ये काम पर्सनल रियल-प्लेयर द्वारा किया जाता था। लेकिन अब पर्सनल रियल-प्लेयर भी पुराना पड़ चुका है। इस प्रक्रिया में हुआ यह है कि अलग-अलग मीडिया के उपभोग के लिए अलग-अलग प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल और विकास ज़रूरी नहीं रह गया है। न्यू मीडिया प्रौद्योगिकी में क्षमता है कि वह तरह-तरह के डेटा को एक महा-माध्यम के रूप में प्रोसेस सकती है।

नये मीडिया ने व्यक्ति और व्यक्ति के बीच एवं व्यक्ति और सूचना के बीच अन्योन्यक्रिया का एक नया दायरा बनाया है। पुराना मीडिया एक को कई से जोड़ता था, पर नया मीडिया कई को कई से जोड़ सकता है। नेटवर्क का इस्तेमाल करके न्यू मीडिया भौगोलिक फ़ासलों को पल भर में ख़त्म कर सकता है। इस प्रक्रिया में एक नेटवर्क के तहत ली गयी पहलक़दमी का परिणाम उस नेटवर्क से जुड़े बहुत से अन्य मीडिया उपभोक्ताओं की पहलक़दमी में निकलता है। एक सूचना पल भर में अनगिनत लोगों की हो जाती है और हर व्यक्ति एक साथ उस पर सोच-विचार और प्रतिक्रिया कर सकता है। किसी भी सामग्री का वितरण पल भर में लागत की किसी बाधा के बिना न जाने कहाँ-कहाँ तक हो सकता है।

विमर्शकारों ने नये मीडिया द्वारा विकसित सोशल नेटवर्किंग की सम्भावनाओं पर गहन चिंतन किया है। विद्वानों का विचार है कि सामाजिक नेटवर्क अब उत्तरोत्तर मीडिया आधारित होते चले जाएँगे, और उनकी यह निकटता पारम्परिक क्रिस्म की सामुदायिकता से भिन्न होगी। कुछ दूसरे विद्वानों का विचार है कि मीडिया के नये युग ने एक निराकार समुदाय की सम्भावना को जन्म दिया है। यह सामुदायिकता पुरानी सामुदायिकता की तरह व्यक्तिवाद का शमन नहीं करती, बल्कि उसे और उभार देती है।

न्यू मीडिया की प्रौद्योगिकी भूमण्डलीकृत युग में सत्ता की संरचनाओं के खिलाफ़ विकेंद्रित संघर्ष के औज़ार की तरह काम कर सकता है। इसका पहला उदाहरण 1994 में मैक्सिको में मिला जब ज़पाटा आंदोलनकारियों द्वारा उसका इस्तेमाल संगठन और गोलबंदी के मक़सद से किया गया। 1999 में विश्व व्यापार संगठन के सम्मेलन के दौरान उसके

खिलाफ़ आयोजित प्रदर्शनों की कामयाबी में भी नये मीडिया की भूमिका थी। प्रतिरोध के लिए कटिबद्ध सामाजिक आंदोलनों ने गठजोड़ बनाने, अपने उद्देश्यों और रणनीति के बारे में लोगों को शिक्षित-संगठित करने के लिए आवश्यक वैकल्पिक मीडिया स्रोत तैयार करने के लिए इस प्रौद्योगिकी का सहारा लिया था। इसी प्रक्रिया से इंडीमीडिया आंदोलन का जन्म हुआ जिसे सूचना के लोकतंत्रीकरण का ज़बरदस्त उपकरण माना जाता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि नये मीडिया ने प्रौद्योगिकी आधारित नवउदारतावादी मॉडल के खिलाफ़ एक रैडिकल सामाजिक-तकनीकी प्रतिमान तैयार करने की भूमिका निभायी है। इंटरनेट का सहारा लेकर 'ग्रासरूट्स ग्लोबलाइजेशन' की प्रक्रिया भी चलायी जा रही है जिसके केंद्र में पूँजी-प्रवाह न हो कर व्यक्तियों की अन्योन्यक्रिया है।

देखें : अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नेटवर्क, नेटवर्क सोसाइटी, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

### संदर्भ

1. नोह वारड्रिप-फ़ुइन और निक मोंटफ़ोर्ट (सम्पा.) (2003), *द न्यू मीडिया रीडर*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, मैसाचुसेट्स.
2. मैनुएल कैसेल्स (1996), *राइज़ ऑफ़ नेटवर्क सोसाइटी*, खण्ड 1, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, मैसाचुसेट्स.
3. एम. डरहम और डगलस केलनर (2001), *मीडिया ऐंड कल्चरल स्टडीज़ क्रीवडर्स*, ब्लैकवेल पब्लिशिंग, माल्देन, मा और ऑक्सफ़र्ड.
4. निकोलस जेन और डेविड बीयर (2008), *न्यू मीडिया : की कंसेप्ट्स*, बर्ग, ऑक्सफ़र्ड और न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## नयी कविता

(Nayi Kavita)

पचास का दशक हिंदी साहित्य में नयी कविता का आंदोलन लेकर आया। इस कविता की 'शक्ति, सीमाओं और सम्भावनाओं' को लेकर छायावादोत्तर हिंदी साहित्य में समय-समय पर नये विवाद उठते रहे हैं। पुरानी पीढ़ी के आलोचकों की बहस के केंद्र में यह मुद्दा रहा है कि कविता से पहले 'नये' विशेषण की आवश्यकता क्या है? इस का उत्तर यह कह कर दिया गया कि 'नये' से तात्पर्य स्वातंत्र्य-युग की नयी संवेदना और नयी मनोभूमि की अभिव्यक्ति से है। इसी के साथ यह भी कहा गया कि नयी कविता आजादी के बाद के भारत के नये मनुष्य की चिंताओं-द्वंद्वों-तनावों, समस्याओं और प्रश्नाकुलताओं की अभिव्यक्ति है। अज्ञेय ने 'नयी कविता' शीर्षक निबंध में इस कविता को परिभाषित करते हुए कहा है कि नयी कविता नये मूड की, नयी मानसिकता का स्फोट है। दरअसल, नयी कविता नाम भी अज्ञेय का ही दिया हुआ है। अपनी एक रेडियो वार्ता में उन्होंने इस पद का प्रयोग किया था, जो बाद में 1953 में *नये पत्ते* में 'नयी कविता' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। साहित्य की दुनिया में इसकी ज़बरदस्त प्रतिक्रिया हुई, लेकिन नयी कविता तमाम विरोधों को झेल कर आधुनिक वैचारिक रचनाशीलता का प्रतिमान बन गयी। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने एक सूत्र दिया कि छायावाद यदि श्रद्धा केंद्रस्थ है तो नयी कविता में इड़ा। इड़ा से तात्पर्य यहाँ बौद्धिकता से है। इस बौद्धिकता के कारण ही नयी कविता द्वंद्व, तनाव, विसंगति, विडम्बना, विद्रूपता की कविता बनी। वह रसाश्रित कविता नहीं है। आज नयी कविता शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसमें कविता ही नहीं बल्कि इस पूरे रचना-युग की प्रवृत्तियाँ व्यंजित होती हैं। इसे एक नाम 'नव-लेखन' भी दिया गया है।

नयी कविता को बहस के केंद्र में ला कर गजानन माधव मुक्तिबोध ने *नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध* शीर्षक अपनी पुस्तक में कहा है कि, 'जब कभी कोई नयी काव्य-प्रवृत्ति अथवा साहित्य-प्रवृत्ति अवतरित होती है, कला के मूल तत्त्वों के संबंध में, सिद्धांतों के बारे में बहस शुरू हो जाती है। यदि इस विचार विनमय को वास्तववादी होना है तो उसे एक साथ दो काम करने होंगे— एक तो अपने युग विशेष की प्रवृत्तियों को समझना होगा, दूसरे नयी प्रवृत्ति के स्वरूप को हृदयंगम करना होगा। नयी काव्य प्रवृत्ति अभी तक पण्डितों, आचार्य प्रवरों और आलोचक वरेण्यों द्वारा हृदयंगम नहीं हो सकी है।' इसी मक़ाम पर प्रश्न उठा कि 'कला के वस्तु और रूप' का प्रश्न आज ही इतने ज़ोरों से

क्यों उठ खड़ा हुआ? मुक्तिबोध का उत्तर था, 'संवेदनशील कवि-हृदय को उसके आसपास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की है— तत्त्व संबंधी और रूप संबंधी। आज के कवि में तनाव भी है, घिराव भी है, किंतु कवि-हृदय आत्मविस्तार चाहता है— आत्मविस्तार होते ही उसे मानव वास्तविकता के मूलपक्ष दिखाई देने लगते हैं।' लेकिन कठिनाई यह है कि जीवन के मार्मिक पक्षों का संवेदनात्मक आकलन होने पर भी अभिव्यक्ति लड़खड़ा जाती है। मुक्तिबोध ने कहा कि नयी कविता संकल्पबद्धता के साथ संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना को तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाघातों के साथ प्रकट करना चाहती है। उस कविता के कवि को यह आत्मज्ञान है कि उसे प्रगल्भ विकास के लिए कवि की संवेदना शक्ति में विलक्षण विश्लेषण प्रवृत्ति चाहिए। ऐसा इसलिए कि नयी कविता अपने पूर्वयुगों की कविता से ज़्यादा 'अपने परिवेश के साथ द्वंद्वमय स्थिति में' है, इसलिए उसके भीतर तनाव का वातावरण सघन है।

नयी कविता का कवि जीवन की वास्तविकता में बौद्धिक-दृष्टि द्वारा अंतःप्रवेश करने के लिए उत्सुक था। उसके अंतर्जगत में आध्यात्मिकता नहीं, विश्व-दृष्टि के विकास की लालसा थी। कवि जीवन व जगत की व्यापक व्याख्या करना चाहता था। अपनी प्रज्ञा से प्रबुद्ध होकर यह कवि संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना को पुष्ट करता है। अनुभूति को काव्यात्मकता के साथ ज्ञान प्रेरित संवेदना में ढालता है। जीवन के वेदनात्मक पक्षों पर निगाह गढ़ाकर उनका चित्रण करता है— यानी भाव के साथ विभाव पक्ष के चित्रण में ढील नहीं डालता। नया कवि मुक्तिबोध के विचार से तीन क्षेत्रों में कठिन संघर्ष करता है— तत्त्व के लिए संघर्ष, अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष और दृष्टि के विकास का संघर्ष। मूलतः दृष्टि-विकास का संघर्ष थियरी से है, विश्व दृष्टि के विकास से है, जीवन की जटिल वास्तविकता के चित्रण से है। कला का प्रथम क्षण है मानसिक दृष्टि का उद्वेलन-उद्बोधन, दूसरा क्षण है हृदय में संचित जीवनानुभवों का तरंगाथित हो उठना, कला का तीसरा क्षण है अंतरनेत्रों के सामने जीवन-मूल्यों का प्रकटीकरण। इसलिए नयी कविता नयी इस अर्थ में है कि वह जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचियों पर प्रहार करती है।

मानव बाह्य जीवन के आभ्यंतरीकरण द्वारा ही सम्पन्न और विकसित होता है। अभिव्यक्ति-सम्पदा के विकास के लिए निरंतर अभ्यास और श्रम आवश्यक है। आज की कविता में रस और सामंजस्य न हो कर, द्वंद्व है। वह रिझाने वाली नहीं, खिजाने वाली, चिढ़ाने वाली, व्यंग्य-वक्रोक्ति की कविता है। एक प्रकार से 'नागात्मक कविता' है, शहरी साँपों के सभ्य न होने की कविता है— जो गाँवों की स्मृतियों को मिटा कर

पश्चिमी और औपनिवेशिक आधुनिकता के पीछे पागल हैं। विचारों की तीव्रता के कारण यह कविता गद्यवत है। उसमें मधुर लयात्मक छंदों का प्रयोग नहीं है। इसलिए वह गीत रूप में न आ कर गद्य रूप में आती है। आज के जीवन-संघर्ष में लय मर गयी है और गति बढ़ गयी है। नयी कविता के कवियों की अपनी-अपनी विशेष शैलियाँ हैं। इन शैलियों का विकास मुक्तिबोध, भवानीप्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, कुँवर नारायण, गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर बहादुर सिंह, केदारनाथ सिंह, विजयदेव नारायण साही में अपने विशेष रूप के साथ अनवरत है।

नयी कविता के भीतर जो प्रक्रिया लक्षित होती है वह छायावादी-प्रगतिवादी काव्य-प्रक्रिया से भिन्न है। रोमांटिक कवियों की भाँति नया कवि आवेश प्रधान कविता नहीं लिखता। वह अनुभूत यथार्थ को ही व्यक्त करता है। नया अनुभव आवेशयुक्त न होने के कारण गद्य भाषा में उतरता है— कृत्रिम ललित काव्यभाषा में नहीं। इसी कारण से नयी कविता का पूरा विन्यास गद्य-भाषा के निकट है। यह बात आज सभी मानते हैं कि कविता या साहित्य सांस्कृतिक प्रक्रिया है जिसमें जीवन-संघर्षों की विविधता रहती है। यह जीवन-संघर्षों की विविधता ही इस कविता का सच्चा सौंदर्य है। कविता में तनाव-घिराव का वातावरण है इसलिए धर्मवीर भारती का *अंधायुग*, कुँवर नारायण की *आत्मजयी*, भवानी प्रसाद मिश्र की *कालजयी*, दुष्यंत कुमार की *एक कंट विषपायी*, दिनकर की *उर्वशी*, मुक्तिबोध की *अँधेरे में*, सर्वेश्वर की *कुआनो नदी* जैसी रचनाएँ इससे मुक्त नहीं हैं। आज के कवि अपनी स्थिति-परिस्थिति से टकराता है और जीवन के विविध सामाजिक-राजनीतिक पक्षों को शब्द देता है। नेहरू-युग से मोहभंग की पीड़ा भोगता हुआ वह गुस्से में है और आजादी के अंधकार में खड़ा है। उस अंधकार में एक उद्देश्यविहीन समाज जी रहा है। मुक्तिबोध के शब्दों में फिर कहें तो 'सच तो यह है की नयी कविता के भीतर कई स्वर हैं, कई शैलियाँ हैं, कई शिल्प हैं और कई भाव पद्धतियाँ। नयी कविता एक काव्य-प्रकार का नाम है। उसका काव्य प्रकार के भीतर अनेकानेक काव्य व्यक्तिगत शैलियाँ, शिल्प, रचना-विधान और दृष्टियाँ हैं। नयी कविता की प्रतिभा किस लेखक में कहाँ है और कहाँ तक है, यह विवाद का विषय है। आज काव्य क्षेत्र में बहुत से नये कवि हैं।'। यह भी सच है कि नयी कविता के भीतर प्रगतिशील परम्परा की एक लीक है, जिसका अपना इतिहास है।

विद्वानों ने नयी कविता-युग का संबंध *नयी कविता* पत्रिका के प्रकाशन से जोड़ा है और *दूसरा सप्तक* (1951) से नयी कविता का आरम्भ माना है। इस दृष्टि से नयी कविता के पहले कवि हैं— भवानी प्रसाद मिश्र जो कविता को आग का गोला बनाकर छोड़ते हैं, फिर चाहे *गीत फ़रोश* की



कविताएँ हों या *त्रिकाल संध्या*। यह कविता सत्ता-व्यवस्था के विरोध की कविता है और यही नयी कविता का मूलचरित्र आगे के सभी कवियों में मिलता है।

1953 की फरवरी में नये लेखकों की संस्था *परिमल* की ओर से नयी कविता पर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एक विचार-गोष्ठी हुई। भारत भूषण अग्रवाल, जगदीश गुप्त, रामस्वरूप चतुर्वेदी ने नयी कविता के विविध पक्षों पर पर्चे पढ़े और फिर शाम की बैठक में शंभुनाथ सिंह की अध्यक्षता में काव्य-पाठ हुआ। शमशेर की लम्बी कविता *अमन का राग* पढ़े जाते समय श्रोताओं में कोलाहल हुआ। मार्च, 1953 के नये पत्ते गोष्ठी में एक लेख ब्रजेश्वर वर्मा ने 'नयी कविता : श्रोता के दृष्टिकोण' से पढ़ा। इसी समय 1953 की *कल्पना* में रामस्वरूप चतुर्वेदी के लेख 'नयी कविता में मुक्तछंद' का प्रकाशन हुआ।

*आलोचना* पत्रिका के सम्पादक-मण्डल (ब्रजेश्वर वर्मा, धर्मवीर भारती, रघुवंश, विजयदेव नारायण साही) ने एक बैठक करके *नयी कविता* शीर्षक अर्द्धवार्षिक पत्रिका निकालने का निर्णय लिया। सम्पादन का दायित्व जगदीश गुप्त और रामस्वरूप चतुर्वेदी को दिया गया और व्यवस्था-वितरण का जिम्मा राजकमल प्रकाशन को। *नयी कविता* पत्रिका का प्रकाशन 1954 में हुआ। इसी क्रम में *नये पत्ते*, *निकष*, *प्रतिमान* जैसी पत्रिकाएँ *परिमल* दल के लेखकों द्वारा निकाली गयीं। निराला नये लेखकों के मन में कैसे बैठे थे इसका अनुमान 'परिमल' नाम से ही लगाया जा सकता है। इस दल का संयोजन लम्बे समय तक हरदेव बाहरी, हरिमोहन दास टंडन, लक्ष्मीकांत वर्मा, केशवचंद्र वर्मा और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने किया। *प्रतिमान* पत्रिका का केवल विज्ञापन हुआ, प्रकाशन नहीं। वर्षों बाद रघुवंश ने *ऋषग* त्रैमासिक पत्रिका का प्रकाशन किया और उसके पंद्रह अंक निकाले।

नयी कविता पर प्रगतिवादियों ने आरोप लगाया कि वह समाज-विमुखता की कविता है। लेकिन, नयी कविता जहाँ से शुरू होती है वहाँ उसकी शुरुआत में भवानी प्रसाद मिश्र और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविता है। ये दोनों कवि नयी कविता के मैथिली शरण गुप्त और रामनरेश त्रिपाठी हैं। सर्वेश्वर ने कहा है 'मैं नया कवि हूँ/ इसी से जानता हूँ/ सत्य की चीख बहुत गहरी होती है/ इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ/ जूठी मुस्कानें नहीं बेचता'। नये कवि-कर्म का एक प्रमुख दायित्व है— समाज-संस्कृति-राजनीति से साक्षात्कार कराना। इस दायित्व के निर्वाह में सर्वेश्वर बहुत आगे रहे हैं।

ध्यान रहे एक नयी खबर लेने वाली मानसिकता का नाम है रघुवीर सहाय। *सीढियों पर धूप में* और *आत्महत्या के विरुद्ध* नयी कविता की सर्वथा नूतन सर्जनात्मकता का संकेत है। समकालीन राजनीति के विद्रूप चेहरों पर रघुवीर सहाय ने अद्भुत काव्य-टिप्पणियाँ की हैं। साथ ही उन्होंने नयी

कविता को एक अलग काव्य-मुहावरा दिया है। अखबार की साधारण बोलचाल की भाषा में सर्जनात्मकता पैदा करना रघुवीर सहाय की ही अपनी ताकत है। नयी कविता में निरंतर रचना-क्रांति करने वाले लक्ष्मीकांत वर्मा का कृतित्व बड़ा है। उनकी कविता *सिर पर जूता/ पैर में टोपी* ने नयी पीढ़ी को एक अर्थ-प्रकाश दिया। *मेरा अपराध* कविता का कवि मानता है कि 'मेरा अपराध इतना है मैंने बिना सर उठाये/ और किसी चौखट से टकराये/ अपना सिर बचा लिया है'। लक्ष्मीकांत वर्मा लम्बे समय तक राममनोहर लोहिया के समाजवाद से प्रभावित रहे। उनकी कविता पर लोहिया के विचारों का प्रभाव पड़ा। वैसे, नयी कविता के ज्यादातर कवियों पर लोहिया का असर है। जिस कविता पर प्रगतिवादी समाजविमुखता का आरोप लगाते हैं वह *अंधा युग* के रूप में महाभारत की ओट ले कर नेहरू-युग से मोहभंग की बात कर रही थी। इसी तरह *आत्मजयी* नयी और पुरानी पीढ़ी के वैचारिक टकराव के प्रश्नों को उठाने वाला काव्य है। यहाँ नचिकेता प्रतीक है नयी पीढ़ी का जो नये प्रश्न उठाता है और मृत्यु से भी नहीं डरता।

नरेश मेहता ने *संशय की एक रात* जैसी प्रबंध कविता लिखी और परम्परा को पुनर्भाषित किया। लेकिन केदारनाथ सिंह का काव्य-मुहावरा इन सभी से अलग रहा। कवि-कर्म की दृष्टि ने उन्होंने कठिन रास्ता चुना लेकिन सर्जनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से यह विशिष्ट रास्ता रहा। कविता में बिम्ब-विधान की महिमा को केदारनाथ सिंह ने पहचाना। मितकथन पर विपिन कुमार अग्रवाल *नंगे पैर* चलकर नयी कविता पर गये और 'क्लासिकल ठंडेपन से काव्यानुभूतियों को व्यक्त किया।' इस काव्य क्षेत्र में अशोक वाजपेयी सुकुमार मनःस्थितियों के साथ *शहर अब भी सम्भावना* की तलाश करते आये। उसके बाद *एक पतंग अनंत में* नयी मानसिकता के प्रतीक रूप में उड़ी। व्यंग्य-विद्रूप के साथ श्रीकांत वर्मा यह कहते हुए आये 'मैं बकता नहीं हूँ, कविताएँ ईजाद करता हूँ।' भाषा का बेहद सर्जनात्मक प्रयोग करके श्रीकांत ने *माया दर्पण* तथा *मगध* रच डाला। इस पीढ़ी में एक तीखे स्वर से कबीर को याद करते हुए— विजयदेव नारायण साही *मछलीघर* रचते हुए आये। इस प्रतिभाशाली कवि और नयी कविता के सिद्धांतकार ने *साखी* जैसा नयी कविता को अद्भुत उपलब्धि का संग्रह दिया। साही ने *साखी* से नयी कविता को वह दिया जो अब तक कोई नहीं दे सका। श्रीराम वर्मा ने *शब्दों की शताब्दी* में समकालीन जीवन व्यवस्था की तीखी आलोचना की। यही स्वर एक खास लहजे में समकालीन कविता के प्रवर्तक कवि धूमिल की *संसद से सड़क तक* की कविताओं में एक खास काव्य रूप में सुनायी दिया।

स्वातंत्र्य-युग को राजनीति की विकृतियों ने घेर लिया। कविता में यही स्वर— क्रांति, विद्रोह, आक्रोश, खीझ,

अनास्था, मूल्यों का अंधापन, पीड़ा, आत्म-निर्वासन और विडम्बना की अनुगूँजें लेकर आया। कवि कर्म कठिन से कठिनतर होता गया और बहुत-सी वर्जनाएँ चरमराकर टूटने लगीं। नयी कविता के 1954 से 1967 तक के अंकों पर जब कभी विचार-किया जाएगा तो पता चलेगा कि अंधा युग कैसे आया और कैसे कनूप्रिया ने प्रश्नाकुलताओं में नारी को खड़ा किया। जगदीश गुप्त ने 'अर्थ की लय', 'सह-अनुभूति' और गिरिजा कुमार माथुर ने 'नाद-सिद्धांत' के प्रश्न उठाये और रस-सिद्धांत से विदा ले ली। नयी कविता के दौर में भी अज्ञेय का रचना-कर्म एक खास तरह का सौंदर्यबोध सामने लाता रहा। वे रीतिवाद से दूर होते गये। मानव-मूल्यों के प्रति सतत जागरूकता, बौद्धिकता और सामाजिक संश्लेषण नयी कविता की शक्ति रही। परिवेश के प्रति जागरूकता को नयी कविता ने कवि-कर्म के केंद्र में स्थापित किया। नयी कविता के कवि ही समकालीन कविता और अकविता आंदोलन में गये। अकविता सम्पूर्ण मोहभंग की कविता है जिस पर आज गहरायी से चिंतन करने की आवश्यकता है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायलॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

### संदर्भ

1. गजानन माधव मुक्तिबोध (1964), *नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध*, विश्वभारती प्रकाशन, नागपुर.
2. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), *हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. नामवर सिंह (1968), *कविता के नये प्रतिमान*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. विजयदेव नारायण साही (1964), *छठवाँ दशक*, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.
6. लक्ष्मीकांत वर्मा (1960), *नयी कविता के प्रतिमान*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

—कृष्णदत्त पालीवाल

## नव-दक्षिणपंथ

(New Right)

नव-दक्षिणपंथ एक व्यापक पद है जिसका उपयोग उन विचारों का वर्णन करने के लिए किया जाता है जिनमें एक तरफ तो टैक्स में कटौती की माँग की जाती है तो दूसरी ओर टेलिविज़न और फ़िल्मों पर ज्यादा सेंसरशिप लगाने का आग्रह किया जाता है। इस तरह की माँगों में तहत कई बार दूसरे देशों से होने वाले आप्रवासन पर रोक की माँग भी शामिल है। दरअसल, ऐडम स्मिथ के बाज़ार सिद्धांत से जुड़ कर उदारतावादी नव-दक्षिणपंथ का उभार हुआ है और व्यवस्था की सुरक्षा, प्राधिकार और अनुशासन पर जोर देने वाले पहलू से अनुदारतावादी नव-दक्षिणपंथ निकला है। एक तरह से आर्थिक स्वतंत्रतावाद को राज्य और समाज के प्राधिकारवाद से मिलाने की कोशिश करने वाली प्रवृत्ति नव-दक्षिणपंथ के रूप में व्यक्त होती है। नव-दक्षिणपंथ दावा करता है कि सिर्फ व्यक्ति ही यह फ़ैसला कर सकते हैं कि वे क्या चाहते हैं। इसलिए राज्य उनकी ज़िंदगी में जितना कम दखल देगा, उन्हें अपनी प्राथमिकताएँ तय करने में उतनी ज्यादा आज़ादी रहेगी। इस तरह न्यूनतम राज्य के साथ मुक्त बाज़ार पर आधारित समाज-व्यवस्था उसका एक मुख्य उद्देश्य बन जाता है। नव-दक्षिणपंथ अधिकार के बजाय कर्तव्य पर जोर देता है और उदारतावादी राष्ट्रवाद के बजाय उग्र राष्ट्रवादी प्रतिक्रियावाद का सहारा लेता है।

आर्थिक मामलों मुक्त अर्थव्यवस्था की बात करते हुए सामाजिक मामलों में मज़बूत राज्य की वकालत करने वाली यह प्रवृत्ति भूमण्डलीकरण के साथ ऐसे समाजों में भी फैली जहाँ राज्य की लोकोपकारी भूमिका पर जोर दिया जाता है। मसलन, भारत में ऐसे दक्षिणपंथी दल मौजूद हैं जो एक ओर उदारतावादी आर्थिक नीतियों की तरफ़दारी करते हैं, तो दूसरी ओर समाज में पारम्परिक धार्मिक और जातिगत पहचानों को बढ़ावा देते हैं। बहरहाल, नव-दक्षिणपंथ के अपने वैचारिक विरोधाभास भी हैं। आर्थिक मामलों में यह व्यक्ति की 'आज़ादी' का समर्थन करता है, जबकि सामाजिक मामलों राज्य के नियंत्रण का। यह ग़रीबी और साधनहीनता से त्रस्त लोगों की भलाई के लिए कोई कार्यक्रम नहीं सुझाता। इसकी बजाय, यह यथास्थिति या साधन-सम्पन्न लोगों का समर्थन करता है। इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र की नाकामियों और आर्थिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप के कुछ नकारात्मक पहलुओं के बारे में बताने के बावजूद यह खुद में एक आकर्षक विकल्प नहीं बन पाता।

इंग्लैण्ड में मारग्रेट थैचर और संयुक्त राज्य अमेरिका

में रोनाल्ड रेगन और जॉर्ज बुश की सरकारों ने राज्य को सीमित करने के लिए उन्होंने नव-दक्षिणपंथी सिद्धांतों का ही सहारा लिया था। थैचर और रेगन मानते थे कि व्यक्तिगत आजादी राज्य द्वारा किये जाने वाले सामाजिक और आर्थिक नियंत्रण घटाने पर निर्भर करती है। आर्थिक मामलों में नियंत्रण घटाने के लिए थैचर सरकार ने क्लासिक उदारतावादी आग्रहों को अपनाया। उसने जोर दिया कि ऐसी स्थितियाँ बनायी जानी चाहिए जिसमें व्यक्तियों की गतिविधियों में कम-से-कम राजनीतिक हस्तक्षेप हो और वे अपने लक्ष्यों को हासिल कर पायें। इसके अलावा थैचर सरकार ने व्यापार और पारिवारिक जीवन में सम्पन्नता लाने के लिए सुरक्षित आधार तैयार करने पर भी जोर दिया। इस प्रकार थैचराइजेशन और रेगनोमिक्स के जरिये नव-दक्षिणपंथ ने एक ऐसी रणनीति को रेखांकित किया जो राज्य की कार्रवाई का दायरा तो सीमित करती है, पर साथ ही उसकी सत्ता के ऐसे पहलुओं को बढ़ावा देती है जिनसे राजनीतिक स्थिरता और मजबूत राज्य को बढ़ावा मिल सके।

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पश्चिमी देशों (खास तौर पर ब्रिटेन और अमेरिका) की अर्थव्यवस्थाओं को पहली बार सत्तर के दशक के शुरुआती वर्षों में मंदी का सामना करना पड़ा। इसके कारण बेरोजगारी बढ़ी। इस तरह की स्थिति के लिए राज्य नियंत्रित अर्थव्यवस्था और इसके लोकोपकारी रवैये को जिम्मेदार माना गया। इन परिस्थितियों में नव-दक्षिणपंथी चिंतन का उभार हुआ। यह सामाजिक कारकों से भी प्रभावित था। विशेष रूप से उदारतावादी सामाजिक दर्शन की प्रतिक्रियास्वरूप अनुदारतावादियों को यह डर लगने लगा था कि अगर समाज में हर तरह की बातों को इजाजत दी जाने लगी तो सभ्यता और संस्कृति का विशिष्ट चरित्र खत्म हो जाएगा। मसलन, सत्तर और अस्सी के दशक में जब अमेरिका में नव-अनुदारतावाद का उभार हुआ तो इसमें इरविंग क्रिस्टल और नॉर्मन पोडोरिच जैसे विचारक शामिल थे। इनकी मान्यता थी कि अधिकार आधारित संस्कृति के कारण नागरिकों में कर्तव्य और दायित्व की भावना खत्म हुई है। दूसरी ओर अंतर्राष्ट्रीय कारकों ने भी नव-दक्षिणपंथ को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। मसलन, सोवियत संघ की बढ़ती शक्ति से अमेरिका में लोग त्रस्त महसूस करने लगे। वियतनाम में पराजय और ईरान की इस्लामिक क्रांति के कारण अमेरिकी की प्रतिष्ठा को आहत हो ही चुकी थी। इसकी वजह से राष्ट्रवादी भावनाएँ भड़कीं। अस्सी के दशक में ब्रिटेन में भी महा-शक्ति की हैसियत खोने, युरोपीय एकीकरण की प्रक्रिया से पैदा हुई दुश्चिंताओं और बाहरी लोगों की बढ़ती संख्या के कारण चिंता का माहौल था। इस सब ने मिल कर अनुदारतावादी नव-दक्षिणपंथी भावनाओं को बढ़ावा दिया।

नव-दक्षिणपंथी चिंतन का उदारतावादी आयाम क्लासिकल उदारवाद से प्रभावित है। यह एक नये रूप में न्यूनतम राज्य पर जोर देता है। इसके तहत माना जाता है कि 'प्राइवेट अच्छा है और पब्लिक बुरा।' नव-दक्षिणपंथ की यह क्रिस्म राज्यवाद विरोधी (एंटी स्टेटिस्ट) है। क्लासिकल उदारतावाद से जुड़े स्मिथ और रिकार्डो के विचारों के साथ-साथ फ्रेड्रिख वॉन हायक, मिल्टन फ्रीडमैन और रॉबर्ट नॉज़िक जैसे समकालीन चिंतकों ने भी इस नव-दक्षिणपंथ की दिशा तय की है। तीस के दशक में कींस के अर्थशास्त्र से प्रभावित होकर मुक्त बाज़ार के विचारों को छोड़ दिया गया था। कींस का कहना था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ स्व-नियंत्रक (या सेल्फ-रेगुलेटिंग) नहीं हैं। उन्होंने अर्थव्यवस्था की 'कुल माँग' पर जोर देते हुए बेरोजगारी की समस्या का हल सरकारों को बजट घाटे द्वारा 'माँग प्रबंधन' के रूप में तजवीज़ किया। उनका कहना था कि सरकारें टैक्सों से जो पैसा जमा करती हैं, उससे ज्यादा धन उन्हें सार्वजनिक खर्च द्वारा अर्थ व्यवस्था में लगाना चाहिए। इसके विपरीत नव-उदारतावादियों, खास तौर पर मिल्टन फ्रीडमैन ने तर्क दिया कि 'बेरोजगारी की एक स्वाभाविक दर' होती है, जिसे सरकार प्रभावित नहीं कर सकती है। यदि सरकार कींसवादी युक्तियों का उपयोग करके बेरोजगारी दूर करने की कोशिश करेगी तो दूसरे तरह की दो आर्थिक समस्याएँ सामने आ जाएँगी।

इन लोगों ने यह तर्क भी दिया कि राज्य के हस्तक्षेप के कारण बल प्रयोग बढ़ता है और लोगों की आज़ादी कम होती है। इससे व्यक्तियों की पहलक़दमी घटती है और उनके आत्म-सम्मान पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इन चिंतकों ने मिश्रित अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक स्वामित्व के विचार का विरोध किया। उनका कहना था कि व्यक्तियों को आत्म-निर्भर बनने और अपने हित के लिए तर्कसंगत चुनाव करने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इन्होंने बाज़ार को ऐसे तंत्र के रूप में देखा जिसमें व्यक्तिगत चुनावों का कुल योग प्रगति और सामान्य फ़ायदे को बढ़ावा देता है। एक अर्थ में नव-उदारतावादी दक्षिणपंथ ने अनुदारतावादी विचारधारा में मौजूद पैतृकवाद के बजाय स्वतंत्रतावाद का समावेश करने की कोशिश की।

दूसरी ओर अनुदारतावादी नव-दक्षिणपंथ इस डर का शिकार रहता है कि उदारतावादी सुधारों और 'प्रगतिशील' मूल्यों के प्रसार के कारण सामाजिक विघटन हो सकता है। अनुदारतावादी नव-दक्षिणपंथ से जुड़े तीन मुख्य सिद्धांत हैं : व्यवस्था, सार्वजनिक नैतिकता और राष्ट्रीय पहचान। इसके पैरोकार मानते हैं कि साठ के दशक के बाद से अधिकतर पश्चिमी समाजों के प्राधिकार (या अथॉरिटी) में गिरावट आयी है। समाजों में अपराध और समाज-विरोधी व्यवहार

बढ़ा है। एक तरह का अनुमतवाद छाया हुआ है जिसने व्यक्ति को पूरी आजादी दे दी है। इसी के कारण समाज की स्थापित संरचनाओं की उपेक्षा हुई है। नव-अनुदारतावादी पारिवारिक मूल्यों के समर्थक हैं। पारम्परिक की संरक्षा की पैरोकारी करते हुए ये सामाजिक पदानुक्रम और पितृसत्ता की वकालत करते हैं। मसलन, वे कहते हैं कि बच्चों को अपने माता-पिता की बात माननी चाहिए और स्त्रियों को घर सँभालना चाहिए। यदि यह प्राधिकार-संबंध कमजोर होता है तो बच्चों को सही नैतिक मूल्य नहीं मिलेंगे और वे बड़ों का सम्मान करना बंद कर देंगे। सामाजिक प्राधिकारवाद के साथ राज्य के प्राधिकार का भी समर्थन किया जाता है। खास तौर पर अनुदारतावादी नव-दक्षिणपंथ क्रानून और व्यवस्था के मामले में 'सख्त' रुख अपनाने वाले राज्य का समर्थन करता है। मसलन, अमेरिका में साठ के दशक में मौत की सजा को खत्म कर दिया गया था। लेकिन नव-अनुदारतावादियों ने इसे फिर से बहाल करने के लिए अभियान चलाया है। अनुदारवादी नव-दक्षिणपंथ ने सार्वजनिक नैतिकता पर भी जोर दिया है। ब्रिटेन में थैचर ने 'विक्टोरियन मूल्यों' के प्रति अपना समर्थन जताया था, वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका में 'मॉरल मेजोरिटी' जैसी संस्थाओं ने पारिवारिक मूल्यों की वापसी के लिए अभियान चलाया है। इसके अलावा, नव-अनुदारतावादी दक्षिणपंथ ने राष्ट्रीय पहचान कायम रखने पर भी जोर दिया है। ये ऐसी सामान्य सांस्कृतिक और नागरिक पहचान को बढ़ावा देना चाहते हैं जिसकी मजबूत बुनियाद इतिहास और परम्परा में निहित हो। खास तौर पर, ये दूसरे देशों से आने वाले लोगों और बहुसंस्कृतिवाद को राष्ट्रीय पहचान के लिए खतरे के रूप में देखते हैं। उनका मानना है कि बढ़ती सांस्कृतिक विविधता ने राष्ट्रीयता से जुड़ाव को कमजोर किया है। राजनीतिक समुदाय का क्षय हुआ है और जातीय तथा नस्लीय टकराव का खतरा पैदा हो गया है। इन्होंने बाहरी लोगों के देश में आने पर पाबंदी लगाने की माँग की है। ब्रिटेन के अनुदारतावादी नव-दक्षिणपंथियों ने युरोपीय यूनियन के विचार का भी विरोध किया है।

लेकिन यह भी याद रखने की जरूरत है कि नव-दक्षिणपंथ को मानने वाले ऐसे विचारक या राजनीतिज्ञ भी हैं जो नव-उदारतावाद और नव-अनुदारतावाद को नहीं मानते। मसलन, ब्रिटेन के एक चिंतक रॉजर स्कूटन ने इस बात पर जोर दिया है कि अनुदारतावाद के भीतर मुक्त बाजार का कोई स्थान नहीं है। इसी तरह, नॉजिक या अराजक-पूँजीवादियों को अनुदारतावादी सामाजिक सिद्धांत से कोई हमदर्दी नहीं है। फिर भी, नव-उदारतावादी और नव-अनुदारवादी विचार कई बार आपस में मिल जाते हैं। दरअसल, आर्थिक उदारतावाद को सामाजिक अनुदारतावाद से मिलाने की कोशिश नव-दक्षिणपंथ का विशिष्ट चरित्र बन जाती है।

देखें : अनुदारतावाद, उदारतावाद, ऐडम स्मिथ, क्लासिकल अर्थशास्त्र, डेविड रिकार्डो, फ्रेड्रिख वॉन हायक, मिल्टन फ्रीडमैन, रॉबर्ट नॉजिक।

### संदर्भ

1. ए. गैम्बल (1988), *द फ्री इकॉनॉमी ऐंड द स्ट्रांग स्टेट*, मैकमिलन, लंदन.
2. ए. एडोनिंस और टी. हेम्स (सम्पा.) (1994), *अ कंज़रवेटिव रेवोल्यूशन? द थैचर-रेगन डिंकैड इन पर्सपेक्टिव*, मैनेचेस्टर युनिवर्सिटी प्रेस, मैनेचेस्टर.
3. टी. होंडेरिक (1991), *कंज़रवेटिज़म*, हेमिश हेमिल्टन, लंदन.

— कमल नयन चौबे

## नव-उपनिवेशवाद

(Neocolonialism)

धनी और शक्तिशाली देशों द्वारा कम विकसित ग़रीब देशों की अर्थव्यवस्थाओं, संस्कृति और राजनीति में हस्तक्षेप करके उन्हें अपनी मर्जी के मुताबिक चलाने की परियोजना को नव-उपनिवेशवाद की संज्ञा दी गयी है। नव-उपनिवेशवाद के सिद्धांतकारों का कहना है कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद उपनिवेशवाद का औपचारिक खात्मा अवश्य हो गया है, पर उपनिवेश रह चुके देश आज भी अपने पुराने प्रभुओं के अंतर्राष्ट्रीय रंग-रुतबे के तले दबे हुए हैं। इस लिहाज़ से नव-उपनिवेशवाद एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो मौजूदा 'वास्तविक' उपनिवेशवाद की भी आलोचना करती है और विश्व पूँजीवादी आर्थिक निज़ाम के तहत अमीर देशों के ग़रीब देशों पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव को भी रेखांकित करती चलती है। नव-उपनिवेशवाद का सिद्धांत एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका के बहुत से देशों की वर्तमान स्थितियों में प्रासंगिक माना जाता है। एक राजनीतिक पद के रूप में नव-उपनिवेशवाद का सूत्रीकरण पहली बार अफ्रीका के संदर्भ में घाना के पहले राष्ट्रपति क्वामे एनक्रुमा ने 1965 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *नियो-कोलोनियलिज़म : द लास्ट स्टेज ऑफ़ इम्पीरियलिज़म* में किया था। ज़ाहिर है कि यह शीर्षक लेनिन की विख्यात रचना *इम्पीरियलिज़म : द लास्ट स्टेज ऑफ़ कैपिटलिज़म* से प्रभावित है। मार्क्सवादी सिद्धांतकारों और नेताओं, खासकर निर्भरता सिद्धांत का सूत्रीकरण करने वाले विद्वानों ने उत्तर-औपनिवेशिक स्थितियों के लिए नव-उपनिवेशवाद की अभिव्यक्ति का जम कर उपयोग किया है। इसके अलावा दर्शनशास्त्र, फ़िल्म,



क्वामे एनक्रुमा (नियो-कोलोनियलिज्म : द लास्ट स्टेज ऑफ इम्पीरियलिज्म)

राजनीतिशास्त्र और साहित्य के क्षेत्र में विकसित हुई उत्तर-औपनिवेशिक व्याख्याओं ने भी औपनिवेशिक विरासत और उसके जारी प्रभावों की गम्भीर जाँच-पड़ताल की है।

नव-उपनिवेशवाद की चर्चा एनक्रुमा द्वारा किये गये सूत्रीकरण से पहले ही पचास के दशक के मध्य में शुरू हो गयी थी। 1955 में हुए बांदुंग सम्मेलन में आये अफ्रीकी नेताओं और पैन-अफ्रीकी आंदोलन से जुड़े बुद्धिजीवियों ने इस अवधारणा को गुटनिरपेक्ष आंदोलन के साथ जोड़ा। पचास के दशक के आखिरी और साठ के दशक के शुरुआती सालों में आल-अफ्रीकन पीपुल्स कांफ्रेंस की बैठकों में नव-उपनिवेशवाद पर जम कर बहस हुई। फ्रांस द्वारा अपने पूर्व-उपनिवेशों को कम्युनिटी ऑफ़ इंडिपेंडेंट स्टेट्स के रूप में अपने अँगूठे तले बनाये रखने के रवैये के खिलाफ़ इस संगठन ने एक चार पन्ने का प्रस्ताव 'रिज़ोल्यूशन ऑन नियोकोलोनियलिज्म' भी पारित किया। इसके बाद शीत-युद्ध की अवधि में गुटनिरपेक्ष आंदोलन और ऑर्गनाइज़ेशन ऑफ़ सोलिडैरिटी विद द पीपुल ऑफ़ एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका नव-उपनिवेशवाद को इन क्षेत्रों के स्वतंत्र राष्ट्रों के समान शत्रु की तरह परिभाषित करते रहे।

क्यूबा के क्रांतिकारी नेता चे गुएवारा ने 1965 में गरीब देशों पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व को नव-उपनिवेशवाद करार दिया था। उनका कहना था कि जिन देशों को 'कम विकसित'

कहा जाता है, वे दरअसल औपनिवेशिक, अर्ध-औपनिवेशिक अथवा परनिर्भर देश हैं। चे ने अल्पविकास की परिघटना को विकृत विकास की संज्ञा दे कर उन देशों की समस्याओं की तरफ़ ध्यान खींचा था जिनकी अर्थव्यवस्था केवल एक ही फ़सल या केवल एक ही उत्पाद बेचने पर निर्भर रहती है। पूँजीवादी देश इन अर्थव्यवस्थाओं का आर्थिक दोहन आसानी से कर लेते हैं। चे के इस कथन को बाद में अधिक व्यापक अर्थों में इस्तेमाल किया जाने लगा। इमैनुअल वालस्टीन और आंद्रे गुंदर फ्रेंक ने केंद्र और परिधि के बीच रिश्तों की अवधारणा का प्रयोग करते हुए निर्भरता सिद्धांत का सूत्रीकरण किया। यह एक पेचीदा थियरी थी, पर इसका सीधा लोकप्रिय मतलब यह निकाला गया कि प्रत्यक्ष फ़ौजी और राजनीतिक नियंत्रण करने के बजाय दुनिया के ताकतवर देश वित्तीय और व्यापारिक नीतियों के जरिये आज भी अपने पूर्व-उपनिवेशों के बाज़ारों और कच्चे माल का दोहन करने में लगे हुए हैं।

शीत युद्ध के दौरान सोवियत और अमेरिकी शिविरों के बीच एक-दूसरे पर नव-उपनिवेशवादी होने का आरोप लगाया गया। मोरोक्को के राजनेता मेहदी बेन-बारका की अध्यक्षता में हुई ट्राईकांटिनेंटल कांफ्रेंस ने अमेरिका और फ्रांस को नव-उपनिवेशवाद का वाहक बताया। इस संगठन ने बेन-बारका के ही नेतृत्व में कमीशन ऑन नियोकोलोनियलिज्म का गठन किया। इस आयोग की जाँच-पड़तालों के निष्कर्ष के रूप में स्पष्ट रूप से पूँजीवादी दुनिया के नेता के तौर पर अमेरिका को नव-औपनिवेशिक ताकत की तरह में चिह्नित किया गया। इसी के बाद बेन-बारका रहस्यपूर्ण ढंग से कहीं लापता हो गये। इस घटना को बेन-बारका की मुहिम से अमेरिका और फ्रांस की नाराज़गी का नतीजा समझा जाता है। चीन के सोवियत खेमे से नाता तोड़ कर अमेरिका के साथ दोस्ती गाँठ लेने के बाद सोवियत खेमे को भी नव-उपनिवेशवादी रवैया अख़्तियार करने के आरोपों का सामना करना पड़ा। ऐसे कई अध्ययन सामने आये जिसमें विस्तार से तथ्यों का इस्तेमाल करते हुए दिखाया गया कि सोवियत संघ पूर्वी युरोप के देशों के साथ अपने आर्थिक संबंधों में किस तरह अपने लाभ के लिए उनके संसाधनों का दोहन करता है।

नव-उपनिवेशवाद के आलोचकों ने बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा पूर्व-उपनिवेशों में किये गये निवेश के कारण मानवीय और पारिस्थिकीय दुष्परिणामों की तरफ़ ध्यान दिलाया है। इस आलोचना के मुताबिक़ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए ग़रीब देश सस्ते श्रम और कच्चे माल के स्रोत से अधिक नहीं हैं। इन देशों में घटिया और पुरानी पड़ चुकी प्रौद्योगिकी भी डम्प की जाती है। साथ में इन देशों पर विकास का एक ऐसा मॉडल थोपा गया है, जो किसी भी तरह से टिकाऊ विकास

के मानदण्डों पर खरा नहीं उतर सकता। गिनी बिसाऊ, सेनेगल और मॉरितानिया जैसे पश्चिमी अफ्रीका के तटीय देशों में युरोपीय यूनियन द्वारा विदेशी कम्पनियों को बड़े पैमाने पर मछली मारने के धंधे का कांटेक्ट देने का दबाव डालने के तथ्य को नव-उपनिवेशवाद के एक ताजे उदाहरण के रूप में पेश किया जा रहा है।

नव-उपनिवेशवादी संरचनाओं को मजबूत करने में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की भूमिका का अक्सर उल्लेख किया जाता है। ये ब्रेटन वुड्स संस्थाएँ तीसरी दुनिया के देशों को मजबूर करती हैं कि वे अपने ऊपर लदे हुए असहनीय कर्जों को किसी न किसी प्रकार अदा करें, भले ही उसके लिए उनकी जनता को भीषण तकलीफों के दौर से गुजरना पड़े। ब्रेटन वुड्स संस्थाएँ इन देशों पर ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम थोपती हैं जिनके कारण इन देशों की गरीबी कम होने के बजाय और बढ़ जाती है। इसके लिए अमेरिका और दूसरी पश्चिमी ताकतें गरीब देशों में अपनी कठपुतली सरकारें क्रायम करने की परियोजना चलाती हैं या मौजूदा सरकारों से दाब-धौंस के जरिये अपने राजनीतिक और व्यावसायिक हितों की पूर्ति करवाती हैं। वामपंथी विद्वानों की मान्यता है कि विश्व बैंक, मुद्रा कोष, विश्व व्यापार संगठन, वर्ल्ड इकॉनॉमिक फोरम, ग्रुप ऑफ एट जैसी संस्थाएँ नव-उपनिवेशवाद की एजेंट हैं। मुद्रा कोष के कुछ दक्षिणपंथी आलोचकों के तर्क भी बिना स्पष्ट उल्लेख किये हुए इसी तरह की प्रवृत्तियों की तरफ इशारा करते हैं। बाजारवाद के एक प्रमुख प्रवक्ता जेफरी साक्श ने साफ तौर से कहा है कि अफ्रीकी देशों को अपने ऊपर लदे हुए इन संस्थाओं के करीब दो सौ अरब डॉलर से ज्यादा के कर्ज को चुकाने से इनकार कर देना चाहिए ताकि उस धन को सामाजिक विकास के लिए इस्तेमाल किया जा सके।

कुछ विद्वानों ने सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के पहलुओं की तरफ भी ध्यान खींचा है। इसके दो पहलू हैं। अमीर देश कमजोर देशों के मीडिया, भाषा, शिक्षा, धर्म और जीवन-शैली के विभिन्न रूपों को अपने व्यावसायिक हितों के मुताबिक बदलने की कोशिश करते हैं। इसके लिए काफ़ी नफ़ीस क्रिस्म की तरकीबें इस्तेमाल की जाती हैं। दूसरी ओर पूर्व-उपनिवेशों के स्थानीय निवासियों के भीतर 'औपनिवेशिक मानस' की शिनाख्त भी की गयी है जिसके तहत विदेशी तौर-तरीके देशज जीवन-शैलियों के मुकाबले श्रेष्ठ और श्लाघनीय मानने की प्रवृत्ति पनपती है।

**देखें :** आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय

संघ, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

### संदर्भ

1. क्वामे एनकुमा (1965), *नियो-कोलोनियलिज़म : द लास्ट स्टेज ऑफ़ इम्पीरियलिज़म*, थॉमस नेलसन ऐंड संस, लंदन
2. विलियम एच. ब्लैकार्ड (1996), *नियोकोलोनियलिज़म अमेरिकन स्टाइल, 1960-2000*, ग्रीनवुड पब्लिशिंग ग्रुप, न्यूयॉर्क.
3. ज्यॉ-पाल सार्त्र (2001), *कोलोनियलिज़म ऐंड नियोकोलोनियलिज़म*, अनु. : स्टीव ब्रुअर, रॉटलेज, फ्रांस.
4. थॉमस ग्लैडविन (1980), *स्लेवज़ ऑफ़ द व्हाइट मिथ : द साइकोलॉजी ऑफ़ नियोकोलोनियलिज़म*, ह्यूमेनिटीज़ प्रेस, अटलांटिक हाईलैण्ड, एनजे.

— अभय कुमार दुबे

## नवउदारतावाद

(Neoliberalism)

नियोलिबरलिज़म या नवउदारतावाद के नाम से भ्रम होता है कि यह व्यक्ति की स्वाधीनता और समानता को सर्वोच्च प्रमुखता देने वाले उदारतावादी राजनीतिक दर्शन का कोई नया संस्करण है। हालाँकि नियोलिबरलिज़म भी उदारतावाद की ही तरह राज्य के हस्तक्षेप को सीमित करने में विश्वास करता है, पर बाजार और पूँजी की स्वतंत्रता पर हद से ज्यादा जोर देना उदारतावादी चिंतन को रास नहीं आता। दरअसल, नवउदारतावादी चिंतन में बाजार के प्रत्यय ने एक ऐसे मूलभूत और सार्वभौम सत्य की शकल ले ली है जिसके आईने में इस विचार के पैरोकार राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और अंततः नैतिक परिघटना को समाहित देखना चाहते हैं। इस आग्रह के कारण बाजार वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन के सापेक्ष परिभाषित होने के बजाय अपने आप में सभी क्रिस्म की मानवीय गतिविधियों का नियमन करने वाला सर्वोपरि मूल्य बन जाता है। मुख्यतः इसी वजह से अनुदारतावादी या कंज़रवेटिव भी इसका उत्साह से स्वागत नहीं करते। दरअसल, इसके नामकरण में नव या नियो का इस्तेमाल इसलिए किया गया है कि इसका सूत्रीकरण कींसियन अर्थशास्त्र की आलोचना करते हुए सत्तर के दशक में विकसित हुए आर्थिक विचारों और आग्रहों की रोशनी में किया गया है। सत्तर और अस्सी के दशक से ही

नवउदारतावाद समाज-विज्ञान में बहुचर्चित है। इसके चलन के पीछे ब्रिटेन में मार्गरेट थैचर और अमेरिका में रोनाल्ड रेगन की राजनीतिक कामयाबी का भी उल्लेखनीय हाथ है। थैचराइजेशन या थैचरिज़म और रेगनोमिक्स के नाम से प्रचलित राजनीतिक-आर्थिक परिघटना नवउदारतावाद के व्यावहारिक उदाहरण के रूप में ग्रहण की जाती है।

नब्बे के दशक के बाद से नवउदारतावाद और वित्तीय पूँजी का भूमण्डलीकरण एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं। नवउदारतावादी राज्य की संस्था को भी पूरी तरह से बाज़ार के अधीन कर देने का वकालत करते हैं। उन्हें राज्य का हस्तक्षेप तभी क़बूल है जब वह बाज़ार को मज़बूत करने के मक़सद से किया गया हो। अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, ऑर्गनाइजेशन फ़ॉर इकॉनॉमिक कोऑपरेशन एंड डिवेलपमेंट (ओईसीडी) और विश्व व्यापार संगठन को इसका प्रमुख पैरोकार माना जाता है। भूमण्डलीकरण के विरोधियों के लिए नवउदारतावादी होने का मतलब है जन-विरोधी और नव-उपनिवेशवाद या नव-साम्राज्यवाद का एजेंट होना। उत्तर-औपनिवेशिक अध्ययन के लिए नियोलिबरलिज़म एवं लोकतांत्रिक संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण इकाई है।

ऐतिहासिक रूप से देखें तो नवउदारतावाद पद के साथ एक विरोधाभास भी जुड़ा हुआ है। इस पद का इस्तेमाल पहली बार 1938 में पेरिस में हुई एक विचार-गोष्ठी में किया गया था। वाल्टर लिपमैन की पुस्तक *द गुड सोसाइटी* पर चर्चा करते हुए कुछ विद्वानों ने उन्नीसवीं सदी के उदारतावाद की उस धारा का विरोध किया जो बाज़ार द्वारा अपना नियमन ख़ुद कर सकने की क्षमता अर्थात् अदृश्य हाथ के रूपक में काफ़ी यक़ीन करती थी। ख़ुद को नवउदारतावादी कहने वाले विद्वानों के इस समूह ने बाज़ार के बजाय सामाजिक बाज़ार की धारणा विकसित की जिसका मतलब था समाज के व्यापक हितों को ध्यान में रखते हुए राज्य द्वारा आर्थिक प्रतियोगिता के मानक तय करना ताकि एक न्यायपूर्ण और स्थायित्वपूर्ण समाज-व्यवस्था बनायी जा सके। तीस के दशक में ही कींस की रचना जनरल थियरी का प्रकाशन हुआ जिसने अर्थव्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप को बढ़ावा दिया। कींस द्वारा प्रवर्तित सिद्धांत पूँजीवाद को तत्कालीन आर्थिक संकट से निकालने में सक्षम साबित हुए। लेकिन जल्दी ही बाज़ार के अदृश्य हाथ की सक्षमता में विश्वास करने वाले अर्थशास्त्रियों ने पलट कर हमला किया और मिल्टन फ्रीडमैन द्वारा प्रवर्तित मौद्रिकवाद के इर्द-गिर्द हस्तक्षेपकारी राज्य का सैद्धांतिक विरोध गोलबंद होने लगा। फ्रीडमैन ने अपने गुरु फ्रेड्रिख वॉन हायक के नक्शे क़दम पर चलते हुए जिस अर्थशास्त्र की संकल्पना की, उसके आधार पर एक भिन्न नवउदारतावाद का सूत्रीकरण हुआ जो उस नवउदारतावाद का उलट था जिसे सामाजिक बाज़ार के पैरोकारों ने विकसित किया था। कींस

द्वारा प्रवर्तित स्थिरीकरण की नीतियों के खिलाफ़ फ्रीडमैन का मुख्य तर्क यह था कि राजकोषीय नीति का इस्तेमाल करके बाज़ार में मुद्रा सप्लाई कम-ज़्यादा करने से व्यापार चक्र ख़राब हो जाता है और मुद्रास्फीति बढ़ जाती है। फ्रीडमैन ने उपभोग की भूमिका, अर्थव्यवस्था में मुद्रा सप्लाई के महत्त्व और बेरोज़गारी की स्वाभाविक दर का जिस प्रकार अध्ययन किया, उससे निकलने वाले नतीजे भी कींस और उनके अनुयायियों की संस्तुतियों के खिलाफ़ जाते हैं। यह अलग बात है कि फ्रीडमैन अपने विशद लेखन में नवउदारतावाद जैसे पद का कहीं इस्तेमाल नहीं करते।

सत्तर का दशक युरोप और अमेरिकी अर्थव्यवस्थाओं के लिए उत्पादन में ठहराव और मुद्रास्फीति का दोहरा रोग ले कर आया। अर्थशास्त्रियों ने इसे स्टेगफ़्लेशन (स्टेगनेशन + इनफ़्लेशन) यानी अपस्फीति का नाम दिया। इस नयी परिस्थिति के दबाव में कींस प्रवर्तित अर्थनीतियों को बौद्धिक पराजय झेलनी पड़ी, और माँग के प्रबंधन पर आधारित नीतियाँ एक-एक करके त्यागी जाने लगीं। आपूर्ति आधारित अर्थशास्त्र को उग्रता से ख़ारिज करते हुए बाज़ारोन्मुख नीतियों के जो पैरोकार उभरे उनमें अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रेगन और ब्रिटिश प्रधानमंत्री मार्गरेट थैचर प्रमुख थीं। नवउदारतावाद के आर्थिक-राजनीतिक दर्शन के तहत थैचर ने मुक्त व्यापार के सिद्धांत पर कड़ाई से बल दिया, और दावा किया कि टैक्स जितने घटाये जा सकें उतने घटाये जाने चाहिए। थैचर ने व्यक्तिवाद को व्यक्ति की ज़िम्मेदारियों की भाषा में परिभाषित करने की चेष्टा की। थैचरिज़म ने कठोर परिश्रम, निजी दायित्व की भावना और निजी उद्यमशीलता को रेखांकित करते हुए ब्रिटिश समाज से अपील की कि वह राज्य द्वारा मिलने वाली मदद के भरोसे न रहे। उन्होंने प्रधानमंत्रियों के अधिकारों में बढ़ोतरी की और मज़दूर यूनियनों की ताकत में कटौती। थैचर ने ब्रिटिश सार्वजनिक क्षेत्र के शेरों को बेचने के ज़रिये विनिवेशीकरण करके निजीकरण को एक आर्थिक रणनीति का रूप दे दिया। उन्होंने सार्वजनिक सेवाओं को निजी हाथों में सौंपने की नीतियाँ अपनायीं। राजकोषीय नीतियों का इस्तेमाल करते हुए थैचर ने बाज़ार में मुद्रा सप्लाई पर कड़ा नियंत्रण रखा जिससे मुद्रास्फीति की दर नीची रही। थैचर के सभी क़दम कामयाब नहीं हुए। करों में कटौती करने का उनका दूरगामी लक्ष्य सफल नहीं हुआ। लेकिन उनके नेतृत्व के दौरान विभिन्न परिस्थितियों के संयोग के कारण ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा में बढ़ोतरी हुई। अमेरिकन राजनीति ने भी उनका लोहा माना, और रेगनोमिक्स की परिघटना पर काफ़ी-कुछ थैचरिज़म का असर देखा गया।

आज नवउदारतावाद के इन प्रयोगों के पच्चीस साल बाद उसके समर्थकों का तर्क है कि उदारीकरण (सरकारी नियमनों को ख़त्म करना), निजीकरण और विनिवेश के

साथ-साथ सीमाओं के आर-पार वित्तीय विनिमय और वाणिज्य को खुली छूट देने से पूँजीवाद की उत्पादक शक्तियों में उछाल आता है। इसके उलट नवउदारतावाद के आलोचकों का कहना है कि ग्लोबल वित्तीय पूँजी की गतिशीलता पर बल देने वाले भूमण्डलीकरण के कारण राज्य और समाज के रिश्तों के बीच नकारात्मकता आयी है। चूँकि राज्य संसाधनों के अभाव में अपनी सार्वजनिक नीतियों को लागू करने की क्षमता खोता जा रहा है, इसलिए वह नागरिकों में परायेपन के एहसास को कम करने के इरादों में भी कामयाब नहीं हो पा रहा है। हर चीज़ बाज़ार के हाथों में चले जाने के कारण वैयक्तियन की सकारात्मक प्रक्रिया जोखिम में पड़ गयी है।

नउदारतावाद की अवधारणा के अनुसार राज्य की भूमिका केवल एक नियामक की रहनी चाहिए जो राज्य के उपक्रमों और निजी उपक्रमों के साथ समान व्यवहार करे। इनकी गतिविधियों का नियमन एक स्वतंत्र नियामक के हाथों में रहे जो बाज़ार में एकाधिकार रोक कर उसे विफल होने से रोक सके ताकि समाज को अनुकूलतम उत्पादन मिलता रहे।

समाज-विज्ञान में, खास तौर से राजनीतिशास्त्र में, नवउदारतावाद राज्य के महत्त्व को प्रश्नांकित करने वाले विचार के तौर पर उभरा है। राज्य के हाथ से संसाधन आबंटित करने की जिम्मेदारी लेकर नवउदारतावाद ने उसकी ताकत में ज़बरदस्त कटौती कर दी है। उदारतावादी राज्य के समर्थक इस बात से चिंतित हैं। लेकिन वामपंथी विद्वानों का तर्क है कि राष्ट्रों की सीमाओं से परे जाने वाली गवर्नेंस और ग्लोबल संस्थाओं को ताकतवर करने में राज्य की संस्था ने दाई की भूमिका निभायी है। इस प्रक्रिया में राज्य वितरणमूलक तंत्र के स्वायत्त और सम्प्रभु संचालक से घट कर अंतर्राष्ट्रीय मंच पर होड़ करने वाली संस्था में सीमित रह गया है। कुछ विशेषज्ञों की राय है कि नब्बे के दशक के आखिरी वर्षों में पैदा हुए एशियाई वित्तीय संकट को कम करने के बजाय नवउदारतावादी आर्थिक कार्यक्रम ने और संगीन कर दिया था। नवउदारतावादी कार्यक्रम अपना लेने के बाद आईएमएफ और विश्व-बैंक जैसी संस्थाएँ फ़ौरी आर्थिक राहत तो मुहैया करा देती हैं, पर यह कार्यक्रम विकास के जिस रास्ते पर विकासशील देशों को डालता है, वह टिकाऊ विकास की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता। विदेशी मुद्रा कमाने के लिए इन देशों से अपना हर सम्भव उत्पाद निर्यात करने के लिए कहा जाता है, भले ही इस निर्यातोन्मुख नीति का आगे चल कर पर्यावरण पर कितना भी नुकसानदेह असर क्यों न पड़े। निर्यात की होड़ में जब एक से ज़्यादा देश एक ही क्रिस्म का उत्पादन अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में बेच रहे हों, तो अक्सर उसके दाम गिर जाते हैं और इस चक्कर में क़र्ज़दार देश को उत्तरोत्तर अपना माल अधिक से अधिक मात्रा में सस्ती दर पर बेचना पड़ता है। विदेशी मुद्रा कमाने के लिए बनायी गयी निर्यातोन्मुख नीतियों को

कामयाब करने के लिए ये देश अपने अधिकांश संसाधन सामाजिक क्षेत्र से निकाल कर बिकाऊ माल के उत्पादन पर लगाने के लिए मजबूर हो जाते हैं। नतीजे के तौर पर स्वास्थ्य, शिक्षा, साफ़-सफ़ाई और स्थानीय उद्योग को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में भारी कटौती करनी पड़ती है जिसका परिणाम वंचित समुदायों के और दरिद्रीकरण में निकलता है।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, ज़ाक लकॉ, ज्यॉ-फ़्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद।

### संदर्भ

1. स्टुअर्ट हाल और मार्टिन ज़ाक (1997), *थैचर ऐंड थैचरिज़म*, रॉटलेज, लंदन.
2. एच.पी. बेकर (1965), *द सोशल क्वेश्चन इन नियोलिबरलिज़म : एनालैसिस ऐंड क्रिटीसिज़म*, एफ.एच. कर्ले, हाइडिलबर्ग, जर्मनी.
3. एस. गिल (1998), *पॉवर ऐंड रज़िस्टेंस इन द न्यू वर्ल्ड ऑर्डर*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंगस्टोक, यूके.
4. अब्राहम हिर्श और नील डि मार्ची (1985), *मिल्टन फ्रीडमैन : इकॉनॉमिक्स इन थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिशिगन प्रेस, ऐन आरबर, मिशिगन.

— अभय कुमार दुबे

## नस्लवाद

(Racism)

नस्लवाद एक ऐसे विश्वास या विचारधारा का नाम है जिसके आधार पर एक रूढ़ मान्यता बनायी जाती है कि किसी प्रजातीय समूह के प्रत्येक सदस्य में कुछ निश्चित लक्षण होने अनिवार्य हैं। चमड़ी के एक खास तरह के रंग, बालों, शरीर के आकार-प्रकार और चेहरे के नाक-नक्श से जोड़ कर उस समूह के सभी सदस्यों में कुछ विशेष योग्यताएँ या अयोग्यताएँ आरोपित की जाती हैं। इस प्रकार एक नस्ली छवि बना ली जाती है। प्राचीन काल से ही इस तरह की रूढ़ छवियों का कुछ समूहों को सुविधासम्पन्न करने और कुछ को वंचित करने के लिए इस्तेमाल किया जाता रहा है। आधुनिक युग में नस्लवाद का लोकप्रिय तात्पर्य गोरी चमड़ी वालों द्वारा कालों और अश्वेतों को हीन मान कर उन्हें अधीनस्थ बनाने की प्रक्रिया के रूप में लिया जाता है। लेकिन



व्यापक और ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर नस्लवाद कई तरह के सामाजिक समूहों के आपसी संबंधों में पाया जाता है। दास प्रथा और उपनिवेशवाद से गहरा रिश्ता रखने वाली इस विचारधारा के पक्ष में कई तरह के वैज्ञानिक तर्क भी जुटाये जाते रहे हैं। राज्य की संस्था द्वारा भी नस्लवादी रवैया अख्तियार करके उसे संस्थागत रूप दिया गया है। खास बात यह है कि उपनिवेशवाद और दास प्रथा खत्म हो जाने से नस्लवाद खत्म हो जाने के बजाय और बढ़ गया है। पहले उसका प्रयोग कमतर समझे जाने वाले लोगों को गुलाम और परतंत्र बनाने में किया जाता था। अब खुद को श्रेष्ठतर मानने वाले लोग पूर्व-दासों या उपनिवेशितों से फ़ासला क़ायम रखने के लिए नस्लवादी आग्रहों और संस्थागत उपायों का इस्तेमाल करते हैं। स्वयं को उदारतावाद और आज़ादी का सबसे बड़ा झण्डाबरदार कहने वाले समाजों और राष्ट्रों में नस्लवाद की खुली संस्थागत मौजूदगी की आसानी से शिनाख़्त की जा सकती है। आधुनिक राजनीति में नस्लवादी आयामों वाले कई विचार और संरचनाएँ प्रभावी रही हैं और आज भी हैं। फ़्रासीवाद, जातीयतावादी राष्ट्रवाद, 'एथनिक क्लीनसिंग' (जातीयतावादी जनसंहार) और रंगभेद को उसके उदाहरणों के रूप में देखा जा सकता है।

नस्ल आधारित भेद को मानवीय समाज का केंद्रीय तत्त्व साबित करने की तमाम वैज्ञानिक कोशिशों (जैसे उन्नीसवीं सदी में प्रतिपादित यूजेनिक्स या सुजननवाद का सिद्धांत) के बावजूद इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि नस्ल का विचार मुख्यतः एक सामाजिक कारीगरी है। चाहे आर्यों और द्रविड़ों के बीच का नस्लगत फ़र्क हो, जर्मन आर्यों और यहूदियों, जिप्सियों, पोलों और स्लावों के बीच के अंतर का सवाल हो या अरबों और पूर्वी अफ़्रीकियों के अंतर का मुद्दा हो, इन सभी के पीछे राजनीतिक और सत्तामूलक स्वार्थ काम करते रहे हैं। किसी विशुद्ध नस्ल का दुनिया में अस्तित्व ही नहीं है। यह गढ़ंत तो उन लोगों द्वारा तैयार की गयी थी जो सत्तारूढ़ थे और उपनिवेशित जनता पर पर अपने वर्चस्व को वैध ठहराना चाहते थे। आगे चल कर नस्लवाद औपनिवेशिक सत्ता क़ायम रखने के मुख्य औज़ार में बदल गया।

एशिया, अफ़्रीका और लातीनी अमेरिका में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के बाद यूरोपियनों ने उपनिवेशितों को ईसाइयत में दीक्षित करने के लिए मिशनरियों का सहारा लिया। इंका और माया जैसी विकसित सभ्यताओं को बर्बर घोषित कर दिया गया, क्योंकि धार्मिक आस्थाओं के लिहाज़ से वे पागान सभ्यताएँ थीं। जिन लोगों ने धर्मांतरण से इनकार कर दिया, उन्हें या तो मार डाला गया या गुलाम बना लिया गया। यूरोपियनों का दावा था कि वे इन समाजों को अभागेपन और अज्ञान के दौर से निकालना चाहते हैं। यूरोपियन

नस्लवादियों के अनुसार हीन नस्ल में पैदा होने के कारण अमेरिण्डियन लोग बुद्धिसंगत व्यवहार और कार्रवाई करने की क्षमताओं से सम्पन्न नहीं हैं। उनके कर्मकाण्ड और अनुष्ठान बर्बर क्रिस्म के हैं। उनके बीच प्रचलित विवाह और परिवार के रूप मुख्यतः पापाचार की श्रेणी में आते हैं। इस तरह के तर्कों के आधार पर यूरोपीय नस्लवाद इस नतीजे पर पहुँचा कि ये नस्लें असभ्य हैं। इसी तरह उपनिवेशवादियों ने सभी तरह के अफ़्रीकी समाजों को पिछड़ा बता कर अनिवार्य मार्गदर्शन के योग्य क्रार दे दिया। इन आग्रहों को लोकप्रिय मानस में दर्ज करने के लिए यूरोप की जनता के बीच इस तरह की कहानियाँ फैलायी गयीं कि जिन लोगों को उपनिवेशित किया जा रहा है वे बर्बर नस्लों में पैदा होने के कारण मानवता और सभ्यता के लिए ख़तरनाक हैं।

एशियाई उपनिवेशों में यूरोपियनों का रवैया थोड़ा अलग रहा। वहाँ उन्होंने राज-काज के स्थानीय रूपों को एकदम प्राथमिक और बेकार क्रार दिया ताकि पश्चिमी नमूने का शासन-प्रशासन इन समाजों पर थोपा जा सके। एशियाई जनता को असभ्य कहने के बजाय यूरोपियनों ने उन्हें कभी 'स्त्रैण' तो कभी 'यौनाचार में लिप्त रहने वाले' कह कर कमतर क्रार दिया। प्रतिभाशाली चीनी, जापानी और भारतीय दार्शनिक, वैज्ञानिक और गणितज्ञों को उनके कन्फ़्यूशसवादी, बौद्ध या वैदिक विश्वासों के कारण सताया गया और हाशिये पर फेंक दिया गया। ऐसी बात नहीं कि इस तरह के नस्लवादी प्रचार का यूरोप के भीतर से विरोध न हुआ हो। कई धर्मशास्त्रियों, विद्वानों और मानवतावादियों ने इन प्रवृत्तियों के खिलाफ़ जम कर बहस की, पर उपनिवेशों से आने वाली दौलत के सामने उनके तर्क न टिक सके।

अफ़्रीकियों को अज्ञान के अंधकार से निकालने के नाम पर गोरों ने अट्टारहवीं सदी के दौरान अपने उपनिवेशों में लाखों-लाख कालों का आयात करके उनके श्रम को चाय, काफ़ी, चीनी, कपास और तम्बाकू की खेती में झोंक दिया। इन गुलामों की काली चमड़ी को उनकी विपरीत परिस्थितियों में हाड़तोड़ श्रम करने के प्रति उनकी सहनशक्ति का प्रमाण माना गया। गोरों के सामने इन मजदूरों की हैसियत मवेशियों से अधिक नहीं थी। इन दासों का कालापन उनके लिए अभिशाप बन गया। इसके कारण वे गोरी आबादी में घुल-मिल नहीं सकते थे और न ही उनके लिए स्वतंत्र समुदायों का गठन करना सम्भव था।

इस इतिहास ने उन्नीसवीं सदी तक आते-आते नस्लवाद को चमड़ी के रंग के साथ जोड़ दिया। यूरोप में दास प्रथा के उन्मूलन की मुहिमें शुरू हुई। हाल ही में गुलामी की बेड़ियों से छूटे कालों को खुद से दूर रखने के लिए नस्लवादी आग्रहों का इस्तेमाल होने लगा। अब चमड़ी का कालापन काहिली, बेईमानी, जरायम और आम तौर पर अयोग्यता जैसी

अक्षमताओं के रूप में परिभाषित किया जाने लगा। उधर एशिया में चीनियों की नस्ली हीनता में विश्वास करने वाले अंग्रेजों ने अपना वर्चस्व क्रायम रखने के लिए वहाँ की जनता के बीच अफ्रीम की लत को प्रोत्साहित करना जारी रखा। इससे सारी दुनिया में चीनियों की नस्लगत रूप से अफ्रीमची होने की छवि स्थापित करने में इस प्रकरण की प्रमुख भूमिका रही। दरअसल, उन्नीसवीं सदी में नस्लवाद क्रमशः जैविक रूप लेता चला गया। चीनियों जैसी आँखों, अफ्रीकियों जैसी मोटी नाक, गुम्मतदार बाल का मतलब कमतर नस्ल हो गया। ऐसी शक्ल-सूरत वाले लोगों को समाज में समानता का दर्जा मिलना तक्ररीबन असम्भव सा हो गया। काली औरतों को घरेलू काम-काज के उपयुक्त समझने का चलन इसी दौर में हुआ। चीनी और भारतीय पुरुषों से रेल की पटरियाँ बिछवायी गयीं, कपड़े धुलवाये गये और दिवालिया होते जा रहे बागानों पर काम करने वाले अफ्रीकी दासों की जगह उन्हें कोल्हू में जोत दिया गया। श्वेतांगों ने साक्षरता, सम्पत्ति कानून, कराधान और मतदान के अधिकार संबंधी कानूनों को नस्लवादी नजरिये से बना कर इन श्रमिकों को सभी तरह के अधिकारों से वंचित करना जारी रखा।

आधुनिक समाजों में संयुक्त राज्य अमेरिका में पाये जाने वाले नस्लवाद की समाज-विज्ञान के हलकों में काफ़ी चर्चा मिलती है। हाल में प्रकाशित कुछ अध्ययनों में दिखाया गया कि अमेरिकी समाज का नस्लवाद इतिहास की दुर्घटना न हो कर सत्रहवीं सदी के बाद से धीरे-धीरे योजनाबद्ध रूप से खड़ी की गयी एक संरचना है जिसे कई तरह के परिवर्तनों के बावजूद क्रायम रखा गया है। आज अमेरिका का नस्लवाद वहाँ के सभी प्रमुख सामाजिक समूहों, नेटवर्कों और संस्थाओं में कहीं मुखर तो कहीं मौन भाव से प्रभावी होते हुए देखा जा सकता है।

पिछले दिनों कुछ दलित समूहों द्वारा भारत में होने वाले जातिगत भेदभाव को नस्लवाद की श्रेणी में रख कर समझने की कोशिश हुई है। इससे जाति और नस्ल की श्रेणियों की समाजशास्त्रीय जाँच-पड़ताल नये सिरे से करने का मौक़ा मिला है। इसी तरह भारत के उत्तर-पूर्वी इलाके में रहने वाले मंगोलियन शक्ल-सूरत के नागरिकों के साथ उत्तर भारत में होने वाले सुलूक को लेकर भी भारतीयों पर नस्लवादी रुझानों का आरोप लगाये है। हालाँकि भारत में काले और गेहूँ रंग के लोगों की बहुसंख्या है, पर गोरे रंग को सुंदरता का पर्याय समझने की प्रवृत्ति पर भी नस्लवादी रुझान का आक्षेप लगाया जाता है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स

प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

## संदर्भ

1. एलन थियोडोर (1994-1997), *द इनवेंशन ऑफ़ व्हाइट रेस*, दो खण्ड, वरसो, लंदन.
2. आर. जो फ़ीगिन (2009), *रेसिस्ट अमेरिका : रूट्स, करंट रियलिटीज़ एंड फ़्यूचर रिपैरेशंस*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क, एनवायी,
3. फ्रेंक डिकोटर (सम्पा.) (1997), *द कंस्ट्रक्शन ऑफ़ रेशियल आइडेंटिटीज़ इन चाइना एंड जापान*, युनिवर्सिटी ऑफ़ हवायी प्रेस, होनोलूलू.
4. पॉल गिलरॉय (2000), *अगेंस्ट रेस : इमेजनिंग पॉलिटिकल कल्चर बियॉन्ड द क्लर लाइन*, बेलकनेप प्रेस ऑफ़ हावर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
5. सिडनी डब्ल्यू (1974), *मिंटज़ (सम्पा.)*, *स्लेवरी, कोलोनियलिज़म एंड रेसिज़म*, नॉर्टन, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## न्याय

(Justice)

न्याय के जिस विचार की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उसका सूत्रीकरण आधुनिक राष्ट्र-राज्य के सेकुलर दायरों की देन है। यह न्याय की उन विभिन्न व्याख्याओं से अलग है जिन्हें धार्मिक सिद्धांतों और पारम्परिक रीति-रिवाजों की रोशनी में किया जाता रहा है। न्याय का यह विचार दो सहस्राब्दी पहले प्लेटो और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से भी परे जाता है। प्लेटो के लिए न्याय का मतलब था पदानुक्रमवादी व्यवस्था क्रायम रखना जिसमें दार्शनिक-बौद्धिक क्षमताओं से सम्पन्न लोगों को सबसे ऊपर रहना था और कारीगरों-मजदूरों को सबसे नीचे। इस पदानुक्रम में स्त्रियों के लिए कोई जगह नहीं थी। अरस्तू का न्याय समाज में समानता, सामंजस्य और संतुलन क्रायम करने के साथ बँधा हुआ था, लेकिन वह भी समाज को वर्गों में बाँट कर लागू होता था।

रोज़मर्रा की जिंदगी में न्याय को कानून की एक खूबी के रूप में देखा जाता है। लेकिन कौन नहीं जानता कि सभी कानून न्यायसंगत नहीं होते। अन्यायपूर्ण कानूनों के खिलाफ़ दुनिया में राजनीतिक और सामाजिक आंदोलन चलते रहे हैं।

रंगभेद की नीति बाकायदा कानूनों के ज़रिये ही लागू की जाती थी। न्याय के साथ निष्पक्षता और औचित्य की धारणा भी स्वाभाविक रूप से जोड़ी जाती है। न्याय के तीन सिद्धांत ऐसे हैं जिनका दावा है कि वे निष्पक्षता और औचित्य की कसौटी पर एक सीमा तक खरे उतर सकते हैं। ये हैं न्याय का सामाजिक सिद्धांत, न्याय का क्रियाविधिक सिद्धांत और न्याय का मार्क्सवादी सिद्धांत।

सामाजिक सिद्धांत न्याय को समाज के तत्त्व के रूप में ग्रहण करता है। वह न्याय का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं करता कि व्यक्ति को क्या मिलता है और क्या नहीं। वह एक तयशुदा पैमाने पर कस कर देखता है कि समाज कितना न्यायपूर्ण है। न्याय के सामाजिक न्याय के सिद्धांत के साथ वितरणमूलक न्याय की अवधारणा जुड़ी हुई है। इस पर पात्रता, योग्यता और आवश्यकता की तीन कसौटियों के संदर्भ में विचार किया जा सकता है। पात्रता के अनुसार यह तय किया जाता है कि किसी स्त्री या पुरुष को पुरस्कार मिलना चाहिए या दण्ड। अर्थात् पात्रता का निर्णय उसके कामों और प्रयासों के मुताबिक किया जाएगा। लेकिन यह मामला इतना सीधा नहीं है। मसलन, अगर कोई छात्र परीक्षा में विफल हो जाता है, तो उसके पुरस्कार या दण्ड के बारे में तय करते समय यह भी देखना होगा कि कहीं वह अपने बीमार माँ-बाप की देखभाल करने या शराबी पिता की हरकतों के कारण तो पढ़ने-लिखने में समय देने से वंचित नहीं रह गया है। योग्यता का आधार भी पात्रता से जुड़ा हुआ है। वह यह भी कहता है कि सुपात्र को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। सवाल यह है कि क्या सुपात्रता निर्धारित करने का कोई निर्विवाद पैमाना भी है? क्या दिल्ली में बनने वाले फ्लाईओवरों के निर्माण में खटने वाले मज़दूर को मिलने वाला उसकी मेहनत और लगन का पुरस्कार एक क्रिकेटर द्वारा किये जाने वाले परिश्रम और लगन जैसा ही होता है? जाहिर है कि समाज और तंत्र पात्रता और योग्यता निर्धारित करने की समान कसौटियों पर अमल नहीं करता। इसी जगह आवश्यकता का आधार आता है। इसके अनुसार व्यक्तियों की क्षमताएँ भले ही अलग-अलग हों, पर उनकी परवाह किये बिना सुविधाओं का वितरण उनकी आवश्यकताओं के मुताबिक किया जाना चाहिए। यानी सात बच्चों और बूढ़े माँ-बाप के साथ रहने वाले एक सफ़ाई कर्मचारी को चार कमरों का फ्लैट मिलना चाहिए, और दो बच्चों के परिवार के साथ रहने वाले एक न्यूरो सर्जन को दो कमरों का फ्लैट। जाहिर है कि अगर हम विपुल संसाधनों वाले समाज में रह रहे होते तो वितरणमूलक न्याय की समस्या ही पैदा नहीं होती। चूँकि ऐसा नहीं है इसलिए वितरण का प्रश्न अहम बन जाता है कि किसे क्या और क्यों मिलना चाहिए। इसी जगह वितरणमूलक न्याय सुनिश्चित करने के लिए राज्य की संस्था की पहलकदमी का प्रश्न उभरता है।

क्रियाविधिक सिद्धांत यह मान कर चलता है कि अगर कुछ नियम-कानूनों का पालन किया जाता रहे तो न्याय की माँग पूरी होती रहेगी। इसके तहत उन क्रियाविधियों के नतीजों और न्याय के मूल्यांकन के बीच कोई संबंध नहीं होता। समाज का तत्त्व होने के बजाय न्याय यहाँ व्यक्ति के व्यवहार से जुड़ा हुआ है। यह उसूल मान कर चलता है कि स्वायत्त और बुद्धिसंगत होने के नाते व्यक्ति स्वतंत्र रूप से अपने विकल्प चुनता है और अपने चुनाव के फ़लितार्थों की ज़िम्मेदारी भी उठाता है। इस सिद्धांत के प्रमुख प्रतिपादक रॉबर्ट नॉज़िक के अनुसार अगर किसी व्यक्ति ने धोखाधड़ी और छल-कपट का सहारा लिए बिना विशाल सम्पत्ति अर्जित की है, और उसे जमा करने में किसी नियम-कानून का उल्लंघन नहीं किया गया है, तो क्रियाविधिक न्याय उस सम्पत्ति के पुनर्वितरण की किसी भी कोशिश को अन्याय की श्रेणी में मानेगा। हाँ, अगर सम्पत्ति के अर्जन में नियम तोड़े गये हैं, तो नॉज़िक राज्य को कुछ संशोधनकारी अधिकार देने के लिए तैयार हो सकते हैं। कुल मिला कर नॉज़िक राज्य को ऐसा कोई अधिकार नहीं देना चाहते जिससे व्यक्ति स्वातंत्र्य के सीमित होने का खतरा पैदा होता हो।

क्रियाविधिक न्याय का सिद्धांत उत्पादन और वितरण में फ़र्क नहीं करता। वह मानता है कि हर व्यक्ति निजी स्तर पर अपने हक़ों का दावा कर सकता है जिसके लिए पूरे समाज को साथ ले कर चलने वाले वितरण के किसी अमूर्त सिद्धांत की परवाह करना ज़रूरी नहीं है। अगर राज्य व्यक्ति के हक़ों को निर्धारित करने की कोशिश करता है, तो यह सिद्धांत उसे राज्य के अन्याय की संज्ञा देता है। व्यक्तिवाद पर दृढ़ आस्था रखने वाला यह उसूल इस बात को नहीं मानता कि समाज को कुछ लक्ष्यों और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सामूहिक प्रयास करना चाहिए। न्याय के क्रियाविधिक सिद्धांत और बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था के बीच घनिष्टता का संबंध है। इस सिद्धांत के पैरोकार बाज़ार की प्रक्रियाओं में किसी का हस्तक्षेप उचित नहीं मानते, क्योंकि उनके विचार से बाज़ार अपने आप संसाधनों का सक्षम बँटवारा कर सकता है। उनकी निगाह में पात्रता या आवश्यकता आधारित हस्तक्षेप भी उचित नहीं है, क्योंकि एक मुक्त समाज के पास इन कसौटियों को निर्धारित करने का कोई सर्वमान्य तरीका नहीं होता। ये पैरोकार बाज़ार की होड़ में पिछड़ जाने वालों को राज्य की मदद देने के बारे में तो हमदर्दी से सोच सकते हैं, पर वे इसे न्याय का प्रश्न मानने के लिए तैयार नहीं होंगे। क्रियाविधिक सिद्धांत पर आधारित न्याय के विचार को समृद्ध करने में जॉन रॉल्स ने महत्वपूर्ण योगदान किया है जिस पर हम अगली प्रविष्ट में विचार करेंगे।

न्याय का मार्क्सवादी सिद्धांत काफ़ी-कुछ उसके सामाजिक सिद्धांत के साथ खड़ा होता है। अपनी पुस्तक

क्रिटीक ऑफ गोथा प्रोग्राम में मार्क्स ने न्याय की अवधारणा पर विस्तार से चर्चा की है। वे कहते हैं कि संक्रमणकालीन चरित्र के समाजवादी समाज में तो न्याय के विचार की आवश्यकता पड़ेगी, पर साम्यवादी समाज में नहीं। समाजवादी समाज में हर व्यक्ति अपने श्रम के मुताबिक या सामाजिक उत्पादन में अपने योगदान के मुताबिक हासिल करेगा। लेकिन, मार्क्स को इस उसूल में एक कमी भी लगती है कि न तो व्यक्ति की प्रतिभा और क्षमता के विभिन्न स्तरों का ध्यान रखा गया है, और न ही आवश्यकता को कसौटी बनाया गया है। साम्यवादी समाज में न्याय के विचार की ज़रूरत इसलिए नहीं पड़ेगी कि उसमें संसाधन विपुल होंगे। हर व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जा सकेगा एवं बदले में उसे उसकी ज़रूरत के मुताबिक दिया जा सकेगा। जाहिर है कि मार्क्स यहाँ एक उच्चतर क्रिस्म के समुदाय की कल्पना कर रहे हैं जो तब तक नहीं बन सकता जब तक पूँजीवादी उत्पादन संबंधों के तहत शोषणमूलक उजरती श्रम की ज़रूरत पड़ती रहेगी।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय: नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता: अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

## संदर्भ

1. कृष्णा मेनन (2008), 'जस्टिस', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : एन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीतिक दर्शन : एक परिचय*, अनुवाद : कमल नयन चौबे, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
3. माइकल वाल्ज़र (1983), *स्फेयर्स ऑफ जस्टिस : अ डिफेंस ऑफ़ प्लूरलिज़्म ऐंड ईक्विटी*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
4. रॉबर्ट नॉज़िक (1981), *एनार्की, स्टेट ऐंड यूटोपिया*, बेसिल ब्लैकवेल, लंदन.
5. कार्ल मार्क्स (1875), *क्रिटीक ऑफ गोथा प्रोग्राम, 1875*, एचटीटीपी://डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू.इकॉन.उटाह.एडु/-ईएचआरबीए आर/गोथा.पीडीएफ.

— अभय कुमार दुबे

## न्याय, नारीवादी आलोचना

(Justice, The Feminist Critique)

ऊपर की दो प्रविष्टियों में न्याय के सिद्धांत की उपयोगितावादी, मार्क्सवादी, समतावादी और सक्षमतावादी निष्पत्तियों पर विचार किया गया है। न्याय का यह विमर्श उस समय तक पूरा नहीं हो सकता जब तक न्याय के उदारतावादी सिद्धांतीकरण की नारीवादी आलोचना पर गौर न कर लिया जाए। नारीवादी विद्वानों ने न केवल न्याय की उपयोगितावादी और रॉल्सियन प्रस्थापनाओं की प्रखर आलोचना की है, बल्कि इस प्रश्न पर अपने भीतरी दायरों में भी समृद्ध बहस चलायी है।

नारीवादी दार्शनिक राजनीतिक सिद्धांत में प्रचलित न्याय की उस परिभाषा से सहमत नहीं हैं जिसके आधार में नीतिशास्त्र की सार्वभौम, वस्तुनिष्ठ और निर्वैयक्तिक मान्यताएँ मौजूद हैं। कैरल गिलिगन ने तर्क दिया है कि व्यक्ति की आत्मपरकता को समझने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता वह है जिसे जॉन रॉल्स अपनाते हैं और जिसके मुताबिक एक अलग-थलग और अमूर्त क्रिस्म की आत्मपरकता कल्पित की जाती है। दूसरा रास्ता नारीवादियों का है जिसके तहत व्यक्ति की इयत्ता को समझने के लिए एक संयोजी (जुड़ी हुई और जोड़ने वाली) संकल्पना सामने आती है। अमूर्त आत्मपरकता पुरुष के रवैये के अनुकूल है जिसके आधार पर निष्पक्ष, सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ न्याय की अवधारणा उभरती है। लेकिन, स्त्री के भीतर व्यक्त होने वाली संयोजी आत्मपरकता मुख्यतः देखभाल, स्नेह और परवाह करने के गुणों पर आधारित है। एक अन्य नारीवादी विद्वान ने न्याय की इन दो अलग-अलग नीतियों के उदाहरण के रूप में इब्राहीम और सेरेस के दृष्टांत पेश किये हैं। वे कहती हैं कि इब्राहीम तटस्थ, सार्वभौम और बुद्धिसंगत उसूलों के लिए अपने बेटे की बलि देने के लिए तैयार हो गये थे, पर सेरेस अपने बेटे की सुरक्षा और देखभाल को प्राथमिकता देते हुए किसी भी सिद्धांत की बलि देने के लिए तैयार दिखती हैं।

नारीवादियों की यह आलोचना पहली नज़र में आकर्षक लगती है, पर नारीवाद की दुनिया में ही सभी लोग इससे सहमत नहीं हैं। न्याय और देख-भाल के इस द्विभाजन से कैथरीन मेकिनन और जोआन ट्रॉटो समेत कई नारीवादी विद्वानों को दिक्कत है। वे कहती हैं कि इस तरह का द्विभाजन अंत में दोनों लिंगों की वर्तमान रूढ़ छवियों को ही मज़बूत करता नज़र आयेगा। आखिर यह क्यों मान लिया जाए कि पुरुष स्नेह और देखभाल करने के गुणों से वंचित ही होता है? इसी तरह यह क्यों मान लिया जाना चाहिए कि स्त्री के

भीतर बुद्धिसंगत, सार्वभौम और वस्तुनिष्ठ होने की क्षमता हो ही नहीं सकती? यह सही है कि आज की दुनिया में इस तरह का द्विभाजन कई बार हक्रीकृत के तौर पर नज़र आता है, पर असल में यह अट्टारहवीं सदी के बाद युरोप में हुए कई परिवर्तनों का फलितार्थ है। दरअसल, स्त्री की परस्पर संयोजी प्रवृत्ति और पुरुष की स्वायत्त प्रवृत्ति आम तौर पर एक असमान संदर्भ का नतीजा है। इसी असमान संदर्भ के कारण स्त्री और पुरुष के भीतर विषम मूल्यांकन के आधार पर इयत्ता की भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ पैदा होती हैं। संयोजी बोध अपने आप में मूल्यवान है पर उसे इयत्ता के स्वायत्त बोध का आनुषंगिक बनना होगा, न कि उसका प्रतिलोम।

ज्यादातर नारीवादी न्याय की इन दोनों नीतिगत संरचनाओं को जोड़ने के पक्ष में दिखाई पड़ते हैं। सूज़न मोलर ओकिन ने नारीवादी नज़रिये से न्याय के सिद्धांत को गढ़ने का सबसे ज़ोरदार प्रयास किया है। अपनी रचना *जस्टिस, जेंडर एंड फेमिली* में वे कहती हैं कि न्याय पर होने वाली दार्शनिक चर्चाओं में परिवार के दायरे को शायद ही कोई महत्त्व दिया जाता हो। रॉल्स भी परिवार को अपने विमर्श में शामिल नहीं करते। परिवार को 'निजी' दायरे में मान लिया जाता है, और न्याय को 'सार्वजनिक'। इस हक्रीकृत की कोई परवाह नहीं की जाती कि न्याय का विचार क्रान्तियों और संस्थाओं की जिस दुनिया का विधेयक है, वह दुनिया ही परिवार और उसके कामकाज के लिए विधेयक की हैसियत रखती है। आखिरकार सम्पत्ति, उत्तराधिकार, तलाक, गोद लेने जैसे क्रानून ही पारिवारिक जीवन को नियंत्रित-संचालित करते हैं। यानी जो सार्वजनिक है उसका सीधा असर निजी दायरे पर पड़ता है। सार्वजनिक दायरे में लोगों का जीवन पारिवारिक दायरे में उनके जीवन के तत्त्वों से रचा जाता है। परिवार के भीतर श्रम का असमान विभाजन बाहर की दुनिया में स्त्रियों के जीवन को तरह-तरह से समस्याग्रस्त करता है। वे उन विषमताओं का शिकार होती जाती हैं जिन्हें सामाजिक परम्पराओं द्वारा पुष्ट किया जाता है। रसोई, बच्चों के लालन-पालन और घर का कामकाज उनकी ऊर्जा को इस क्रूर सोख लेता है कि वे घर की दहलीज़ से बाहर के जीवन का आनंद उठाने लायक ही नहीं रह जातीं।

ओकिन की दलील है कि परिवार के भीतर की असमानताओं के प्रति मौन रखने वाला न्याय का कोई भी सिद्धांत अपूर्ण है। उदारता, त्याग, धैर्य और सेवा जैसे गुणों की आड़ में अगर परिवार में अन्याय पाला-पोसा जाता है, और बच्चे उसी माहौल में बड़े होते हैं, तो उनके भीतर न्याय-बोध कैसे पैदा हो सकता है? इस पहलू की उपेक्षा करने की गलती रॉल्स ने भी की है। रॉल्स की दुनिया में तो केवल परिवार के पुरुष मुखिया एक साथ बैठ कर न्याय के उसूल को स्वीकार करते नज़र आते हैं। वे परिवार की संस्था को

समाज की बुनियादी इकाई मान कर कहते हैं कि न्याय के उसूल उसी के लिए बनाने ज़रूरी हैं, पर परिवार के भीतर होने वाले अन्याय की चर्चा नहीं करते।

ओकिन सुझाव देती हैं कि रॉल्स जिसे 'अज्ञान का आवरण' कह रहे हैं, उसमें व्यक्ति को यह भी नहीं पता होना चाहिए कि वह पुरुष है या स्त्री। अपने लिंग को जाने बिना ही उससे उम्मीद की जानी चाहिए कि वह उस परिवार का मूल्यांकन करे जो समाज की बुनियादी संरचना है। तभी वह परिवार के भीतर होने वाली नाइंसाफ़ियों का मूल्यांकन कर पायेगा और केवल तभी न्याय का एक वास्तविक मानवीय विचार सूत्रबद्ध किया जा सकेगा।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाॉट, माइकेल वालज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

### संदर्भ

1. सूज़न मोलर ओकिन (1998), *जस्टिस, जेंडर एंड फेमिली*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
2. कृष्णा मेनन (2008), 'जस्टिस' (देखें : नारीवादी आलोचनाओं वाला हिस्सा), राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीरोडक्शन*, पियर्सन लोंगमेन, नयी दिल्ली.
3. एन.पी. बैरी (1992), *ऐन इंटीरोडक्शन टु मॉडर्न पॉलिटिकल थियरी*, मैकमिलन, बैसिंगस्टोक.

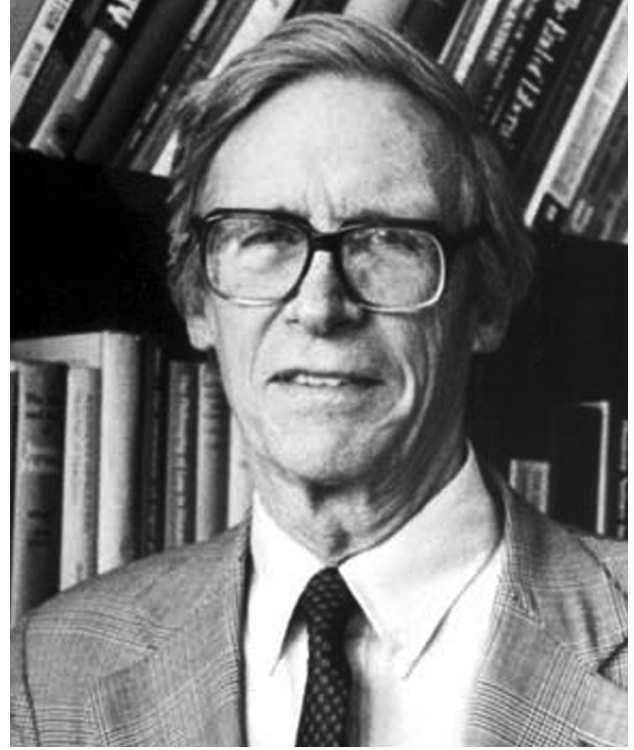
— अभय कुमार दुबे

## न्याय, रॉल्स का सिद्धांत

(Justice, Rawls's Theory)

न्याय के क्रियाविधिक सिद्धांत की खामियाँ दूर करके उसे अधिक स्वीकार्य बनाने का श्रेय अमेरिकी राजनीतिक दार्शनिक जॉन रॉल्स की प्रस्थापनाओं को जाता है। 1971 में प्रकाशित उनकी पुस्तक *अ थियरी ऑफ जस्टिस* से पहले राजनीतिक दर्शन की दुनिया एक तरह से ठंडी पड़ी हुई थी। रॉल्स की पुस्तक ने मानकीय राजनीतिक सिद्धांत के अनुशासन में नयी जान फूँकी और उसे जल्दी ही इस क्षेत्र की अग्रगामी रचना मान लिया गया। उन्होंने क्रियाविधिक सिद्धांत को समानता के परिप्रेक्ष्य के साथ जोड़ा और उसे उदारतावाद के लिए अधिक आकर्षक बना दिया। उनकी कोशिशें न्याय की क्रियाविधिक और वितरणमूलक प्रस्थापनाओं के बीच पुल की तरह काम करती नज़र आती हैं। रॉल्स भी रॉबर्ट नॉज़िक की तरह इस बात पर जोर देते हैं कि अगर नियम-क्रानुओं का सावधानी से पालन किया जाए तो न्याय की गारंटी की जा सकती है। साथ में वे यह भी मानते हैं कि क्रानुओं के अनुपालन के बावजूद अन्यायपूर्ण परिस्थितियाँ बन सकती हैं। इस समस्या का समाधान करने के लिए उनके पास दो तजवीज़ें हैं : पहली, बुद्धिसंगत व्यवहार करने वाले लोग नियंत्रित परिस्थितियों के तहत अपने-आप ऐसे उसूलों को अपनायेंगे जो वितरणमूलक न्याय के बुनियादी विचारों के भी मुताबिक हों; दूसरी, न्याय केवल तभी क्रायम रह सकता है जब समानता के सिद्धांत के किसी भी उल्लंघन को तार्किक ढंग से न्यायसंगत ठहराया जा सके।

अपनी मनमर्जी की नियंत्रित परिस्थितियाँ प्राप्त करने के लिए रॉल्स ने ऐसे लोगों की कल्पना की है जिन्हें नहीं पता होगा कि वे किस सामाजिक और आर्थिक संदर्भ से जुड़े हैं। उन्हें अपने स्वार्थों, कुशलताओं, आवश्यकताओं आदि की कोई जानकारी नहीं होगी। यानी उनके चुनाव में स्वार्थ किसी भी तरह से हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा। रॉल्स के शब्दों में ऐसे लोग 'नाजानकारी के आवरण' में छिपे होंगे। इसका मतलब यह नहीं है कि इन लोगों को अर्थशास्त्र या मनोविज्ञान का भी ज्ञान नहीं होगा। इन विज्ञानों की शुरुआती जानकारी से लैस ये लोग 'न्याय-बोध' से सम्पन्न होंगे। उन्हें अपने हित का एहसास होगा पर उनके भीतर स्वार्थी प्रवृत्तियाँ नहीं होंगी। इन लोगों के पास उत्तम जीवन से संबंधित अपनी कोई खास दृष्टि नहीं होगी, पर वे अपनी स्वतंत्रता, अवसरों की उपलब्धि, आमदनी, सम्पत्ति और आत्म-सम्मान जैसे मूल संसाधनों में अधिकतम वृद्धि अवश्य करना चाहेंगे। चूँकि वे एक-दूसरे से ईर्ष्या भी नहीं करेंगे, इसलिए दूसरों की हैसियत



जॉन रॉल्स (*अ थियरी ऑफ जस्टिस*)

पर उन्हें कोई आपत्ति भी नहीं होगी।

रॉल्स यह मान कर चलते हैं कि नाजानकारी का आवरण हटने पर बनने वाली उत्तम जीवन की अपनी-अपनी धारणाओं के मुताबिक ये लोग उसे हासिल करने की कोशिश करेंगे। पर जब उन्हें दिखेगा कि वे न्यूनतम फ़ायदे की स्थिति में हैं, तो उन्हें ज़रा सा भी नुकसान स्वीकार नहीं होगा। यानी जोखिम लेने से बचने की भरपूर कोशिश के तहत वे ऐसा विकल्प चुनेंगे जो उनके लिए कम से कम हानिकारक हो। रॉल्स द्वारा परिकल्पित ऐसे लोगों को न्याय का आदर्श सिद्धांत ही पसंद आयेगा जिसके मुताबिक (1) ऐसा हर व्यक्ति स्वतंत्रता के सर्वाधिक विस्तृत उस स्वरूप को चुनेगा जो दूसरों की स्वतंत्रता के पूरी तरह से अनुकूल हो; (2) ऐसे लोग सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का विन्यास इस प्रकार करेंगे कि (अ) सबसे कम लाभान्वित होने वाले को सर्वाधिक लाभ हो सके, और (ब) निष्पक्ष समानता व अवसर की परिस्थितियों के तहत सभी के लिए पद और हैसियत प्राप्त करने के मौक़े खुले रहें।

रॉल्स की धारणा यह है कि अगर न्याय के सिद्धांत के इन आयामों पर इसी प्राथमिकता के तहत अमल किया जाए तो व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता की क्रीम पर दूसरों की स्वतंत्रता क्रायम रखने की ज़हमत नहीं उठानी पड़ेगी। दूसरे, विषमताओं का क्रम इस प्रकार का होगा कि उनसे पैदा होने वाला लाभ सबसे ज़्यादा उन्हें मिलेगा जो सबसे कम लाभान्वित हैं।

न्याय का यह सिद्धांत काफ़ी-कुछ भारतीय संविधान द्वारा अपनाये गये न्याय के सिद्धांत से मेल खाता है। हमारा संविधान इस बुनियादी अवधारणा को मान कर चलता है कि अगर समाज के सबसे ज़्यादा कमज़ोर लोगों के लिए न्याय हासिल करना है तो समानता के कुछ मानकों से हटने के सुचिंतित उपाय करने पड़ेंगे। इस लिहाज़ से संविधान में औपचारिक समानता के कुछ पहलुओं को छोड़ने वाले प्रावधान किये गये हैं ताकि ऐतिहासिक रूप से वंचित समूहों को लाभान्वित करने की परिस्थितियाँ पैदा की जा सकें। आरक्षण की नीति एक ऐसा ही उपाय है।

रॉल्स के न्याय सिद्धांत ने समाज-विज्ञान की दुनिया को काफ़ी प्रभावित किया है, पर उसकी आलोचना भी हुई है। पहली बात तो यह कही जाती है कि रॉल्स जिस तरह के लोगों की कल्पना करते हैं, वे कहाँ से आयेंगे। क्या भारत जैसे देश में ऐसे लोगों का समूह सम्भव है जो अपने हिंदू, मुसलमान, ब्राह्मण, दलित या नगा और मिज़ो होने के प्रति नाजानकार हो। समुदायवाद के अनुसार व्यक्तियों की शिनाख्त केवल पहले से स्थित सामाजिक संस्थाओं के सदस्यों के रूप में ही की जा सकती है। उनके विचार उस समाज और समुदाय से अलग नहीं हो सकते जिसमें वे पैदा हुए और पले-बढ़े हैं। उनकी वितरणमूलक कसौटियाँ भी उसी के हिसाब से बनेंगी। जो लोग अपने सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भ से कटे हुए हैं उनके द्वारा किया गया चयन सामाजिक रूप से प्रासंगिक ही नहीं होगा।

रॉल्स की दूसरी आलोचना माइकल वालज़र ने की है। वे कहते हैं कि न्याय की कोई भी प्रणाली अंतर्निहित रूप से न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती। उसके साथ जुड़े सामाजिक तात्पर्य ही उसका मूल्यांकन सम्भव बनाते हैं। मसलन, अगर पूरा समाज जाति प्रथा में विश्वास करता है तो उसके मुताबिक़ बनी वितरण की कसौटियाँ उस समाज के लिए न्यायप्रद होंगी।

रॉल्स के सिद्धांत पर तीसरा आरोप यह है कि वह एक ऐसे कल्याणकारी राज्य का नफ़ीस बचाव भर है जो पूँजीवादी उदार-लोकतांत्रिक बुनियाद पर खड़ा हुआ है। यह सिद्धांत न्याय का कोई सार्वभौम विचार पेश नहीं करता, बल्कि उदारतावादी आस्थाओं को तर्कसंगत ठहराने की कोशिश में लगा रहता है। इस आलोचना के आईने में रॉल्स की एक व्याख्या विचारणीय है जिसमें वे मानते हैं कि अवसर और शिक्षा की समानताओं के बावजूद परिवार की संस्था के कारण विषमताएँ बनी रहेंगी। अपने तर्क को पुष्ट करने के लिए वे एक उद्यमी परिवार के पुत्र और एक अकुशल श्रमिक परिवार के पुत्र के बीच तुलना करते हुए कहते हैं कि दोनों के बीच अपेक्षाओं के स्तर पर अंतर रहेगा। इस अंतर से ख़त्म करने

की कोशिश के बजाय अर्थव्यवस्था को और सक्षम बनाने का प्रयास किया जाना चाहिए ताकि अधिक भौतिक समृद्धि उत्पादित हो जिससे सभी (वंचितों समेत) लाभान्वित हो सकें। रॉल्स के आलोचक कहते हैं कि यह बात समानता के उसूल के प्रति उनकी शुरुआती प्रतिबद्धता के ख़िलाफ़ जाती है, वर्ग आधारित विषमताओं की अनिवार्यता के सामने घुटने टेक देती है। आलोचकों के मुताबिक़ वर्गीय विषमता के कारण समाज में सत्ता की तरतमता बनती है जिससे अंततः व्यक्तिगत स्वतंत्रता का हनन होता है।

रॉल्स की चौथी आलोचना अमर्त्य सेन द्वारा प्रतिपादित सक्षमता सिद्धांत से निकलती है। वे कहते हैं कि रॉल्स द्वारा वर्णित मूल संसाधन स्वतंत्रता प्राप्त करने का साधन मात्र हैं, वे स्वतंत्रता की मात्रा और गुणवत्ता तय नहीं कर सकते। मसलन, अगर दो व्यक्तियों के पास ये मूल संसाधन समान मात्रा में हैं तो भी वे एक जैसी स्वतंत्रताएँ हासिल नहीं कर सकते। उनकी उम्र, उनका जेंडर, उनके आनुवंशिक गुण और क्षमताओं का फ़र्क़ उनकी स्वतंत्रताओं में भी विभेदीकरण कर देगा। संसाधनों को वास्तविक स्वतंत्रता में बदलना क्षमताओं पर निर्भर करता है।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ़्रेड्रिख़ वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकल जोसेफ़ ओकशांट, माइकल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ुको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

## संदर्भ

1. जॉन रॉल्स (1972), *अ थियरी ऑफ़ जस्टिस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
2. मॉरीन रामस (2004), *व्हाट्स रंग विद लिबरलिज़म : अ रैडिकल क्रिटिक ऑफ़ लिबरल फ़िलॉसफ़ी*, कंटीनुअम प्रेस, लंदन.
3. कृष्णा मेनन, 'जस्टिस' (देखें : रॉल्स के सिद्धांत और उसकी आलोचनाओं वाला हिस्सा), राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक़ेशन*, पियर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
4. सी.बी. मेकफ़र्सन (2005), *डेमोक्रेटिक थियरी : एसेज़ इन रिट्रीवल*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क.
5. माइकल वालज़र (1983), *स्फ़ेयर्स ऑफ़ जस्टिस : अ डिफ़ेंस ऑफ़ प्लूरलिज़म ऐंड इक्वलिटी*, बेसिक बुक्स, न्यूयार्क.
6. रॉबर्ट नॉज़िक (1981), *एनार्की, स्टेट ऐंड यूटोपिया*, बेसिल ब्लैकवेल, लंदन.

## न्याय दर्शन

(Philosophy of Nyaya)

भारतीय दर्शन के भौतिकवादी विचार-पंथों में से एक न्याय दर्शन का विषय 'न्याय' का प्रतिपादन करना है। तर्कवादी दर्शन के तौर पर वह किसी समस्या के समाधान के लिए तर्काग्रही रहता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में ईश्वर या किसी अलौकिक सत्ता की भूमिका को सिरे से खारिज करने वाले न्याय दर्शन के अनुसार किसी चीज़ की सत्यता के लिए उसका तर्क-सिद्ध होना आवश्यक है। इस दर्शन के आदिआचार्य गौतम माने जाते हैं जिन्होंने सत्य के निर्णयन के लिए तर्क पर बल दिया। इसलिए न्याय को तर्क-विद्या मान लिया गया और वह उत्तरोत्तर एक दर्शन के रूप में विकसित होता चला गया। गौतम के एक दूसरे नाम अक्षपाद के कारण इस दर्शन का भी एक दूसरा नाम अक्षपाद-दर्शन भी है। इसके अलावा यह दर्शन आन्वीक्षिकी के नाम से भी जाना जाता है जिसका अर्थ है देखी या जानी बातों को पुनः देखना या उनका पुनर्परीक्षण करना। इस दर्शन का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात में है कि इसने प्रत्यक्ष ज्ञान को सही ढंग से समझने और उसके परीक्षण और भौतिक परिवर्तनशील यथार्थ को ठीक-ठीक समझने के लिए तर्क और द्वंद्ववाद का इस्तेमाल किया। न्याय दर्शन अनीश्वरवादी दार्शनिक प्रणाली है किंतु सामंती युग में आदर्शवादियों के दबाव के फलस्वरूप न्याय और वैशेषिक के अनुयायियों को कभी-कभी समझौते करने पड़ते थे। अपनी रचना *न्यायसूत्र* में गौतम ने आत्म शब्द का प्रयोग स्वयं भी आत्मा के अर्थ में किया है और यह कहा है कि इसका धर्म संज्ञान है। बाद के भाष्यकारों ने आत्मा को जीवात्मा और परमात्मा तक बना दिया।

अन्य दर्शनों की तरह न्याय दर्शन में भी मोक्ष को चरम लक्ष्य मानते हुए तत्त्वज्ञान से मोक्ष-लाभ बताया गया है तथा उसके उपाय के रूप में प्रमाण-विद्या अर्थात् वस्तु को ठीक-ठीक जानने के उपायों का प्रतिपादन किया गया है। न्याय दर्शन ने विश्व-व्यवस्था के लिए प्रायः वैशेषिक-दर्शन को अपना आधार माना है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक को युगल के रूप में देखा जाता है। दोनों ही दर्शन ब्रह्माण्ड की सृष्टि के संबंध में पारमाणविक सिद्धांत मानते हैं तथा जीवात्माओं के अनेक होने व ईश्वर संबंधी अवधारणाओं को लेकर दोनों में समानता है। लेकिन इन कई साम्यताओं के बावजूद दोनों में मूलभूत अंतर यह है कि एक ने तर्क के विषय का प्रतिपादन किया

और दूसरे ने भौतिक जगत की व्याख्या की है। न्याय तर्क द्वारा पदार्थों के ज्ञान की प्रक्रियाओं और प्रणालियों का वर्णन करता है। वैशेषिक पदार्थों की परमाणु द्वारा रचना की व्याख्या करता है जिसे न्याय ने बिना किसी तर्क के स्वयंसिद्ध स्वीकार कर लिया है।

सम्भव है न्याय दर्शन के सिद्धांत बहुत पहले से प्रचलन में रहे हों लेकिन इसे दार्शनिक स्वरूप देने का श्रेय गौतम की कृति *न्यायसूत्र* को जाता है। इस कृति के पाँच अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय दो-दो परिच्छेद में विभक्त है। यों तो गौतम के जीवन-काल के बारे में स्पष्ट जानकारी नहीं है लेकिन काफी हद तक सम्भव है कि वे महाभारत की रचना के समय जीवित रहे हों। जो भी हो, यह एक तथ्य है कि चार सौ वर्ष ईसा पूर्व कौटिल्य के जमाने में न्याय दर्शन की एक समृद्ध और लोकप्रिय प्रणाली के रूप में प्रस्थापित हो चुका था। जहाँ तक *न्यायसूत्र* का सवाल है, वात्स्यायन के अनुसार यह ग्रंथ उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा की विधि का अनुसरण करता है। प्रथम अध्याय में सामान्यतः सोलह विषयों का वर्णन है जिन पर अगले चार अध्यायों में विचार किया गया है। दूसरे अध्याय में संशय के रूप का प्रतिपादन और हेतु प्रामाण्य का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में आत्मा के स्वरूप, भौतिक देह, इंद्रियों और उनके विषयों, अभिज्ञान व मन के विषय में विचार किया गया है। चौथे अध्याय में संकल्प-शक्ति, शोक, दुःख और उससे छुटकारे के विषय पर विचार किया गया है। प्रकरणवश इस अध्याय में त्रुटि और पूर्ण के साथ उसके अंशों के परस्पर संबंध का भी वर्णन है। अंतिम अध्याय में जाति अर्थात् निराधार आक्षेपों और निग्रहस्थान अर्थात् दोषारोपण के अवसरों का विवेचन है। *न्यायसूत्र* वैदिक विचारधारा के निष्कर्षों को तर्कसम्मत सिद्धांतों के आधार पर उसके धार्मिक एवं दार्शनिक मतों के साथ जोड़ते हुए इस प्रकार आस्तिक यथार्थवाद का तर्क द्वारा समर्थन करता है। गौतम के सूत्र, कम से कम उनमें से प्राचीनतम, ईसापूर्व तीसरी शताब्दी की रचनाएँ हैं। कुछ न्याय सूत्र ईसा की मृत्यु के बाद रचे गये। जहाँ तक न्यायशास्त्र के आरम्भ की बात है तो न्यायशास्त्र का आरम्भ बौद्धकाल से पूर्व हो गया था, यद्यपि उसकी वैज्ञानिक विवेचना बौद्धकाल के आरम्भ में और मुख्य सिद्धांतों की स्थापना ईसापूर्व तीसरी शताब्दी से पहले हुई। लेकिन सूत्र-निर्माण से पहले न्याय के ऐतिहासिक विकास के संबंध में बहुत कम सामग्री उपलब्ध है।

चूँकि न्याय दर्शन वास्तविकताओं के वस्तुगत क्रम में विश्वास करता है और ब्रह्माण्ड की सृष्टि के संबंध में पारमाणविक सिद्धांत को स्वीकार करता है इसलिए उसकी



निगाह में मस्तिष्क से स्वतंत्र, अपरिवर्तशील, कारणहीन, शाश्वत, सूक्ष्म परमाणुओं के अस्तित्व का सिद्धांत एक अंतिम सत्य है। उसके लिए ब्रह्माण्ड का निर्माण केवल परमाणुओं की क्रिया-प्रतिक्रियाओं के परिणामस्वरूप हुआ है। न्याय दर्शन ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में ईश्वर या किसी अलौकिक सत्ता के योगदान को सिरे से खारिज करता है। उसके मुताबिक ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच मूलभूत शाश्वत तत्वों का योगदान है। इस दर्शन का यह स्थापित सिद्धांत है कि मनुष्य का परम लक्ष्य निःश्रेयस प्राप्त करना है जिसे यथार्थ के पूर्ण ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

न्याय ने प्रकृति के नियमों को आधार मानकर मानव अस्तित्व की समस्या का समाधान करने का प्रयत्न किया और उसने यथार्थ को चेतन और अचेतन दो वर्गों में विभाजित किया। दोनों स्वतंत्र अस्तित्व रखने के बावजूद एक-दूसरे से संबंधित हैं। न्याय दर्शन के अनुसार मानसिक यथार्थ अतिरिक्त मानसिक यथार्थ से, अर्थात् वस्तुगत बाह्य यथार्थ से अभिन्न रूप से सम्बद्ध होता है। बाह्य वस्तुएँ मानसिक यथार्थ से न केवल पूर्णतः स्वतंत्र रहती हैं, वरन वे मानसिक जीवन की विभिन्न क्रियाओं के लिए आवश्यक शर्त भी होती हैं। मानसिक क्रियात्मकता का प्रत्येक पहलू किसी न किसी बाह्य यथार्थ से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध रहता है और, चेतन तत्व का अस्तित्व केवल अचेतन तत्व की क्रियाशीलता से ही जाना जाता है। लेकिन इसके साथ ही यह भी माना जाता है कि इन दोनों को सम्बद्ध करने तथा भौतिक जगत के क्रिया-कलाप में सहायता पहुँचाने के लिए एक शाश्वत पारमाणविक तत्व भी मौजूद है, जिसे नैयायिकों ने मनस् का नाम दिया है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच शाश्वत और यथार्थ पारमाणविक तत्वों से इस संसार के गठन को स्वीकार करने के कारण न्यायसूत्र को इस जगत को समझने के लिए किसी ईश्वर या अलौकिक सत्ता मानने की ज़रूरत नहीं पड़ती। यह दर्शन इस भौतिक और यथार्थ जगत की संरचना में ईश्वर की भूमिका अमान्य करता है और परमाणुओं के सम्मिश्रण से ही तमाम जीवन व पदार्थ की उत्पत्ति मानता है। दूसरी तरफ़ यह भी एक तथ्य है कि कणाद ने ईश्वर का उल्लेख नहीं किया है, पर गौतम तथा वात्स्यायन ने ईश्वर की चर्चा कई बार की है। रिचार्ड गावें सरीखे विद्वानों का विचार है कि न्यायसूत्र की मूल पाठ्य पुस्तकों में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया गया था। ईश्वर का विचार तो बाद की देन है। फिर भी अन्य दर्शनों की तरह न्याय दर्शन ईश्वर को पदार्थ का स्रष्टा नहीं मानता। विश्व की रचना के संदर्भ न्याय दर्शन के अंतर्गत ईश्वर मात्र निमित्त कारण है। ईश्वर की हैसियत कुम्हार जैसी है। जैसे कुम्हार

बाहर से मिट्टी ला कर घड़ा बनाता है, मिट्टी को पैदा नहीं करता, उसी तरह ईश्वर परमाणुओं से जगत की रचना करता है परमाणुओं को बनाता नहीं है। वे तो अनादि हैं। ईश्वर की इच्छा से परमाणुओं में हलचल होती है और वे आपस में जुड़ने लगते हैं। न्याय दर्शन ऐसे ईश्वर को सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और नित्य मानता है। वह बुद्धि (ज्ञान), सुख, इच्छा और प्रत्यन जैसे चार विशेष नित्य गुणों से सम्पन्न है, जिसका अर्थ है कि ईश्वर वह शाश्वत सत्ता है, जिसके द्वारा विश्व का संचालन होता है। उस पर अन्य किसी का नियंत्रण नहीं है। वह उच्छृंखल भी नहीं है। वह स्वयं अपने नियमों से बँधा हुआ है।

न्याय दर्शन ने पाँच मूलभूत तत्वों के अलावा समय, अवकाश, मस्तिष्क और आत्मा को भी मान्यता दी है। इसके अनुसार अभिलाषा, घृणा, आनंद, दुःख, लिप्सा, द्वेष, इच्छा और प्रयत्न आत्मा की नौ विशेषताएँ हैं। आत्मा के अस्तित्व एवं किसी कार्य के कार्यान्वयन के लिए शरीर आवश्यक है। वह क्रियाओं का आवास और अनुभव क्षेत्र है, लेकिन इंद्रियाँ और उसकी क्रियाएँ परमाणुओं से उत्पन्न हैं। जो अनुभव हमें होते हैं वे आत्मा और इंद्रियों के ज़रिये बाह्य जगत के सम्पर्क में आने पर होते हैं। इंद्रियाँ ज्ञान प्राप्त करने का उपकरण हैं और ज्ञान आत्मा का लक्ष्य। बुद्धि भी ज्ञान का एक रूप है, जिसके ज़रिये वस्तुओं के प्रति समझ और गुण-दोष के आधार पर उसका विवेचन होता है। इस तरह से न्याय दर्शन सत्य-ग्राह्यता के लिए बतौर उपकरण मस्तिष्क के महत्त्व को किसी भी मायने में कम नहीं मानता। इसके साथ न्याय में इस बात पर भी बल दिया गया है कि वस्तुओं के सीधे निरीक्षण के बिना सत्य को ग्रहण नहीं किया जा सकता है। गौतम के अनुसार किसी वस्तु से संवादिता ही सत्य का स्वरूप है। यदि ज्ञान उस वस्तु से मेल खाता है, तो वह ज्ञान वैध है अन्यथा नहीं।

न्याय दर्शन के अंतर्गत मस्तिष्क से स्वतंत्र पदार्थ के वस्तुगत अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है अर्थात् किसी वस्तु के बारे में ज्ञान प्राप्त करने वाले से पहले ही उस वस्तु का वस्तुगत यथार्थ मौजूद था। इस दर्शन के ज्ञान-सिद्धांत की अवधारणा उन आदर्शवादी सिद्धांतों के एकदम प्रतिकूल थी जो यह मानते थे कि वस्तुगत यथार्थ तुलनात्मक रूप से कम महत्त्वपूर्ण है तथा मन और उसका प्रभाव प्राथमिक है। लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि न्याय दर्शन ने अपना ध्यान किसी वस्तु के गुणों के वास्तविक अध्ययन पर केंद्रित करने से अधिक तर्क और द्वंद्ववाद की उस प्रक्रिया पर केंद्रित किया जो ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। न्याय प्रणाली प्रथमतः सही ज्ञान प्राप्त करने की पद्धति निरूपित करने वाला दर्शन है। आत्मा, शरीर, इंद्रियाँ, ऐंद्रिक ज्ञान की वस्तुएँ, बुद्धि, मस्तिष्क, क्रिया, प्रमाद, शरीरांतरण, परिणाम, दुःख-पीड़ा

और इनसे मुक्ति— ये सब सही ज्ञान की वस्तुएँ मानी गयी हैं। सही ज्ञान प्राप्त करने का साधन गौतम ने प्रमाण को माना है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों के जरिये सही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। संशय, दृष्टान्त, तर्क, प्रमेय, हेत्वाभास, वितण्डा और खण्डन की प्रक्रियाओं से ही हो कर सही ज्ञान तक पहुँचा जा सकता है। किसी वस्तु विशेष अथावा वक्तव्य के सत्य को प्रदर्शित करने के लिए गौतम ने हेत्वानुमान के प्रयोग पर जोर दिया और प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन को हेत्वानुमान के पाँच अवयवों के रूप में निरूपित किया। वास्तविक सत्य की पुष्टि के लिए दार्शनिक वाद-विवादों में इनका प्रयोग किया जाता था। गौतम ने अपने हेत्वानुमान का प्रयोग समकालीन आदर्शवादी विचारकों के मतों का खण्डन करने के लिए किया जो यह दावा करते थे कि सही ज्ञान की प्राप्ति तो रहस्योद्घाटन और वैदिक ग्रंथों पर निर्भर है। ये दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान तथा अनुमिति को गौण मानते थे।

**देखें :** आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

### संदर्भ

1. सर्वपल्ली राधाकृष्णन (2012), *भारतीय दर्शन-दो भाग*, अनुवाद: नंदकिशोर गोभिल, राजपाल ऐंड संज, नयी दिल्ली.
2. के. दामोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनुवाद : जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. वियोगी हरि (सम्पादक) (2011), *हमारी परम्परा*, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली.
4. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय और धीरेन्द्र मोहन दत्त, *भारतीय दर्शन*, अनु. हरिमोहन झा और नित्यानंद मिश्र, पुस्तक भंडार, पटना.

— अजय कुमार पाण्डेय

## नृजातिवर्णन

(Ethnography)

एथनोग्राफी (नृजातिवर्णन) यूनानी भाषा के शब्द एथनोस यानी लोगों का समूह और ग्रेफीन यानी लेखन से मिल कर बना है। यह अनुसंधान की एक पद्धति है जिसके बिना सांस्कृतिक मानवशास्त्र नामुमकिन है। इसके दो हिस्से हैं : फ़ील्डवर्क, जिसके तहत मानवशास्त्री किसी सांस्कृतिक समुदाय के बीच लम्बे अरसे तक रह कर सहभागी-प्रेक्षक की हैसियत से उसका नज़दीकी अध्ययन करते हुए तथ्य जमा करता है; और रिपोर्टेज, जिसके तहत उन तथ्यों का वर्णन और विश्लेषण किया जाता है। एथनोग्राफी के माध्यम से समाज-वैज्ञानिक पता लगाता है कि कोई मानव-समुदाय किस तरह के इलाके में रह रहा है और उसकी रिहाइश से उस भौगोलिक क्षेत्र में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं; वह अपने जीवन-यापन के लिए आहार, आवासन, ऊर्जा और जल का इंतज़ाम किस तरह करता है; उसके रीति-रिवाज़, विवाह की संस्था किस तरह काम करती है; और वह कौन सी भाषा बोलता है। क्लिफ़र्ड गीट्ज़ के मुताबिक एथनोग्राफी वह काम कर सकती है, जो कैमरा भी नहीं कर सकता। एथनोग्राफी पता लगा सकती है कि व्यक्ति की आँख फड़क रही है (जो एक शरीरशास्त्रीय स्थिति है) या वह आँख मार रहा है (जो एक सामाजिक तथ्य है)। मानवशास्त्र के अलावा नृजातिवर्णन का इस्तेमाल समाज-विज्ञान की कुछ दूसरी शाखाओं में भी किया जाता है। संस्कृति-अध्ययन, अर्थशास्त्र, सामाजिक कार्य, शिक्षा, न-जाति-संगीतशास्त्र, लोकगाथा-अध्ययन, भूगोल, इतिहास, भाषाशास्त्र, संचार-अध्ययन, मनोविज्ञान जैसे क्षेत्र भी एथनोग्राफ़िक तकनीक से लाभान्वित हुए हैं। अस्सी के दशक में मीडिया-अध्ययन के दायरे में भी एक 'एथनोग्राफ़िकटर्न' आया है। ख़ास तौर से टेलिविज़न से संबंधित अध्ययनों में नृजातिवर्णन एक गुणात्मक पद्धति के तौर पर उभरा है। बजाय इसके कि चलताऊ क्रिस्म के प्रेक्षकों और उनके आधार पर निकाले गये निष्कर्षों पर भरोसा किया जाए, एथनोग्राफी की तकनीकों का इस्तेमाल करके रोज़ाना के सांस्कृतिक जीवन का विस्तृत प्रेक्षण, वर्णन और विश्लेषण किया जा सकता है।

ज़ाहिर है कि समाज-विज्ञान के लिए एथनोग्राफ़िक तकनीकों की उपयोगिता असंदिग्ध है। लेकिन इस अनुशासन का इतिहास इतना निर्दोष नहीं है। दरअसल, इस पद्धति के पीछे अध्येता की संस्कृति से भिन्न संस्कृतियों को समझने के उद्देश्य काम करते रहे हैं। युरोपीय उपनिवेशवाद के प्रसार के दौरान भौगोलिक रूप से दूरस्थ और सांस्कृतिक रूप से ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों के बारे में जानकारीयाँ जमा करने के लिए

इस अनुशासन का विकास किया गया। इन्हीं कारणों से नृजातिवर्णन औपनिवेशिक विमर्श के साथ अभिन्न रूप से जुड़ गया और मानवशास्त्री औपनिवेशिक प्रशासन को स्थानीय समाजों के बारे में सूचनाएँ देने का काम करने लगे। बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में मानवशास्त्र को बहुलतावादी आधार देने के प्रयासों और सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सिद्धांत के लिए रास्ता साफ़ होने के बाद से नृजातिवर्णन की यह छवि धीरे-धीरे बदलनी शुरू हुई। आज के मानवशास्त्री स्वजातिवाद और युरोकेंद्रीयता के प्रति कहीं ज्यादा सतर्क हैं। अब केवल युरोप के ही नहीं, बल्कि कीनिया, नाइजीरिया, दक्षिण अफ्रीका, भारत, ब्राजील, इंडोनेशिया और मैक्सिको के मानवशास्त्री भी नृशास्त्रीय परियोजनाएँ चलाते हैं। इस स्वागतयोग्य विकास के बावजूद पूरे यक्रीन से नहीं कहा जा सकता है कि नृजातिवर्णन ने अपने औपनिवेशिक अतीत से पल्ला पूरी तरह छुड़ा लिया है, और वह नवउपनिवेशवादी अवतार ले कर युरोकेंद्रीयता और स्वजातिवादी आग्रहों पर नहीं टिका हुआ है।

पहले नृजातिवर्णन पर लगने वाले आक्षेप कमोबेश वही होते थे जिनके आधार पर सांस्कृतिक मानवशास्त्र की आलोचना की जाती थी। लेकिन, हाल ही में नृशास्त्रीय पद्धति को भी कड़ी समीक्षा के दौर से गुजरना पड़ा है। एथनोग्राफी का दावा रहा है कि उसके जरिये मानवीय जीवन का वस्तुनिष्ठ निरूपण किया जा सकता है। फ्रीडवर्क द्वारा सामाजिक परिघटना का विवरण प्रस्तुत करने के दावे को शक की निगाह से देखने वालों में देरिदा प्रमुख हैं। वे तो मानते हैं कि पाठ के बाहर तो कुछ होता ही नहीं है। भाषा की मध्यस्थता के बिना सामाजिक परिघटना के किसी भी विवरण की वस्तुनिष्ठता उन्हें स्वीकार्य नहीं है। नृजातिवर्णन के दावे को समस्याग्रस्त करने वाले तर्कों का कहना है कि मानवीय जीवन को उसके विशिष्ट परिवेश में ही समझा जा सकता है इसलिए उसके निरूपण पर निरूपक और निरूपित के बीच मौजूद सत्ता-संबंधों की छाया लाजमी तौर पर मौजूद रहेगी। कुल मिला कर यह एक पेचीदा बहस है जिसमें एक तरफ़ प्रत्यक्षवादी दावेदारियाँ हैं और दूसरी तरफ़ प्रकृतिवादी। एथनोग्राफी करने वाले मानवशास्त्री की चिंतनशीलता (रिफ्लेक्सिविटी) के संदर्भ में भी सवाल पूछे जाने लगे हैं कि व्यक्ति के रूप में वह खुद अपनी स्थिति के बारे में कितना जागरूक होता है। इसी तरह संरचनावादियों और नृजाति-पद्धतिशास्त्र अपनाते वालों के बीच भी बहस छिड़ी हुई है। फ्रीडवर्क के जरिये निरूपण और सत्ता-संबंधों के प्रश्न को सम्बोधित करते हुए जेम्स क्लिफर्ड ने आग्रह किया है कि उपनिवेश का ख़ात्मा हो जाने के बाद अब यह मसला केवल पश्चिम द्वारा 'अन्य' संस्कृतियों की मानवशास्त्रीय जानकारीयाँ लेने तक सीमित नहीं रह गया है। इसलिए नृजातिवर्णन संबंधी लेखन को उसकी भाषा, शब्दाडम्बर, सत्तामूलकता और इतिहास की रोशनी में जाँचा जाना चाहिए। क्लिफर्ड को लगता है कि नृजातिवर्णन अंततः पश्चिमी ज्ञानमीमांसा की विरासत के

बोझ से छुटकारा प्राप्त कर लेगा। वे मानते हैं कि एथनोग्राफी द्विभाजनों से पूरी तरह मुक्त नहीं हो सकती, लेकिन उसे बरतने वाले कम से कम सचेत रूप से 'अन्य' को अनैतिहासिक रूप से न रचने की कोशिश तो कर ही सकते हैं। क्लिफर्ड एक ऐसे एथनोग्राफ़िक आचरण की वकालत करते हैं जो किसी केंद्र से बँधा हुआ न हो।

टीवी अध्ययन के क्षेत्र में सत्तर और अस्सी के दशकों के दौरान कई विद्वानों ने समाचारों के उत्पादन की सामाजिक प्रक्रिया के उद्घाटन के लिए एथनोग्राफ़िक तकनीकों का दिलचस्प इस्तेमाल किया। उन्होंने न्यूज़ चैनलों में काम करने वाले पत्रकारों और अन्य कारकुनों की कामकाजी ज़िंदगियों में झाँक कर निष्कर्ष निकाला कि स्वतंत्र और निष्पक्ष पत्रकारिता करने के दावे दरअसल सही नहीं हैं। टीवी के न्यूज़ व्यवसाय का ढाँचा अपनी बुनियादी बनावट में नौकरशाहाना है जिसके कारण पैदा होने वाली कामकाजी स्थितियाँ समाचार की निष्पक्षता क्रायम नहीं रहने देतीं। इन विद्वानों ने टीवी दर्शकों की दुनिया की पड़ताल करने के लिए भी एथनोग्राफ़िक तकनीकें आजमायीं। इसके जरिये उन्हें पता चला कि टीवी दर्शकों को उनके सामने परोसे गये मनोरंजन या समाचारों का निष्क्रिय ग्राहक समझना एक भूल है। न ही वे किसी एकात्म समुदाय का निर्माण करते हैं। सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से टीवी दर्शकों का वजूद विविधतामूलक और विखण्डित है। दर्शकों की एथनोग्राफी ने दिखाया कि अलग-अलग पृष्ठभूमियों के दर्शक न्यूज़-कथाओं का अलग-अलग मतलब निकालते हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, प्राइवैसी, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. जेम्स क्लिफर्ड (सम्पा.) (1986), *राइटिंग कल्चर : द पोइटिक्स ऐंड पॉलिटिक्स ऑफ़ एथनोग्राफी*, द स्कूल ऑफ़ अमेरिकन रिसर्च एडवांस सेमिनार, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
2. अर्जुन अप्पादुरै (1991), 'ग्लोबल एथनोस्केप्स : नोट्स ऐंड क्वैरीज़ फ़ॉर अ ट्रांसनेशनल एंथ्रोपोलॉजी', आर. फ़ोक्स (सम्पा.), *रिक्रैचरिंग एंथ्रोपोलॉजी : वर्किंग इन द प्रजेंट*, स्कूल ऑल अमेरिकन रिसर्च प्रेस, सांता फे, एनएम.
3. तलाल असद (सम्पा.) (1973), *एंथ्रोपोलॉजी ऐंड कोलोनियल एनकाउंटर*, इथाका, लंदन.
4. सी. गेराघ्टी (1998), 'ऑडिऐंस ऐंड एथनोग्राफी : क्वेश्चन ऑफ़ प्रेक्टिस', सी. गेराघ्टी और डी. लस्टिड (सम्पा.), *द टेलिविज़न स्टडी बुक*, आरनोल्ड, लंदन और न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## नागर समाज

(Civil Society)

विद्वानों के बीच नागर समाज की अवधारणा के अर्थ के बारे में सहमति नहीं है। असल में राजनीतिक सिद्धांत की दूसरी कई अवधारणाओं की तरह ही नागर समाज के अर्थ में समय के साथ बदलाव होता रहा है। आम तौर पर कहा जाता है कि सामाजिक जीवन कई दायरों में बँटा हुआ है और नागर समाज उन्हीं दायरों में से एक है। यानी यह समग्र सामाजिक जीवन का वर्णन नहीं करता, बल्कि सिर्फ सामाजिक जीवन के एक पहलू का वर्णन करता है। बहरहाल, नागर समाज के बारे में अलग-अलग विचारकों द्वारा अलग-अलग बातें कहने के बावजूद इसकी कुछ विशेषताओं के बारे में काफ़ी हद तक सहमति है। पहली सहमतिमूलक बात यह है कि नागर समाज का प्रभाव-क्षेत्र राज्य के प्रभाव-क्षेत्र से अलग है। दूसरी, नागर समाज के प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण स्वैच्छिक साहचर्य से होता है। इसलिए परिवार और जाति जैसे समाज के अनैच्छिक साहचर्य इसके हिस्से नहीं हैं।

माना जाता है कि यूरोप में सत्रहवीं सदी के दौरान इस अवधारणा का पहली बार प्रयोग जॉन लॉक ने किया। इस तरह यह आर्थिक और राजनीतिक उदारतावाद का अंग बनी। लॉक के विचारों को स्कॉटिश ज्ञानोदय के विचारकों डेविड ह्यूम, ऐडम स्मिथ और ऐडम फ़र्ग्युसन ने ज्यादा व्यापक बनाया। उन्नीसवीं सदी में हेगेल और कार्ल मार्क्स के चिंतन में इस अवधारणा को महत्वपूर्ण स्थान मिला। इसके बाद लम्बे समय तक इस अवधारणा का कोई इस्तेमाल नहीं किया गया और यह विमर्श के दायरों से लगभग बाहर हो गयी। शीत-युद्ध खत्म होने के बाद इसका सैद्धांतिक और व्यावहारिक उपयोग शुरू हुआ। पहले इसे पूर्वी युरोप के देशों में प्रयोग में लाया गया। फिर पश्चिमी युरोप और तीसरी दुनिया के देशों में इसकी लोकप्रियता बढ़ी। धीरूभाई शेठ के मुताबिक भारत में यह अवधारणा 1990 के बाद के दौर में ज्यादा प्रचलन में आयी।

प्राचीन यूनानी चिंतन और रोमन साम्राज्य में नागर समाज का विचार नहीं उभर सकता था। उस समय तक नगर-राज्य या राज्य को ही अपने-आप में पूर्ण संस्था माना जाता था। मध्ययुगीन क्रिश्चियन साम्राज्य में प्राधिकार के दो स्रोत थे— चर्च और राजनीतिक प्राधिकार। इसी पृष्ठभूमि में आधुनिक राज्य और नागर समाज के विचार का विकास हुआ। मध्य युग से आधुनिक युग की ओर संक्रमण के दौरान दो स्तरों पर यह अवधारणा आगे बढ़ी। पहला, राज्य की

संस्था की ओर से चर्च के दावों के खिलाफ लम्बी वैचारिक लड़ाई के रूप में; और दूसरा, इसके बाद व्यक्तियों के अधिकारों के लिए राज्य की संस्था के खिलाफ संघर्ष के रूप में। इस तरह नागर समाज के विचार का उभार एक ऐसे स्पेस के रूप में हुआ जहाँ नागरिक राज्य का विरोध कर सकते थे या राज्य के सामने अपने हितों पर ज़ोर दे सकते थे।

जॉन लॉक नागर समाज की अवधारणा को प्राकृतिक अवस्था से अलग मानते हैं। प्राकृतिक अवस्था एक ऐसी काल्पनिक स्थिति मानी जाती है जिसमें लोग राज्य की संस्था से पहले के युग में रहते होंगे। लॉक का विचार था कि सामाजिक समझौते की संकल्पना के तहत प्राकृतिक अवस्था में होने वाली व्यावहारिक मुश्किलों से निपटने के लिए ही लोग एक नागर समाज और राज्य का निर्माण करते हैं। लॉक ने यह नहीं माना कि नागर समाज राज्य के राजनीतिक दायरे से बाहर होता है। उनके अनुसार यह एक ऐसा दायरा होता है, जो सकारात्मक क़ानून या पॉज़िटिव लॉ तथा निष्पक्ष न्यायाधीश की व्यवस्था उपलब्ध कराता है। यह क़ानूनों को लागू करने के लिए दमनकारी संयंत्र की स्थायी व्यवस्था भी करता है। लेकिन लॉक नागर समाज के माध्यम से लोगों को राज्य का विरोध करने का अधिकार भी देते हैं। यानी यदि राज्य उनके जीवन, सम्पत्ति और स्वतंत्रता के अधिकारों की सुरक्षा नहीं करता है, तो वे राज्य का विरोध कर सकते हैं।

डेविड ह्यूम, ऐडम फ़र्ग्युसन और ऐडम स्मिथ जैसे स्कॉटिश ज्ञानोदय से जुड़े विचारकों ने अठ्ठारहवीं सदी में पूँजीवाद के कारण समाज में हुए बदलावों के संदर्भ में नागर समाज से संबंधित विचारों का सूत्रीकरण किया। ख़ासतौर पर ऐडम स्मिथ ने लैसेज फ़ेयर या न्यूनतम हस्तक्षेप करने वाले राज्य की संकल्पना पेश की। उनके अनुसार राज्य का काम क़ानून और व्यवस्था, सुरक्षा, मुद्रा और संचार तक ही सीमित रहना चाहिए। राज्य से अलग अवधारणा के रूप में नागर समाज का उभार राजनीतिक अर्थव्यवस्था के इस नये विचार के साथ ही हुआ। इसमें माना गया कि वाणिज्य की गतिविधियाँ अपरिचित लोगों को जोड़ती हैं, इसलिए ये नागर समाज में शिष्टाचार और परिष्करण का स्रोत होती हैं। इसमें राज्य को सिर्फ़ क़ानून-व्यवस्था और सुरक्षा कायम रखने का काम दिया गया। स्कॉटिश चिंतन के अनुसार, पूँजीवादी राजनीतिक अर्थव्यवस्था से आधुनिक वाणिज्यवादी समाज का निर्माण हुआ है। इस चिंतन में इसे ही नागर समाज का दर्जा दिया गया। इसके तहत नागर समाज के दायरे को राजनीतिक समाज या राज्य से पूरी तरह अलग माना गया। लॉक के विचारों में इस तरह का अंतर मौजूद नहीं है। इसलिए इसे लॉक के विचारों से आगे के क्रम के रूप में देखा जा सकता है। लेकिन लॉक की तरह ही इनके विचारों

में भी व्यक्तिवाद पर जोर था।

उन्नीसवीं सदी में हीगेल और मार्क्स के दर्शन में नागर समाज की अवधारणा पर गहराया से विचार किया गया। हीगेल मानते हैं कि आधुनिक समाज तीन क्षेत्रों में बँटा हुआ है— परिवार, नागर समाज और राज्य। परिवार निजी जीवन का क्षेत्र है जो प्यार और विश्वास पर आधारित होता है। यहाँ व्यक्तिगत अहं के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके विपरीत नागर समाज सार्वभौम अहंवाद का दायरा होता है। यहाँ लोग अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। हीगेल के अनुसार नागर समाज में लोगों में जबरदस्त आपसी होड़ रहती है और वे किसी संवेदना, प्यार या जुड़ाव के आधार पर एक-दूसरे से नहीं जुड़ते। इसकी बजाय हर तरह के जुड़ाव में 'फ़ायदा' सबसे प्रमुख कारक होता है। हीगेल राज्य को सार्वभौम परार्थवाद का क्षेत्र मानते हैं। अर्थात् राज्य नागर समाज में प्रतिद्वंद्विता की भावना खत्म कर देता है, क्योंकि वह हर किसी की इच्छा को प्रतिबिम्बित कर सकता है। यह लोगों में एकता लाने का काम करता है। इस तरह वे राज्य को एक ऐसे दायरे के रूप में पेश करते हैं जहाँ हर तरह का विरोधाभास खत्म हो जाता है। जाहिर है कि हीगेल राज्य के उस उदारतावादी विचार की आलोचना करते हैं जिसमें राज्य की सीमित भूमिका पर जोर दिया गया है। वे राज्य को नागर समाज के ऊपर स्थान देते हैं और उसकी भूमिका को ज्यादा महत्वपूर्ण मानते हैं।

मार्क्स ने नागर समाज और राज्य से इसके संबंधों के बारे में हीगेल के विचारों की आलोचना की। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि औपचारिक रूप से नागर समाज में लोगों के बीच समानता होती है। लेकिन वास्तव में नागर समाज वर्गों में विभाजित होता है। उनके अनुसार पूँजीवादी नागर समाज में दो वर्ग प्रमुख रूप से मौजूद रहते हैं— पहला, पूँजीवादी शोषकों का वर्ग और दूसरा सर्वहारा वर्ग। मार्क्स हीगेल के इस तर्क को नकारते हैं कि राज्य नागर समाज के सभी वर्गों के हितों को प्रतिबिम्बित करता है और राज्य के सामने आने से नागर समाज के विभिन्न वर्गों के बीच का संघर्ष खत्म हो जाता है। इसके विपरीत मार्क्स यह तर्क देते हैं कि नागर समाज में विभिन्न वर्गों के बीच मौजूद होड़ राज्य के स्तर पर भी सामने आती है। जो वर्ग मज़बूत और प्रभुत्वशाली स्थिति में होता है वह राज्य का अपने हितों के मुताबिक प्रयोग करता है। इस तरह मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद में पूँजीपति वर्ग राज्य की मदद से राज्य के दूसरे वर्गों पर अपना नियंत्रण क़ायम रखता है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में इटली के मार्क्सवादी विचारक अंतोनियो ग्राम्शी ने नागर समाज की अवधारणा को एक नया आयाम दिया। ग्राम्शी की मान्यता है कि शासक वर्ग सिर्फ राज्य के बल प्रयोग द्वारा अपना नियंत्रण क़ायम नहीं

रखता है। इसकी बजाय वह नागर समाज के दायरे में अपने शासन के प्रति एक तरह की सहमति का निर्माण करता है। ग्राम्शी इसे हेजेमनी या वर्चस्व की संज्ञा देते हैं। इसमें शासक वर्ग शासितों की सहमति द्वारा शासन क़ायम रखने की कोशिश करता है। स्पष्ट तौर पर ग्राम्शी नागर समाज को एक ऐसे 'स्पेस' के रूप में देखते हैं जहाँ विचारों की लड़ाई होती है। ग्राम्शी यह भी मानते हैं कि विचारों की इस लड़ाई में शासित वर्ग अपने पक्ष में ज्यादा क्रांतिकारी क्रिस्म के बदलाव भी करा सकता है, लेकिन इसके लिए यह जरूरी है कि वह शासक वर्ग की हेजेमनी को चुनौती दे। इस संदर्भ में ग्राम्शी आंगिक बुद्धिजीवियों (या ऑर्गेनिक इंटेलेक्चुअल्स) की भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण मानते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के दौर में पूर्वी यूरोप के देशों, खास तौर पर, पोलैण्ड में नागर समाज की अवधारणा नये सिरे से उभर कर सामने आयी। इसके बाद चेकोस्लोवाकिया जैसे देशों में भी राज्य सत्ता का विरोध करने वाले समूहों ने इसका प्रयोग किया। इन देशों में नौकरशाही का लोगों के जीवन पर प्रभुत्व काफ़ी बढ़ गया था। नौकरशाही के इसी नियंत्रण का विरोध करने के लिए नागरिकों ने नागर समाज के रूप में ऐसे सार्वजनिक संगठनों और संस्थाओं की भूमिका पर जोर देना शुरू कर दिया जिन पर राज्य का नियंत्रण कम-से-कम हो। तक्ररीबन इसी समय पश्चिमी यूरोप के देशों और संयुक्त राज्य अमेरिका में भी नागर समाज के विचार को प्रमुखता मिलने लगी। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इन देशों में लोकतंत्र में लोगों की रुचि काफ़ी कम हो गयी थी। मतदान के प्रतिशत में काफ़ी गिरावट आ गयी थी और लोग चुनावों के बाद लोकतांत्रिक राजनीति या अपने आस-पास के घटनाक्रमों में कोई खास रुचि नहीं रखते थे। इन कमियों को दूर करने और लोगों में लोकतांत्रिक भावना भरने के लिए नागर समाज की संस्थाओं और गतिविधियों का उपयोग किया गया। इसमें स्वैच्छिक साहचर्य की भूमिका पर बहुत बल दिया गया। दरअसल, यह टॉकवील द्वारा कल्पित स्वैच्छिक साहचर्यों की भूमिका को मूर्त रूप देने की तरह है। टॉकवील यह मानते हैं कि उन्नीसवीं सदी में विभिन्न स्वैच्छिक साहचर्यों ने राज्य की तानाशाही के खिलाफ़ और व्यक्ति की सुरक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। पश्चिमी देशों में स्वैच्छिक साहचर्यों की इसी भूमिका पर जोर दिया जाने लगा।

1990 के बाद के दौर में भारत और तीसरी दुनिया के देशों में भी इस अवधारणा का प्रयोग बढ़ा। सार्वजनिक जीवन से लेकर बौद्धिक विमर्श तक इसका काफ़ी उपयोग होने लगा। पार्थ चटर्जी जैसे विद्वानों ने इस अवधारणा को बुनियाद मानते हुए भारत जैसे समाजों की राजनीति को समझने के लिए नये सिद्धांत पेश किये। नागर समाज राजनीतिक सिद्धांत

की एक ऐसी अवधारणा है जिसका प्रचलन हाल के समय में काफी बढ़ा है।

देखें : लोकतंत्र, लोकतंत्र की आलोचनाएँ, जॉन लॉक, डेविड ह्यूम, एडम स्मिथ, कार्ल मार्क्स, एंतोनियो ग्राम्शी, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, पार्थ चटर्जी, राजनीतिक समाज, नागर समाज पर भारतीय बहस, भारत में नागर समाज और गैर-दलीय राजनीति-1, 2 और 3.

### संदर्भ

1. मोहिंदर सिंह (2011), 'नागर समाज', राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *राजनीति सिद्धांत : एक परिचय*, (अनुवाद : कमल नयन चौबे), पर्यर्सन लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. सुदीप्त कविराज और सुनील खिलनानी (सम्पा.) (2001), *सिविल सोसाइटी : हिस्ट्री एंड पॉसिबिलिटीज*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. नीरा चंडोख (1995), *स्टेट एंड सिविल सोसायटी : एक्सप्लोरेशंस इन पॉलिटिकल थियरी*, सेज, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

## नागरिकता

(Citizenship)

नागरिकता व्यक्ति और राज्य के बीच एक संबंध का नाम है जिसके तहत दोनों पक्ष परस्पर अधिकारों और दायित्वों के एक सिलसिले में बंधे होते हैं। समाज-विज्ञान में नागरिकता के विचार का उद्गम प्राचीन यूनान में विकसित राजनीतिक चिंतन में निहित माना जाता है। नागरिकता गणराज्यवाद या रिपब्लिकनिज्म से जुड़ी राजनीतिक परम्परा के मर्म में भी है। इन दोनों परम्पराओं के लिहाज से 'नागरिक' का मतलब है एक राजनीतिक समुदाय का ऐसा सदस्य होना जो कुछ अधिकारों और कुछ दायित्वों का धारक हो। समाज-वैज्ञानिकों के बीच अधिकारों और दायित्वों के इस समीकरण को लेकर काफी बहस है। कुछ विद्वान नागरिकता को एक विधिसम्मत संरचना के रूप में देखने पर जोर देते हैं जिसे वस्तुगत रूप से परिभाषित किया जा सकता है। इसका मतलब है किसी एक राष्ट्रीयता का सदस्य होना, किसी देश का पासपोर्ट रखना और उसी देश के संविधान द्वारा सुनिश्चित अधिकारों और दायित्वों का वाहक होना। पर कुछ अन्य विद्वान महज वैधानिकता से परे जाते हुए इसे व्यक्ति की अस्मिता और एक तरह की निष्ठा के रूप में देखते हैं। नागरिकता को 'राजनीति से परे' भी

माना जाता है। दरअसल, समाज-विज्ञान में विभिन्न प्रस्थान-बिंदुओं के साथ विद्वानों ने नागरिकता के विचार को अलग-अलग तरह से समझने की कोशिश की है। इस विमर्श में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान टी.एच. मार्शल का माना जाता है जिन्होंने ब्रिटिश समाज और राजनीति के अध्ययन के आधार पर नागरिकता के सिद्धांत का सूत्रीकरण किया है।

इतिहास की हर अवधि में नागरिकता की धारणाएँ भिन्न-भिन्न रही हैं। देखने की बात यह है कि कब किन परिस्थितियों में किन लोगों को नागरिक माना गया, किन्हें नागरिक होने से वंचित किया गया और उस वंचन का आधार क्या था? दिलचस्प बात यह है कि समाज-विज्ञान नागरिकता की पश्चिमी इतिहास और अनुभव से निकली अवधारणाओं पर ही विचार करता है। एशियायी सभ्यताओं में भी नागरिकता संबंधी चिंतन की परम्पराएँ हैं। प्राचीन भारतीय साहित्य के दो विख्यात ग्रंथों कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' और वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में नागरिक और नागरिकता संबंधी विमर्श की उल्लेखनीय उपस्थिति है। समाज-विज्ञान के साहित्य में उसका अदृश्य रहना अपने आप में भारतीय समाज-विज्ञान की युरोकेंद्रीयता पर एक टिप्पणी है।

एक शब्द के तौर पर 'सिटीज़नशिप' लैटिन भाषा के सिविस और उसके यूनानी पर्याय पॉलिटिस से गढ़ा गया है। इसका मतलब है कि किसी पोलिस या सिटी का सदस्य। प्राचीन यूनान के एथेंस और स्पार्टा जैसे नगर-राज्यों में सभी को नागरिकता के अधिकार प्राप्त नहीं थे। दास, विदेशी और स्त्रियाँ कमतर होने के नाते नागरिक जीवन में सक्रिय भाग नहीं ले सकते थे। जन्म आधारित विशेष अधिकारों के मुकाबले समान अधिकारों से सम्पन्न नागरिक की अवधारणा अमेरिकी क्रांति और फिर उसके तुरंत बाद हुई फ्रांसीसी क्रांति के बाद मजबूत हुई। पूँजीवाद और उदारतावाद के विकास के परिणामस्वरूप वर्ग, नस्ल, लिंग, जातीयता जैसे भेदों के बावजूद समान अधिकारों से लैस नागरिक का विचार और पुष्ट हुआ। अस्सी के दशक के बाद से भूमण्डलीकरण और बहुसंस्कृतिवाद ने नागरिक की इस स्थापित अवधारणा को कई तरह से प्रश्नांकित किया है।

मसलन, नागरिक के अधिकारों और दायित्वों की रोशनी में व्यक्ति और धार्मिक-सांस्कृतिक समुदायों का रिश्ता क्या निकल कर आता है? क्या नागरिक होने का विधिसम्मत दर्जा लोगों को राजनीति में सक्रिय भागीदारी का अधिकार भी प्रदान कर देता है? नागरिकता से जुड़े इन अहम सवालों का माकूल जवाब तक हासिल नहीं किया जा

सकता जब तक समानता और अधिकारों के मुद्दों, व्यक्ति और सामुदायिक अधिकारों के प्रश्नों, सामाजिक और सक्रिय नागरिकता के विचारों पर इसी संदर्भ में गौर न कर लिया जाए।

मार्शल ने 1950 में प्रकाशित अपनी रचना 'सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास' में नागरिक की व्याख्या राजनीतिक समुदाय के सम्पूर्ण और समान सदस्य के रूप में की है। इस विचार के साथ दिक्कत यह है कि आम तौर पर नागरिकता व्यक्ति को बराबरी अपने आप उपलब्ध नहीं कराती। समाज चाहे कोई भी हो, वह वर्ग, जाति, लिंग, नस्ल और धर्म से जुड़े ऊँच-नीच से मुक्त नहीं होता। जाहिर है कि नागरिकता की अवधारणा और उसकी सामाजिक हकीकत के बीच एक तरह का अंतर्विरोधी संबंध है जिसके कारण व्यवहार में नागरिकता का विचार हमेशा विकासमान स्थिति में रहता है।

मार्शल नागरिकता से जुड़े अधिकारों को तीन हिस्सों में बाँट कर पेश करते हैं : सिविल, राजनीतिक और सामाजिक। सिविल से उनका मतलब है व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं से संबंधित अधिकार : जैसे, भाषण देने, सभा करने, आंदोलन करने, क़ानून की नज़र में बराबरी, सम्पत्ति रखने, अनुबंध करने का अधिकार। इन्हें सिविल अधिकारों की संज्ञा इसलिए दी गयी है कि व्यक्ति इनका इस्तेमाल सिविल सोसाइटी के दायरे में करता है और उनकी सुरक्षा तभी हो सकती है जब राज्य व्यक्ति की स्वायत्तता का आदर करे और वह उनका आदर तभी कर सकता है जब उसका चरित्र सीमित क्रिस्म का हो। राजनीतिक से मतलब है राजनीतिक जीवन में सक्रिय भागीदारी के अधिकार। जैसे, मतदान का अधिकार, चुनाव में उम्मीदावारी का हक़, सार्वजनिक जीवन में पदाधिकारी होने का अधिकार। जाहिर है कि इन अधिकारों के लिए सार्वभौम मताधिकार, राजनीतिक समानता और लोकतांत्रिक शासन का होना ज़रूरी है। सामाजिक से मार्शल का तात्पर्य है आर्थिक कल्याण और सामाजिक सुरक्षा के अधिकार। यहाँ मार्शल लोकोपकारी राज्य के पक्ष में नज़र आते हैं। मार्शल के नागरिकता संबंधी विमर्श से सामाजिक नागरिकता की अवधारणा भी निकलती है। उनके विमर्श की ख़ास बात यह है कि वे नागरिक होने को लाज़मी तौर से सामाजिक समानता उपलब्ध करने के साथ जोड़ते हैं। इसलिए उनके लिए नागरिकता एक ख़ास तरह की सामाजिक हैसियत है। इस लिहाज़ से वे पूँजीवादी समाजों में पनपने वाली वर्गीय विषमता और नागरिकता को एक सहजीवी मानने के लिए तैयार नहीं हैं। विषमता के इस रूप को ख़त्म करने के लिए मार्शल की धारणा लोकोपकारी राज्य की सिफ़ारिश भी करती है। उनका यह विचार उन सामाजिक जनवादियों, समाजवादियों और आधुनिक

उदारतावादियों को प्रिय है जो सरकार के हस्तक्षेप के ज़रिये 'सकारात्मक अधिकारों' की आवश्यकता पर बल देते हैं।

मार्शल द्वारा व्याख्यायित सामाजिक अधिकारों पर नव-दक्षिणपंथियों ने जम कर हमला किया है। उनका कहना है कि नागरिकता का यह तात्पर्य सरकार की ज़िम्मेदारियों को बढ़ाता चला जाता है। टैक्स भी बढ़ते जाते हैं, और बजट घाटे में भी बढ़ोतरी हो जाती है। इससे उद्यमशीलता और निजी पहलक़दमी का भी क्षय होता है। व्यक्तिवाद को केंद्र बना कर राज्य की उत्तरोत्तर सीमित करते जाने के तरफ़दार दक्षिणपंथियों ने सामाजिक नागरिकता के मुकाबले सक्रिय नागरिकता की अवधारणा प्रतिपादित की है। यह विचार सबसे पहले अमेरिका में गढ़ा गया और जल्दी ही युरोप में भी कई विद्वानों और नेताओं ने उसकी संस्तुति करनी शुरू कर दी। दिलचस्प बात यह है कि मार्शल की अवधारणाओं की आलोचना केवल नव-दक्षिणपंथी ही नहीं करते। उनकी अधिकारों की योजना में ट्रेड यूनियन अधिकारों को भी शामिल नहीं किया गया है : जैसे यूनियन की सदस्यता का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार और धरना देने का अधिकार वगैरह। इसी तरह मार्शल लैंगिक समानता के अधिकारों, प्रजनन के अधिकार, गर्भनिरोधकों को इस्तेमाल करने के अधिकार और गर्भपात के अधिकार को भी नज़रअंदाज़ करते हैं। इसलिए मार्शल की नागरिकता की अवधारणा नारीवादियों और मार्क्सवादियों की तरफ़ से भी आलोचना का शिकार बनती है। चूँकि मार्शल ने अपनी अवधारणा राष्ट्र-राज्य के संदर्भ में विकसित की थी, इसलिए वे अंतर्राष्ट्रीय नागरिकता की विकसित होती हुई अवधारणा पर भी ध्यान नहीं देते। मसलन, ट्रीटी ऑफ़ युरोपियन यूनियन ने सभी पंद्रह सदस्य देशों की समान नागरिकता की स्थापित कर दी है। व्यक्ति इन पंद्रह देशों में कहीं भी आ-जा सकता है। वह वहाँ के चुनावों में वोट ही नहीं कर सकता, बल्कि वहाँ सार्वजनिक पदों पर काम भी कर सकता है। इसी तरह मार्शल का नागरिकता सिद्धांत भूमण्डलीय नागरिकता की ताज़ी कसौटियों पर भी खरा नहीं उतरता जो अंतर्राष्ट्रीय क़ानून में मूर्तिमान मानवाधिकारों के विचार पर आधारित है।

नागरिक होने के नाते अधिकारों के उपभोग के साथ-साथ कुछ दायित्वों का निर्वहन करना भी ज़रूरी है। प्राइवेट और निजी स्वायत्तता के अधिकार का दावा करने वाले व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह दूसरे नागरिकों के इन्हीं अधिकारों का आदर करने के दायित्व को भी निभाये। राजनीतिक अधिकार भी नागरिक को कुछ दायित्व प्रदान करते हैं। कई आधुनिक समाजों में व्यक्तियों से उम्मीद की जाती है कि वे ज़रूरत पड़ने पर ज़ूरी बनने के लिए तैयार रहेंगे। ऑस्ट्रेलिया, बेल्जियम और इटली में वोट डालना एक क़ानूनी बाध्यता है। इसी तरह सरकार से लोकोपकारी नीतियाँ

बनाने की उम्मीद रखने वाले नागरिकों को टैक्स देने के दायित्व का ध्यान भी रखना होता है ताकि शासन शिक्षा, स्वास्थ्य, पेंशन और स्वच्छता पर खर्च करने के लिए राजस्व प्राप्त कर सके। डेरिक हीटर ने इस तरह के दायित्वों और कर्तव्यों को 'सिविक वर्चू' की संज्ञा दी है जिसके तहत व्यक्ति राज्य के प्रति अपनी निष्ठा का पालन करता है। कई देशों में 'नागरिकता के लिए प्रशिक्षण' देने का बंदोबस्त है, और कुछ देशों में यह काम स्वयंसेवी संस्थाओं के जिम्मे है।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशाॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

### संदर्भ

1. कीथ फ़ॉक्स (2000), *सिटीज़नशिप*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. डेरिक हीटर (1999), *व्हाट इज़ सिटीज़नशिप?*, पॉलिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. टी.एच. मार्शल (1950), *सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, यूके.
4. टी.एच. मार्शल और टॉम बॉटमोर (सम्पा.) (1992), *सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास*, प्लूटो प्रेस, लंदन.
5. अनुपमा राय (2008), 'सिटीज़नशिप', संकलित : राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन*, पियर्सन-लॉंगमैन, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

## नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1

(मार्क्सवादी और नारीवादी परिप्रेक्ष्य)

(Citizenship: Other perspectives-1)

नागरिकता के विचार और पूँजीवादी समाज के अंतर्विरोधों और विरोधाभासों ने इस प्रश्न के इर्द-गिर्द व्यापक बहस को जन्म दिया है। नागरिकता के ब्रिटिश इतिहास का ब्योरा देते हुए स्वयं टी.एच. मार्शल ने भी स्वीकार किया था कि सामाजिक समानता और नागरिकता के जिस अनिवार्य संबंध का वे सूत्रीकरण कर रहे हैं, उसके कारण भविष्य में वैचारिक टकराव की स्थिति बन सकती है। सत्तर के दशक में जॉन रॉल्स ने पहले अपनी रचना 'ए थियरी ऑफ़ जस्टिस' और फिर 'पॉलिटिकल लिबरलिज़म' में नागरिकता की उदारतावादी-लोकतांत्रिक संकल्पना का प्रतिपादन करते हुए इन अंतर्विरोधों के एक हद तक समाधान की चेष्टा की। लेकिन अस्सी के दशक के बाद से मार्क्सवादी, नारीवादी और बहुसंस्कृतिवादी विद्वानों ने इन अंतर्विरोधों को नये सिरे से रेखांकित करना शुरू किया। नागरिकता संबंधी विमर्श इन विविध परिप्रेक्ष्यों का जायज़ा लिए बिना पूरा नहीं हो सकता।

कार्ल मार्क्स ने अधिकारों की अमेरिकी और फ्रांसीसी उद्घोषणाओं की यह कह कर आलोचना की थी कि इनमें प्राकृतिक अधिकारों को महज़ व्यक्ति के संदर्भ में परिभाषित किया गया है जिसके कारण व्यक्ति 'अहंवादी' और 'एटोमाइज़्ड' हो कर न केवल समुदाय से कट जाता है, बल्कि उसका प्रकृति से भी अलगाव हो जाता है। जाहिर है यहाँ मार्क्स प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को आड़े हाथों ले रहे हैं। लेकिन मार्क्स नागरिकता से जुड़े सामाजिक और राजनीतिक अधिकारों के समर्थक थे। उनका विचार था कि नागरिकता संबंधी अधिकारों के जरिये व्यक्ति सामुदायिक जीवन, राजनीतिक जीवन और राजकीय मामलों में भागीदारी कर सकता है। वे इन अधिकारों को सामाजिक रूपांतरण का रास्ता साफ़ करने में मददगार भी मानते थे। लेकिन उनकी आपत्ति आधुनिक राज्य के चरित्र को ले कर थी। उदारतावादियों की भाँति उन्हें इस राज्य से कोई उम्मीद नहीं थी। मार्क्स के अनुसार समानता और स्वतंत्रता से संबंधित नागरिकता की उदारतावादी दावेदारियाँ पूँजीवाद के तहत कोई मायने नहीं रखतीं, क्योंकि आधुनिक राज्य पूँजीपति वर्ग के हितों का साधन करने वाला औज़ार है। ऐसे राज्य के तहत केवल पूँजीवादी व्यक्तिवाद ही पनप सकता है।

मार्क्सवादियों ने अगर समान नागरिकता के सिद्धांत की आलोचना इसलिए की कि वह वास्तविक जीवन में मौजूद विषमताओं को नज़रअंदाज़ करता है, तो नारीवादी



विद्वानों ने यह दिखाया कि यह विचार किस तरह ख़ास तौर से स्त्री-हितों के खिलाफ़ है। तक्ररीबन सभी क्रिस्म के नारीवादियों ने दो पहलुओं से इस विचार की आलोचना की है : पहला, नागरिकता का सिद्धांत लैंगिक-अंधता का शिकार है; दूसरा, यह थियरी नस्ल, जाति, जेंडर और वर्ग संबंधी विभेदीकरण को सार्वजनिक मंच से हटा कर निजी जीवन के दायरे में धकेल देती है।

लैंगिक-अंधता के कारण नागरिकता का सिद्धांत यह स्वीकार करने में असमर्थ रहता है कि आधुनिक समाज पितृसत्तात्मक परम्पराओं में रचा-बसा है। ऐसे समाज में नागरिकता का समरूप और समान कार्यान्वयन सभी के लिए समानता की गारंटी नहीं कर सकता। पुरुष-प्रभुत्व और उससे जुड़ी विशेष सुविधाएँ लगातार ऐसी नीतियों के निर्माण की तरफ़ ले जाती हैं जिससे औपचारिक समानता के दायरे में स्त्रियों की कमतर हैसियत क़ायम रहती है।

नारीवादियों का कहना है कि ऐतिहासिक रूप से नागरिकता के अधिकतर सूत्रीकरण नागरिकों और ग़ैर-नागरिकों के बीच किये जाने वाले अंतर पर आधारित रहे हैं। विमर्श के इस तरीके ने ऐसे द्विभाजनों को जन्म दिया है जिनके तहत नागरिकता पुरुषों की और सार्वजनिक जीवन की गतिविधियों का पर्याय बन कर रह गयी है। नागरिकता का सिद्धांत जिस तरह की सार्वभौमिकता और सामान्यता की माँग करता है, उसके कारण सभी तरह के विभेद सार्वजनिक जीवन से हट कर निजी दायरे की चीज़ बन गये हैं। भले ही वे वर्गीय विभेद हों, प्रजातीय विभेद हों या लैंगिक विभेद। स्वायत्तता सम्पन्न व्यक्ति को नागरिक के रूप में स्थापित करने का उदारतावादी विचार लाज़मी तौर पर पब्लिक और प्राइवेट को अलग-अलग परिभाषित करता है। इस चक्कर में स्त्री की अधीनस्थ स्थिति और उसके बहिर्वेशन की गारंटी करने वाला पारिवारिक और घरेलू जीवन प्राइवेट के दायरे में चला जाता है। परिणामस्वरूप वास्तविक जीवन में स्त्री नागरिकता के अधिकारों से वंचित रह जाती है।

नारीवादी आलोचना कहती है कि नागरिकता की प्राचीन धारणा तो स्त्री को नागरिक अधिकारों से पूरी तरह वंचित कर ही देती थी, फ़्रांसीसी क्रांति भी उसे महज़ 'नागरिक की सहगामिनी' का दर्जा ही दे पायी। नागरिकता की आधुनिक अवधारणा स्त्री की पूरी उपेक्षा तो नहीं करती, पर वह उसका विनियोग माँ और पत्नी जैसी सामाजिक रूप से उपयोगी और निर्भर भूमिकाओं के रूप में ही करती है। इस तरह स्त्रियाँ राजनीति के दायरे से बाहर हो जाती हैं। उन्हें शिक्षा और सम्पत्ति जैसे संसाधनों और अवसरों का लाभ नहीं मिल पाता। नतीजतन उन्हें आने वाले समय में राजनीतिक भागीदारी की योग्यता और पात्रता भी नहीं प्राप्त हो पाती।

नारीवादियों की एक धारा मानती है कि जब तक स्त्रियों को संवाद, भाषण और सक्रियता के माध्यम से सबलीकरण का मौक़ा नहीं मिलेगा, तब तक 'सेक्स-ईक्वल सिटीजनशिप' का विकास नहीं हो सकता। जाहिर है कि यह धारा लोकतांत्रिक राजनीति की रूपांतरणकारी सम्भावनाओं में आस्था रखती है। एक अन्य धारा इसे पर्याप्त नहीं मानती कि सार्वजनिक दायरों में स्त्रियाँ सिर्फ़ भागीदारी करें और उनके 'पुरुष' चरित्र को आड़े हाथों न लें। यह विचार नागरिकता की अवधारणा को स्त्रियों द्वारा घरेलू दायरे में निभायी जाने वाली ज़िम्मेदारियों की रोशनी में देखने की कोशिश करता है। यह धारा माँग करती है कि पब्लिक और प्राइवेट के द्विभाजन में प्राइवेट को दमित स्थिति से निकालने के लिए सार्वजनिक जीवन की परिभाषा और संरचना में तब्दीलियाँ लायी जानी चाहिए।

नारीवाद की यह दावेदारी दो अलग-अलग सूत्रीकरणों को जन्म देती है। इनमें एक है 'पर्सनल इज़ पॉलिटिकल' की बहुचर्चित स्थापना। इसका तात्पर्य है राज्य और प्राइवेट कहे जाने वाले दायरे के बीच सत्ता की निरंतरता और प्राइवेट दायरे को सार्वजनिक जीवन में इस्तेमाल की जाने वाली समानता और न्याय की कसौटियों पर कसने का आग्रह। दूसरा सूत्रीकरण 'मातृ-नागरिकता' की अवधारणा से जुड़ा है। यह विचार कहता है कि राजनीति के पौरुषपूर्ण इलाके में भागीदारी करने से संतुष्ट होने के बजाय स्त्रियों को अपने हितों और कौशल के आधार पर अपना सार्वजनिक व्यक्तित्व परिभाषित करना चाहिए। मातृ-नागरिकता के पैरोकार नागरिकता और राष्ट्र की पौरुषपूर्ण प्रकृति को ख़ारिज करके उसके बुनियादी आधारों को प्रेम, स्नेह और करुणा जैसी प्रवृत्तियों के मुताबिक बदलने की वकालत करते हैं।

नागरिकता के सिद्धांत की बहुसांस्कृतिकता, बहुलता, विविधता और विभेद की परिस्थितियों में फिर से जाँच की शुरुआत अस्सी के दशक में हुई। इन बौद्धिक प्रयासों से बहुसांस्कृतिक नागरिकता और विभेदीकृत नागरिकता की स्थापनाएँ निकली हैं।

बहुसंस्कृतिवादी विमर्श ने उन सामाजिक विभेदों पर रोशनी डालने में सफलता प्राप्त की है जो नागरिकता की स्थापित अवधारणा और एक मुश्तरका राष्ट्रीय पहचान बनाने की परियोजना के तहत एक हद तक विचारणीय नहीं रह गये थे। धार्मिक, जातीय और भाषाई अस्मिताओं को नागरिकता के विचार के लिए प्रासंगिक नहीं माना जाता था। बहुसंस्कृतिवादी विमर्श के प्रयासों से ये पहचानें वाजिब लोकतांत्रिक दावेदारियों की तरह देखी जाने लगी हैं। राष्ट्रीय राजनीतिक स्पेस में उनकी अलग जगह और उसी के हिसाब

से नीतियों का सूत्रीकरण करने की माँग एक लोकतांत्रिक माँग समझी जाती हैं।

विभेदीकृत नागरिकता का विचार कहता है कि नागरिकता के समान अधिकार वर्ग-समाज में रहने वाले श्वेत पुरुष के अधिकारों की ही फ़िक्र कर पाते हैं। जातीय, धार्मिक और भाषाई समूह इन अधिकारों के दायरे से बाहर रह जाते हैं। अधिकारों का आबंटन इन समूहों की विशेष स्थितियों का ध्यान रखते हुए होना चाहिए। अधिकार न केवल व्यक्तियों को दिये जाएँ, बल्कि उन्हें समूहों के लिए भी मुहैया कराया जाना ज़रूरी है।

विल किमलिका ने 1996 में समानता की परिभाषा को बहुसांस्कृतिक वर्तमान के मुताबिक बनाने की कोशिश करते हुए सांस्कृतिक समुदायों, अपना वजूद बनाये रखने के उनके प्रयासों और व्यक्ति के सिविल और राजनीतिक अधिकारों के बीच मिलन-बिंदुओं की खोज की। उन्होंने सांस्कृतिक विविधता के लिए गुंजाइश देने हेतु विशेष संवैधानिक और कानूनी उपायों की वकालत की। किमलिका ने समूह आधारित विभेदीकृत अधिकारों की तीन क्रिस्में बतायी हैं : स्व-शासन के अधिकार (राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों को अपने विशिष्ट भू-क्षेत्र का प्रशासन चलाने की स्वायत्तता), जातीय अधिकार (आप्रवासियों द्वारा अपनी जातीय विशेषताएँ सुरक्षित रखने और बहुसंख्यक संस्कृति में आत्मसात न होने के अधिकार की दावेदारी) और विशेष प्रतिनिधित्व के अधिकार (सरकारी संरचनाओं में तरह-तरह के अल्पसंख्यकों, स्त्रियों और विकलांगों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दे कर उनका लोकतंत्रिकरण करना)।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज़्याँ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

## संदर्भ

1. अनुपमा रॉय, 'सिटीज़नशिप', संकलित : राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.) (2008), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पियर्सन-लॉगमेन, नयी दिल्ली.
2. विल किमलिका (1996), *मल्टीकल्चरल सिटीज़नशिप : अ लिबरल थियरी ऑफ़ माइनॉरिटी राइट्स*, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

3. सारा रुडिक (1989), *मैटर्नल थिंकिंग : टुवर्ड्स अ पॉलिटिक्स ऑफ़ पीस*, बीकन प्रेस, बोस्टन.
4. एमी बार्थोलोमियु (1990), 'शुड अ मार्क्सिस्ट बिलीव इन मार्क्स ऑन राइट्स', *सोशलिस्ट रजिस्टर*, एचटीटीपी://सोशलिस्टरजिस्टर.कॉम/फ़ाइल्स/एसआर\_1990\_बार्थोलोमियु.पीडीएफ़

— अभय कुमार दुबे

## नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-2

(हैसियत के रूप में नागरिकता)

(Citizenship: Other perspectives-2)

समकालीन राजनीति शास्त्र के सभी महत्वपूर्ण सैद्धांतिक दृष्टिकोणों ने नागरिकता को एक हैसियत के रूप में समझा है। इन सभी दृष्टिकोणों में इसे एक अवस्था माना गया है। उदारतावादी, गणतंत्रवादी, समुदायवादी, बहुसांस्कृतिक इन सभी ने नागरिकता की स्थिति पर काफ़ी गहराई से विचार किया है जिनमें तीन मुख्य बिंदुओं पर ध्यान दिया जाता रहा है : सीमा (नागरिकता के नियम, नागरिकता में समावेश या बेदखल करने के मापदण्ड), विषय-वस्तु (नागरिकता संबंधी अधिकार और ज़िम्मेदारियाँ) और गहराई (नागरिकता की संकल्पना की सक्रियता या निष्क्रियता)।

सीमा के संदर्भ में आमतौर पर इस बात पर विचार किया जाता है किन व्यक्तियों को नागरिक का दर्जा दिया जा सकता है। देश के बाहर रहने वाले को मतदान का हक़ होगा या नहीं? किसी अन्य देश की नागरिकता किस प्रकार हासिल होगी? विषय-वस्तु से संबंधित पहलुओं में इन बातों पर ध्यान दिया जाता है : नागरिकों को किस प्रकार के अधिकार मिलेंगे? ये अधिकार वास्तव में लोगों को मिल पाते हैं या नहीं? विभिन्न समुदायों को किस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं? नागरिकता की गहराई का सवाल इस बात से ताल्लुक रखता है कि राज्य अपने नागरिकों से क्या उम्मीदें रखता है। क्या नागरिकों के पास सिर्फ़ अधिकार ही होते हैं? या फिर कानून का पालन करने के अलावा उनके कुछ और दायित्व हैं? ये दायित्व कितनी सख्ती से लागू किये जाते हैं? राजनीतिक प्रक्रिया से नागरिक कितने जुड़े हुए हैं या कितने तटस्थ हैं? देखा जाए तो ये सभी सवाल नागरिकता को एक स्थिति या अवस्था मानते हैं। इन सभी सवालों में नागरिकता के मानकीय आदर्श की चर्चा है। भले ही ये सवाल सामाजिक अनुभवों या भेदभावों के कारण सामने आये हैं, लेकिन इनका जोर इस बात पर है कि नागरिकता का मानक किस तरह

बेहतर बनाया जाए। गौरतलब है कि नागरिकता का मानक समय के साथ बदलता रहा है। भारत में भी नागरिकता संबंधी कानून और संविधान के नागरिकता से जुड़े प्रावधानों में कई बार संशोधन हुआ है। इनमें से कुछ संशोधन तो उन अलिखित और अप्रत्यक्ष नागरिक गतिविधियों के कारण हुआ होगा जो नागरिकता की राजकीय परिभाषा से परे हैं। नागरिकता की इन गतिविधियों को दर्ज करने के लिए हमें नागरिकता को एथनोग्राफी के अनुशासन की मदद से समझना पड़ेगा। आखिर नागरिक 'नागरिकता' से क्या समझते हैं? उनकी रोजमर्रा की जिंदगी की कौन-सी गतिविधियाँ उनके नागरिक होने से ताल्लुक रखती हैं। एक निष्ठावान नागरिक मतदान करने और सरकारी नीतियों के कार्यान्वयन के अलावा किन गतिविधियों में संलग्न रहता है।

हैसियत के रूप में नागरिकता और आचरण के रूप में नागरिकता का स्रोत अलग-अलग सैद्धांतिक परम्पराओं में निहित है। पहली परम्परा में उपजे ज्यादातर सवाल ऊपर वर्णित तीन मुख्य बिंदुओं अर्थात् सीमा, विषय-वस्तु और गहरायी से संबंध रखते हैं। नागरिकता के अध्ययन की सबसे प्रमुख परम्परा उदारतावादी लोकतंत्र से जुड़ी हुई है। इसमें राज्य, सम्प्रभुता और नागरिकता— तीनों के प्रति एकीकृत दृष्टिकोण है। नागरिक मुख्य तौर पर अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति है। उसे जो अधिकार प्राप्त हैं उनमें से कई राज्य की ताकत से उसका बचाव करते हैं। यह अलग बात है कि राज्य ही इन अधिकारों का संरक्षण भी करता है। इस परिप्रेक्ष्य में टी.एच. मार्शल की किताब *सिटीजनशिप एंड सोशल क्लास* मील का पत्थर साबित हुई है। मार्शल के अनुसार एक नागरिक होने का पूर्ण एहसास तीन तरह के अधिकारों के संचय से हो सकता है। ये अधिकार ब्रिटेन में तीन सदियों में पहुँच पाये। नागरिक अधिकार, राजनीतिक अधिकार और सामाजिक अधिकारों के मिल जाने के बाद ही नागरिकता की संकल्पना को पूर्ण अर्थ मिला। ऐसा माना जाता है कि एक कल्याणकारी राज्य ही इस संकल्पना को वास्तविक रूप में पूरा कर सकता है। विल किमलिका और वेन नारमन ने इस दृष्टिकोण को 'निजी' या 'निष्क्रिय' नागरिकता का नाम दिया है। इस संकल्पना में नागरिकों को मुख्य रूप से अधिकारों का इस्तेमाल करते देखा जाता है। उन पर अपेक्षाकृत कम दायित्व होता है लेकिन इस कल्याणकारी राज्य के कई कठोर आलोचक भी हुए। नव-दक्षिणपंथी उदारतावाद के दृष्टिकोण से निष्क्रिय नागरिकता की सशक्त आलोचना की गयी। इस संकल्पना में नागरिक सिर्फ अधिकारों का पात्र ही नहीं बल्कि राज्य और अपने प्रति उत्तरदायी है। इनका मानना है कि नागरिकों की भलाई का काम नौकरशाही या राज्य का नहीं बल्कि यह नागरिकों की अपनी जिम्मेदारी है। ब्रिटेन की सरकारों ने 1980 में राज्य द्वारा दी गयी सुविधाओं में काफ़ी कटौतियाँ कीं। कल्याणकारी राज्य की जगह राज्य की

एजेंसियों का निजीकरण, और मुक्त बाज़ार का समर्थन इसका अहम हिस्सा रहा।

राजनीतिक स्तर पर ब्रिटेन की रूढ़िवादी सरकारों में नव-दक्षिणपंथी उदारतावादी संकल्पना का काफ़ी प्रभाव दिखा। लेकिन सैद्धांतिक स्तर पर इसकी काफ़ी आलोचना भी हुई है। जिम्मेदारी और सक्रिय नागरिकता के बहाने इस संकल्पना ने कमज़ोर वर्गों को सामाजिक सुविधाएँ देने से इनकार किया। साथ ही इसने लोगों के जीवन को बाज़ार के चलन पर निर्भर बना दिया। इन आलोचनाओं के कारण नागरिकता के अध्ययन में सामाजिक अधिकारों का महत्त्व आज भी बना हुआ है। सार्वदेशिक या कॉस्मोपॉलिटन नागरिकता की अवधारणा इस परम्परा में होने वाले शोध का नवीनतम संस्करण है। ऐसे कई मुद्दे हैं जो किसी एक देश की परिधि के नागरिकों से ही नहीं, बल्कि एक पूरे क्षेत्र या पूरे विश्व से जुड़े मुद्दे हैं। ऐसे में सार्वदेशिक नागरिकता का विचार नागरिकता को एक राष्ट्र-राज्य की परिधि से बाहर ले जाता है। इन सभी विचारों के बीच क्या इस प्रमुख उदारतावादी परम्परा ने आचरण के रूप में नागरिकता पर कोई ध्यान दिया है? इस परम्परा का ही मोटे तौर पर हिस्सा समझी जाने वाली तीन धाराओं ने व्यवहार के रूप में नागरिकता पर थोड़ा ध्यान दिया है। ये तीन धाराएँ हैं— नागरिक गणतंत्रवाद, विमर्शी लोकतंत्र और बहुसंस्कृतिवाद। पहली दोनों धाराओं ने नागरिकों को एक आदर्श व्यवहार की तरफ़ प्रोत्साहित किया। लेकिन बहुसंस्कृतिवाद नागरिकता के वास्तविक अनुभवों में होने वाले भेदभाव और सरंचनात्मक असमानता पर गौर करता है। कुछ हद तक दोनों ही नागरिकता को महज़ मानकीय स्थिति से थोड़ा ज्यादा मानते हैं। नागरिक गणतंत्रवाद का एक ज़रूरी हिस्सा है नागरिक सद्गुण। इस कल्पना में नागरिकों के सार्वजनिक जीवन पर ज़ोर दिया गया है। एक अच्छा नागरिक सार्वजनिक जीवन उत्साह के साथ जियेगा। राजनीतिक भागीदारी के ज़रिये उसे संतुष्टि का एहसास होगा। अपने नागरिक होने का दायित्व उसे बोझ नहीं लगेगा। यह भागीदारी उसके जीवन का अहम हिस्सा होगी। नागरिक गणतंत्रवाद में सभी नागरिक निर्णय लेने की प्रक्रिया का हिस्सा हैं। विलियम गैलस्टन ने इन नागरिक सद्गुणों के बारे में लिखा है। उनके अनुसार इन सद्गुणों से ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया बेहतर हो सकती है। इन सद्गुणों में सार्वजनिक विमर्श पर अटूट विश्वास, सार्वजनिक बहस से मुद्दों को सुलझाने की पहल, सामाजिक सहिष्णुता, राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी जैसे गुणों को शामिल किया जा सकता है। इस परम्परा में यह माना जाता है कि इन गुणों के होने या न होने के आधार पर ही नागरिकों और गैर-नागरिकों में अंतर किया जा सकता है। नागरिक गणतंत्रवाद की भी बहुत आलोचना हुई है। इसकी एक प्रमुख आलोचना यह है कि नागरिक समुदाय की इस परिकल्पना में सार्थक जीवन की

वैकल्पिक परिभाषा के लिए कोई जगह नहीं है।

आइरिस मैरियन यंग ने नागरिकता की समूह-विभेदीकृत संकल्पना पेश की है। यह ऐसी संकल्पना है जो प्रत्येक समुदाय की जरूरतों और स्थिति पर ध्यान देती है और हर तरह के सामाजिक भेदभाव को दूर करने पर इसका जोर है। बहुसांस्कृतिक चिंतन का एक बड़ा फायदा यह है कि वह सार्वभौमिक नागरिकता के खोखले दावों को उजागर कर देता है। जिसे सार्वभौमिक समझकर पारित किया जा रहा है दरअसल वह अपने भीतर सिर्फ कुछ शक्तिशाली ताकतों की संकल्पना छिपाये है। आम राजनीतिक व सामाजिक जीवन में कुछ को समाहित किया जाता है और बहुतेरों का बहिष्कार होता है। बहुसंस्कृतिवादियों का मानना है कि नागरिकता का ढाँचा ऐसा होना चाहिए कि उसमें सिर्फ व्यक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि समूहों के लिए भी जगह रहे। इस दृष्टि से तीन प्रकार के अधिकारों की जरूरत है। समूह-अधिकार, विशेष प्रतिनिधित्व के अधिकार और कुछ मामलों में स्व-शासन का अधिकार। जाहिर है कि बहुसांस्कृतिक परिकल्पना भेदभाव या असमानता के अनुभव से उपजी है, लेकिन इसका ध्यान राज्य की नीतियों को बेहतर करने की ओर है। यह आम जीवन के भेदभाव संबंधी अनुभवों पर तो ध्यान देती है, पर आम जीवन के आचरण में नागरिकता की जो विभिन्न अभिव्यक्तियों हैं उन पर नहीं।

नागरिक व्यवहारों पर ध्यान देने वाली दूसरी परम्परा है— विमर्शी लोकतंत्र। इसमें व्यक्ति के सार्वजनिक विचार-विमर्श और तार्किक क्षमता पर काफ़ी ध्यान दिया गया है। इस आधार पर यह नागरिकों को सार्वजनिक विचार-विमर्श में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित भी करता है। नागरिक यहाँ राजनीतिक लक्ष्यों का निर्धारण करने में सक्रियता से भाग लेते हैं। ऐसी सक्रिय भागीदारी से ही राज्य का शासन वैध रह सकता है। राज्य नागरिकों का सही प्रतिनिधि हो सकता है और राज्य न्याय के सिद्धांतों का पालन कर सकता है। नागरिक गणतंत्रवादियों से विपरीत विमर्शी लोकतंत्र के तरफ़दारों का यह दावा नहीं है कि यह भागीदारी व्यक्ति की निजी खुशी या संतुष्टि के लिए जरूरी है। वह ऐसा मानते हैं कि न्यायपूर्ण शासन हर व्यक्ति के लिए अहम है और विमर्शी लोकतंत्र इसका सबसे उम्दा तरीका है।

विमर्शी लोकतंत्र, बहुसंस्कृतिवाद और नागरिक गणतंत्रवादी— तीनों ही नागरिक व्यवहारों के बारे में चिंतन तो करते हैं लेकिन मौजूदा नागरिकों के व्यवहार की अनदेखी करते हैं। ऐसे में, राजनीतिशास्त्र को यह जानने का मौका नहीं मिला है कि मौजूदा और आदर्श कल्पनाओं में कितना फ़र्क है। अगर हम यह मान भी लें कि नागरिकों के लिए सार्वजनिक भागीदारी जरूरी है, तो क्या नागरिक इस भागीदारी को सुनिश्चित करने के तरीके अलग-अलग ढंग से

पारिभाषित नहीं कर सकते? नागरिक भागीदारी के इन वैकल्पिक मूल्यों को समझे बिना नागरिकता का अध्ययन अधूरा है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

### संदर्भ

1. आइरिस मैरियन यंग (1990), *जस्टिस ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ डिफ़रेंस*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.
2. टी. एच. मार्शल (1950), *सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास*, फ्लूटो प्रेस, लंदन.
3. फ़िलिप पेटिट (1997), *रिपब्लिकनिज़म : अ थियरी ऑफ़ फ़्रीडम ऐंड गवर्नमेंट*, क्लेरेण्डन प्रेस, लंदन.
4. इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (सम्पा.) (1998), *हैंडबुक ऑफ़ सिटीज़नशिप स्टडीज़*, सेज प्रकाशन, लंदन.
5. जे. बारबलेट, *सिटीज़नशिप : राइट्स, स्टूगल ऐंड क्लास इनइक्वलिटी*, ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
5. विलियम गैलस्टन (1991), *लिबरल परपसेज़ : गुड्स, वर्चुज़ ऐंड डायवर्सिटी इन अ लिबरल स्टेट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
6. सैम्युअल फ़्रीमैन (2000), 'डेलिबरेटिव डेमोक्रेसी : अ सिम्पेथेटिक कमेंट' *फ़िलॉसफ़ी ऐंड पब्लिक अफ़ेयर्स*, खण्ड 29, अंक 4.

— अंकिता पांडेय

## नागर समाज : भारतीय बहस

(Civil Society, an Indian Debate)

भारतीय राजनीति में इक्कीसवीं सदी का पहला दशक नागर समाज की अवधारणा के इर्द-गिर्द हुई उत्तेजक बहसों से गूँजा। इस विवाद में सिविल सोसाइटी के साथ-साथ राजनीतिक समाज या पॉलिटिकल सोसाइटी और सृजनात्मक समाज या क्रिएटिव सोसाइटी से संबंधित सिद्धांतों की भी भूमिका रही। बहस के दो आयाम थे : भूमण्डलीकरण के

बाद पनपी प्रवृत्तियों को सैद्धांतिक जामा पहनाने की कोशिश, और इन अवधारणाओं की रोशनी में भारतीय लोकतंत्र में जन-सहभागिता की समझ बनाने का प्रयास।

पश्चिम के आधुनिक राजनीतिक चिंतन में सिविल सोसाइटी का बना-बनाया मतलब उस दायरे से है जो राज्य, बाजार और परिवार जैसी स्थापित संस्थाओं के बाहर है और जहाँ सामाजिक सरोकार निर्मित होते हैं। लेकिन भूमण्डलीकरण के बाद से सिविल सोसाइटी की इस पश्चिमी समझ में बदलाव आया है। अब सिविल सोसाइटी के कई पर्यायवाची रूप उपलब्ध हैं, जैसे थर्ड सेक्टर और एनजीओ यानी गैर-सरकारी या स्वयंसेवी संगठन।

भारत में सिविल सोसाइटी की समझ बनाने के लिए अक्सर संस्थाओं की गिनती और सर्वेक्षण पर जोर दिया जाता रहा है। यह समझ डायरेक्टरी-केंद्रित है जिसके तहत जनान्दोलनों और स्थानीय स्वयंसेवी संस्थाओं और शहरों में अंतर्राष्ट्रीय फंडिंग पर चलने वाली संस्थाओं को एक श्रेणी में रख कर समझा जाता रहा है। राजेश टंडन और रंजीता मोहंती द्वारा सम्पादित पुस्तक *सिविल सोसाइटी* को इस तरह की कोशिशों से थोड़ा सा हट कर कहा जा सकता है। टंडन और मोहंती ने सिविल सोसाइटी की व्यापकता समझने के लिए कुछ आंदोलनों को संदर्भ बिंदु माना है। इस तरह के सर्वेक्षण आधारित साहित्य की खूबी यह है कि उसके जरिये उन बेहद छोटे आंदोलनों और संस्थाओं पर भी रोशनी पड़ जाती है जिनके मुद्दे हमारे सार्वजनिक विमर्श की परिधि से बाहर रहते हैं। लेकिन इस खूबी के बावजूद यह सर्वेक्षण आधारित विमर्श उत्तर-औपनिवेशिक भारत में विकसित हुई राजनीतिक विविधताओं को नज़रअंदाज़ करता है। पश्चिम में भी सिविल सोसाइटी की परिघटना स्वयं में कभी हर परिस्थिति में समरूप नहीं थी। भारतीय विशिष्टताओं की समग्र अवधारणात्मक नुमाइंदगी करने में तो यह कतई अक्षम है। एक अन्य समस्या सिविल सोसाइटी की अवधारणा के आंतरिक अंतर्विरोधों की है। स्वयंसेवी संस्थाओं, ज़मीनी संगठनों, विदेशी फंडिंग पर चलने वाले संगठनों और दलीय राजनीति से अलग हट कर आंदोलन करने वाली संस्थाओं में कई बुनियादी फ़र्क हैं। इनकी अलग-अलग शिनाख्त ज़रूरी है और सिविल सोसाइटी के विचार ने अभी तक यह खूबी नहीं दिखाई है।

इन्हीं कारणों से भारत में सिविल सोसाइटी की दो परिभाषाएँ समांतर चल रही हैं। एक परिभाषा के मुताबिक सिविल सोसाइटी को विकास और जन-हित से जुड़े उन कर्तव्यों का क्षेत्र माना गया है जिनका निर्वाह लोकोपकारी राज्य के विलुप्त होने से पहले सरकारी एजेंसियाँ द्वारा किया जाता था। अर्थात् उन गैर-सरकारी संस्थाओं का समूह जो सरकारी और निजी क्षेत्र (देशी-विदेशी) से आर्थिक

संसाधन जुटा कर शिक्षा, स्वास्थ्य, और सार्वजनिक हित के मोर्चे पर सक्रिय रहती हैं। दूसरी परिभाषा सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन और जन-संघर्ष के दायरे को सिविल सोसाइटी के दायरों में रखती है। इस नयी समझ की शुरुआत पर्यावरण संबंधी आंदोलनों से हुई और फिर स्त्री-सशक्तीकरण, दलित-अस्मिता, साम्प्रदायिकता विरोध और भ्रष्टाचार विरोधी अभियान भी सिविल सोसाइटी की परिधि में आ गये। बजाय इसके कि ये दोनों परिभाषाएँ एक-दूसरे की पूरक बन कर गैर-सरकारी और बाजार से इतर वैकल्पिक और आंदोलनकारी गतिविधियों को अपने समग्र दायरे में समेट लेतीं, इनके बीच होड़ होने लगी।

पहली परिभाषा की पैरोकारी करने वालों का आचरण सिविल सोसाइटी से संबंधित संगठनों को सरकार की पूरक-भूमिका में ले गया। उनके कई दिग्गज जनोन्मुख विधि-निर्माण, विकास को जनता के पास ले जाने और लोकतंत्र को गहरायी देने के मकसदों से सरकार और राजनीतिक दलों की परामर्शदात्री समितियों के अंग बन गये। सिविल सोसाइटी के इस हिस्से की उपलब्धियों में सूचना के अधिकार का क़ानून और राष्ट्रीय ग्रामीण रोज़गार योजना कार्यक्रम शामिल है। सिविल सोसाइटी के सलाहकार न केवल क़ानूनों का मसविदा तैयार करते हैं, बल्कि उनके लिए माहौल बनाने हेतु जन-सुनवाईयाँ आयोजित करते हैं और मीडिया की बहसों में मुखर भागीदारी करते हैं।

दूसरी परिभाषा की पैरोकारी करने वालों ने सिविल सोसाइटी की आंदोलनकारी गतिविधियों को राज्य की संस्था के ऊपर दबाव बनाने के औज़ार की तरह इस्तेमाल किया। उन्होंने असहयोग का रुख अपनाते हुए सार्वजनिक मंच से सरकार को विभिन्न तरह की चुनौतियाँ दीं। एक तरह से नागर समाज के ये संगठन उस भूमिका में आ गये जो भूमण्डलीकरण और गठजोड़ राजनीति के चलने से पहले विपक्षी राजनीतिक दल निभाते थे। इस तरह उन्होंने मुद्दा आधारित मुहिमों को अग्रगति देते हुए लोकतांत्रिक संघर्ष के ठंडे पड़े हुए दायरे को एक बार फिर से गरमा दिया।

राजनीतिक सिद्धांतकार पार्थ चटर्जी ने 2008 में प्रकाशित एक रचना में राजनीतिक समाज की अवधारणा प्रस्तुत की है। इसका जन्म सिविल सोसाइटी के विचार की सीमाओं के गर्भ से हुआ है। पॉलिटिकल सोसाइटी के जरिये चटर्जी तीन बिंदुओं पर प्रकाश डालते हैं। पहला, वे शहरों में रहने वाले ग़रीब तबकों और ग्रामीण समूहों की राजनीति की बात करते हैं जो न तो सिविल सोसाइटी के अ-राजनीतिक विमर्श से समझी जा सकती है और न ही स्वयंसेवी संस्थाओं की गिनती करके। दूसरी प्रमुख बात यह है कि उनका यह प्रयास उत्तर-औपनिवेशिक भारत की सामाजिक-आर्थिक संरचनाओं को केंद्र में रख कर सिद्धांत-

रचना की अपील करता है। तीसरी विशेषता इस सिद्धांत का रोज़मर्रा की राजनीति के प्रति सचेत होना है। चटर्जी शहरी झोपड़-पट्टियों और दरिद्र ग्रामीणों द्वारा किये जाने वाले दैनंदिन संघर्षों को इसके उदाहरण के तौर पर पेश करते हैं। इस तरह पॉलिटिकल सोसाइटी एक ऐसे क्षेत्र के तौर पर परिभाषित होती है, जहाँ एक ओर आम लोगों की अस्थायी और सीमित माँगों पर आधारित संगठन शासकीय संस्थाओं के सामने अपने दावे रखते हैं, वहीं दूसरी ओर राज्य, क़ानून की स्थापित परिधि से बाहर जाकर कुछ कामचलाऊ बंदोबस्त करता है। चटर्जी के लिए लोकतांत्रिक राजनीति का केंद्र पॉलिटिकल सोसाइटी ही है।

हालाँकि यह सिद्धांत कई सम्भावनों से परिपूर्ण है, लेकिन इसमें दो समस्याएँ भी हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यह कुछ चुनिंदा उदाहरणों पर ही टिकी है, जैसे कोलकाता की झुगियों के अध्ययन और हाल ही में नंदीग्राम में होने वाली घटनाएँ। ऐसे में पूछा जा सकता है कि क्या शहरों और गाँव में बनने वाली पॉलिटिकल सोसाइटी की संरचनाओं और बुनावट में कोई फ़र्क हो सकता है या नहीं? चटर्जी के प्रयास की दूसरी कमी है उनके द्वारा पारम्परिक आंदोलनों को पूरी तरह नज़रअंदाज़ करना। चटर्जी के फ़्रेमवर्क में संगठित कृषक और मज़दूर आंदोलन हैं ही नहीं। वे दलित, महिला और पर्यावरण संबंधी आंदोलन के प्रति भी उदासीन हैं। ऐसे में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या शासकीय संस्थाओं और संगठित आंदोलनों का रिश्ता सिर्फ़ पश्चिम में विकसित सिविल सोसाइटी मॉडल से ही समझा जा सकता है? क्या केवल असंगठित संघर्ष ही पॉलिटिकल सोसाइटी का हिस्सा हो सकते हैं और संगठित संघर्ष सिविल सोसाइटी का?

पॉलिटिकल सोसाइटी और संगठित आंदोलनों के रिश्तों की सीमित व्याख्या क्रिएटिव सोसाइटी के विचार की ओर ले जाती है। इस अवधारणा का प्रतिपादन मनोरंजन मोहंती ने किया है। मोहंती कहते हैं कि क्रिएटिव सोसाइटी से उनका तात्पर्य समाज के विकास के उस चरण से है जब समाज में पहले ही से मौजूद विरोधाभास सक्रिय हो कर मूर्त रूप लेना प्रारम्भ कर देते हैं। प्रायः ऐसा तब होता है जब दमित और शोषित सामाजिक समूह राजनीतिक तौर पर गोलबंद हो कर अपने अधिकारों की माँग करते हैं। उनकी मान्यता है कि कृषक और आदिवासियों के संघर्ष, क्षेत्रीय और प्रांतीय स्तर के स्वायत्तता आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन और स्त्री-आंदोलन इस युग में क्रिएटिव सोसाइटी के उद्भव का प्रतीक है। क्रिएटिव सोसाइटी का विचार समाज को देखने की एक पद्धति है जिस के ज़रिये समाज में मौजूद वर्ग, जाति, नस्ल, लिंग जैसी विविध संरचनाओं का विरोध

मुक्ति के व्यापक विचार को चरितार्थ करता है। यह पद्धति समाज की पुनःरचना की तरफ़ इशारा करती है।

क्रिएटिव सोसाइटी का विचार एक ऐसा व्यापक फ़्रेमवर्क देता है जिसके ज़रिये मुक्ति के लिए छटपटा रहे जन-समूहों की बहुआयामी जुझारू राजनीति समझी जा सकती है। अपने लेखन में मोहंती ज़मीनी राजनीति की हकीकत का एक उत्साहजनक चित्र खींचते हैं। मोहंती की दूसरी स्थापना सामाजिक/राजनीतिक आंदोलनों की सापेक्षित स्वायत्तता है। मोहंती बताते हैं कि सामाजिक आंदोलनों के लिए राज्य निस्संदेह ज़मीनी राजनीति का एक व्यापक संदर्भ-बिंदु है। लेकिन इन आंदोलनों ने मुक्ति की जो व्यापक अवधारणा स्थापित की है, वह सत्ता-परिवर्तन और राज्य पर नियंत्रण जैसे स्थापित राजनीतिक कृत्यों से कहीं ऊपर है। ये सामाजिक आंदोलन समाज बदलने की बात कर रहे हैं जिसके लिए राज्य की संरचनाओं का लोकतंत्रीकरण पहली शर्त है। इस तरह मोहंती के तर्क में आम्बेडकर की वह दलील मुखर हो कर आती है जो उन्होंने जाति-प्रथा के अंत और स्वराज-प्राप्ति के लिए संघर्ष के संदर्भ में दी थी।

यह सही है कि सामाजिक आंदोलनों में वैकल्पिक राजनीति के लिए एक खास सम्भावना मौजूद है, लेकिन क्रिएटिव सोसाइटी के फ़्रेमवर्क में रोज़मर्रा के राजनीतिक द्वंद्वों के लिए कोई स्थान नहीं है। जिस तरह पार्थ चटर्जी का तर्क सिर्फ़ और सिर्फ़ रोज़मर्रा की राजनीति पर टिका है, मोहंती का तर्क भी उसी तरह सिर्फ़ और सिर्फ़ आंदोलनरत संगठित राजनीति पर आधारित है। दूसरे, मोहंती आंदोलनों द्वारा मुक्ति के महाविचार की परिकल्पना करते हुए विभिन्न आंदोलनों के आपसी विरोधाभास पर निगाह नहीं डालते।

सिविल सोसाइटी, पॉलिटिकल सोसाइटी और क्रिएटिव सोसाइटी का यह विश्लेषण दो मूल प्रस्तावनाएँ इंगित करता है। पहला, ये तीनों अवधारणाएँ एक दूसरे से विमर्श करती नज़र आती हैं। लेकिन ताज़ुब की बात यह है ये तीनों सैद्धांतिक मुहिम एक-दूसरे के प्रति उदासीन हैं। न तो मोहंती पॉलिटिकल सोसाइटी के विचार से कोई रिश्ता बनाने की कोशिश करते हैं और न ही चटर्जी क्रिएटिव सोसाइटी के विचार के लिए कोई उत्साह दिखाते हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-ज़ाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशांट, माइकल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ुको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक

दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

### संदर्भ

1. राजेश टंडन और रंजीता मोहंती (सम्पा.) (2000), *सिविल सोसाइटी*, प्रिया, नयी दिल्ली.
2. मनोरंजन मोहंती (2009), 'सोशल मूवमेंट्स इन अ क्रिएटिव सोसाइटी'. संकलित : मनोरंजन मोहंती, (सम्पा.) *क्लास, कास्ट, जेंडर*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

— हिलाल अहमद

## नागार्जुन

(Nagarjun)

शून्यता की अवधारणा को तार्किक रूप से सुसम्बद्ध करके दार्शनिक सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय बौद्ध दार्शनिक आचार्य नागार्जुन को है। वे बुद्ध धर्म की महायान शाखा की उपशाखा माध्यमिका के प्रमुख सिद्धांतकार थे। उनके दर्शन में 'मझिमा निकाय' को श्रेष्ठ बताने वाली बुद्ध की विख्यात शिक्षा की दार्शनिक निष्पत्ति हुई है। मझिमा निकाय का तात्पर्य है वैराग्य और सांसारिकता के दो सिरों के बीच का रास्ता। नागार्जुन ने द्वंद्वात्मक तर्कपरकता का प्रयोग करके मानवीय सोच-विचार के अंतर्विरोधों को उजागर किया। उन्होंने सभी दावेदारियों को निषेधों के युग्म में घटा कर चिंतन को वैराग्य और सांसारिकता की अतियों से मुक्त करने का प्रस्ताव किया ताकि मस्तिष्क ज्ञान की प्राप्ति करने लायक बन सके। नागार्जुन के अनुसार द्वंद्वात्मकता की यह प्रक्रिया चार चरणों में चलती है। पहले वह किसी चीज़ की पुष्टि करती है, फिर उसका निषेध, और फिर पुष्टि और निषेध की पुष्टि, और अंत में पुष्टि और निषेध का निषेध। इस प्रक्रिया के मुताबिक एक बार जब मस्तिष्क द्वंद्वात्मक समझ का इस्तेमाल करता हुआ इन दोनों अतियों की व्यर्थता समझ जाएगा तो उसे यथार्थ की प्रतीति एक शून्यता में होगी। इसका परिणाम परम प्रज्ञा की उपलब्धि में होगा। नागार्जुन इसे प्रज्ञापारमिता की संज्ञा देते हैं। यह एक ऐसी स्थिति है जिसमें बुद्धि और अंतर्ज्ञान आपस में जुड़ कर एक हो जाते हैं। उनकी कृति *मूल माध्यमिक कारिका* उनके दर्शन की आधारशिला है। शून्यता की इसी स्थापना के कारण नागार्जुन की गिनती महान बौद्ध दार्शनिकों में होती है।

नागार्जुन का जन्म दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कुमारजीव द्वारा लिखी गयी जीवनी के मुताबिक जीवन के शुरुआती दौर में पाप और दुष्टता के अंदेशों और उनके कारण पैदा हुई दुश्चिंताओं से जूझने के बाद नागार्जुन को एक विशेष तरह की ज्ञानात्मक अनुभूति हुई और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कामना ही सारे दुखों की जड़ है। इस एहसास के साथ ही उन्होंने बुद्ध धर्म अपनाया। तिब्बती स्रोत इस संबंध में एक भिन्न दृष्टांत पर भरोसा करते हैं। उनके अनुसार ज्योतिषियों ने सात साल की उम्र में ही नागार्जुन की मृत्यु की भविष्यवाणी कर दी थी जिसे टालने के लिए ही वे शैशव में ही बौद्ध हो गये। आध्यात्मिकता और विद्वत्ता तक नागार्जुन किस रास्ते पहुँचे, इस विषय में मतैक्य के अभाव के बावजूद इस बात पर एक राय है कि शुरू से ही गहन अध्ययन और मनन में लिप्त रहना उनकी विशेषता थी जिसके कारण उन्हें गहन अंतर्दृष्टियों की प्राप्ति हुई।

बुद्ध-निर्वाण के लगभग सौ वर्ष बाद वैशाली में सम्पन्न द्वितीय बौद्ध संगीति में थेर (स्थविर) भिक्षुओं ने मतभेद रखने वाले कुछ भिक्षुओं को 'पाप भिक्षु' कहकर संघ से बाहर निकाल दिया था। उन निष्कासित भिक्षुओं ने उसी समय अपना अलग संघ बना कर स्वयं को 'महासांघिक' और थेरवादियों (स्थविरवादियों) को 'हीनसांघिक' नाम दिया। कालांतर में इसी विभाजन ने महायान और हीनयान का रूप धारण किया। थेरवाद से महायान सम्प्रदायों के क्रमशः विकास में कई शताब्दियाँ लगीं। सम्राट अशोक द्वारा लगभग 249 ईसापूर्व पाटलिपुत्र में आहूत तृतीय बौद्ध संगीति में पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का संकलन हुआ जिसका प्रचार अशोकपुत्र (या भाई) महेंद्र द्वारा श्रीलंका में किया गया जो अभी तक वहाँ प्रचलित है। श्रीलंका में प्रथम शती ईसापूर्व में पालितिपिटक को सर्वप्रथम लिपिबद्ध किया गया। यही पालि तिपिटक अब सर्वाधिक प्राचीन तिपिटक (त्रिपिटक) के रूप में उपलब्ध है। तृतीय संगीति के बाद से ही भारत में थेरवाद धीर-धीर लुप्त होता गया।

हीनयान ने बुद्ध के उपदेशों की अलग समझ विकसित की। उसने बुद्ध के आध्यात्मिक अद्वैतवाद को भुला कर बहुत्ववादी वास्तववाद का प्रतिपादन किया। सर्वास्तित्वाद् का शाब्दिक अर्थ है सब कुछ अर्थात् सबकी सत्ता है, लेकिन वस्तुतः इसने जीव को क्षणिक विज्ञानों की संतान और जगत को क्षणिक परमाणुओं की संतान बना कर उनके प्रतिक्षण परिणामी संघातों को भी स्वीकार किया। आत्मा और ईश्वर का निषेध करके उसने बुद्ध के शरीर के नख, केश, दंत, अस्थिखण्ड पर भव्य मंदिर बनाकर बुद्ध-

प्रतिमा को ईश्वर के आसन पर बिठा दिया। हीनयान के दोषों और अंतर्विरोधों को दूर करके बुद्धोपदिष्ट अद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए महायान का उदय हुआ। महायान के सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ *महायान वैपुल्यसूत्र* हैं जिनमें *प्रज्ञापारमिता* और *सद्धर्म पुण्डरीक* आदि अत्यंत प्राचीन हैं। इनमें शून्यता के उसूल का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

भारत में बौद्धेतर दार्शनिक शून्यवाद का तात्पर्य संसार की शून्यमयता से समझा जाता है। इस विचार के मुताबिक किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। मध्वाचार्य ने अपने *सर्व दर्शन संग्रह* में इस प्रकार की युक्ति दी है। इसके मुताबिक ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान परस्पर आश्रित हैं। एक का अस्तित्व शेष दोनों पर निर्भर है। अतः यदि एक असत्य हो तो शेष दोनों असत्य सिद्ध होंगे। जब हम किसी रस्सी को साँप समझ लेते हैं तो पूरा अस्तित्व बिल्कुल असत्य हो जाता है। ज्ञात वस्तु (साँप) यदि असत्य है तो ज्ञाता तथा ज्ञान भी असत्य हैं। अतः इस दृष्टांत द्वारा यह प्रतीत होता है कि स्वप्न-जगत की तरह ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय सभी असत्य हैं। नतीजा यह निकलता है कि आभ्यंतर या बाह्य किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। यानी संसार बिल्कुल शून्य है। इस दर्शन के अनुसार चूँकि किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है इसलिए इसे कहीं-कहीं सर्ववैनाशिकवाद भी कहा गया है। परंतु वास्तव में ऐसा है नहीं क्योंकि यह केवल इंद्रियों से प्रत्यक्ष जगत को असत्य मानता है।

नागार्जुन के मुताबिक इस प्रत्यक्ष जगत से परे पारमार्थिक सत्ता विद्यमान है, लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके विषय में यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता है कि वह तत्त्व आंतरिक है या बाह्य। लौकिक विचारों से वर्णनीय न होने के कारण वह तत्त्व 'शून्य' कहा गया है। परंतु शून्य वस्तुतः अभावरूपी नहीं है। अभाव स्वयं एक सापेक्ष शब्द है, क्योंकि 'भाव' की कल्पना पर ही 'अभाव' आश्रित है। परंतु वह परमतत्त्व स्वतः एक निरपेक्ष सत्ता है। वह अपनी सत्ता के लिए किसी पर आश्रित नहीं है। जब आपने कहा कि 'यहाँ घड़ा नहीं है', तब आपने अनजाने ही 'है' की भी कल्पना स्वीकार कर ली। फलतः अभाव की सत्ता भाव के ऊपर अवलम्बित होने से एक सापेक्ष सत्ता (किसी वस्तु की अपेक्षा रखने वाली सत्ता) है। 'शून्य' एक निरपेक्ष तत्त्व है, जो स्वतः अपने-आप में पूर्ण है, सत्य है, वर्तमान है; अन्य किसी के आधार पर खड़ा नहीं रहता। 'शून्य' का यही अर्थ नागार्जुन के मत का अभीष्ट है।

नागार्जुन जिस शून्यवाद की स्थापना करते हैं उसके तहत सामान्य रूप में वस्तुओं की प्रतीति तो होती है। लेकिन, जब हम उसके तात्त्विक स्वरूप को जानने के लिए उद्यत होते हैं तो हमारी बुद्धि काम नहीं करती है। हम यह निश्चय नहीं

कर पाते कि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप क्या है। सत्य है, या असत्य है, या सत्य और असत्य दोनों है, या न तो सत्य है और न तो असत्य है। वस्तुओं का स्वरूप इन चार कोटियों से रहित होने के कारण 'शून्य' कहा जाता है। इससे साबित होता है कि वस्तुओं का पारमार्थिक स्वरूप अवर्णनीय है। इस अवर्णनीयता को प्रमाणित करने के लिए प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् वस्तुओं का पारमार्थिक स्वरूप अवर्णनीय है। इस अवर्णनीयता को प्रमाणित करने के लिए प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धांत अर्थात् वस्तुओं की परनिर्भरता की सहायता ली गयी है। अतः नागार्जुन कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही शून्यता है। वस्तुओं का कोई ऐसा धर्म नहीं जिसकी उत्पत्ति किसी और पर निर्भर न हो। अर्थात् जितने धर्म हैं सभी शून्य हैं। इस विचार से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के परावलम्बन को, उनकी परिवर्तनशीलता को, उनकी अवर्णनीयता को शून्य कहते हैं।

यह शून्यवाद न तो वस्तुओं को सर्वथा तथा निरपेक्ष आत्मनिर्भर मानता है और न ही वस्तुओं को पूरा असत्य ही समझता है। वरन् यह वस्तुओं के परनिर्भर अस्तित्व को मानता है। इसी कारण से बुद्ध भी प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यम-मार्ग मानते थे। नागार्जुन भी कहते हैं कि यह प्रतीत्यसमुत्पाद से ही उत्पन्न है। यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह सत्य है या असत्य है।

वस्तु-जगत के विचार के साथ-साथ माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता के संबंध में भी विचार करते हैं। उनका कथन है कि बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद या अनित्यवाद केवल दृश्य जगत के लिए लागू है जिसे हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं। लेकिन यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जिन संस्कारों से इंद्रिय ज्ञान होता है, निर्वाण में उनका जब विलोप हो जाता है, तब किस प्रकार का अनुभव होता है? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उस समय जो अनुभूति होती है वह सापेक्ष नहीं होती। अतः माध्यमिक कहते हैं कि वह अनुभूति ही पारमार्थिक है जो दृश्य वस्तुओं से परे हैं, नित्य है, निरपेक्ष है तथा जो साधारण व्यावहारिक धर्मों से रहित है।

नागार्जुन कहते हैं कि दो प्रकार के सत्य हैं जिन पर बुद्ध के धर्म संबंधी उपदेश निर्भर हैं। एक पारमार्थिक सत्य और दूसरा संवृति सत्य। जो व्यक्ति इन दोनों सत्यों के भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की शिक्षाओं के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते। पारमार्थिक सत्य तो शून्य रूप है। वही वास्तव है और उससे इतर सब कुछ मिथ्या है, झूठा है तथा अनृत है, परंतु उसकी व्यावहारिक सत्ता है। संवृति सत्य का अर्थ है व्यावहारिक सत्य। निर्वाण से भिन्न पदार्थों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। संवृति सत्य परमार्थिक सत्य की



प्राप्ति के लिए एक साधन मात्र है। निर्वाण की दशा भी साधारण व्यावहारिक दशा से भिन्न होती है, क्योंकि निर्वाण पाने वाला प्राणी व्यावहारिक दशा से सर्वथा मुक्त हो जाता है। हमारी कल्पना से वह अतीत होती है। उसका भी वर्णन नकारात्मक रूप से ही किया जा सकता है। निर्वाण का रूप-निर्धारण करते हुए आचार्य नागार्जुन के इस नकारात्मक विवरण पर ध्यान देना आवश्यक है। वे कहते हैं कि जो अज्ञात है (अर्थात् साधारण उपायों के द्वारा अविदित है), जिसका विनाश नहीं होता, जो नित्य भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है और जो उत्पन्न भी नहीं है, उसी का नाम निर्वाण है। निर्वाण को यथार्थ रूप से जानने वाला व्यक्ति ही तथागत (बुद्ध) है और इसलिए उनका भी स्वरूप निर्वाण के समान ही वर्णनानीत है।

बुद्ध से पूछा गया था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद तथागत की क्या गति होती है? इसका उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था। वे मौन रह गये थे। इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर बुद्ध क्यों नहीं देते थे; इसका कारण भी इससे स्पष्ट है। उन दार्शनिक समस्याओं का समाधान बुद्ध ने इसलिए नहीं किया कि साधारण अनुभव के शब्दों से उनका समाधान सम्भव नहीं था। वे प्रायः कहा करते थे कि मैंने गम्भीर सत्य का अनुभव किया है। जो 'दुर्दर्श, दुरुनुबोध, अतर्कावचर' है। ऐसा अनुभव तर्क द्वारा नहीं हो सकता। बुद्ध की इस उक्ति से माध्यमिकों के पारमार्थिक सत्य संबंधी सिद्धांत का समर्थन होता है।

वास्तव में अगर देखा जाए तो नागार्जुन के माध्यमिक दर्शन तथा शंकराचार्य के अद्वैत-वेदांत में अनेक समानताएँ हैं। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य को मान्यता देते हैं। वे वस्तु-जगत को असत्य मानते हैं। वे पारमार्थिक सत्य का नाकारात्मक वर्णन करते हैं तथा निर्वाण को पारमार्थिक सत्य की अनुभूति समझते हैं। शंकर-वेदांत के विचार इन विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं।

**देखें :** आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *क्रामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

## संदर्भ

1. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली.

2. के. दामोदरन (1982), *भारतीय चिंतन परम्परा*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय और धीरेंद्र मोहन दत्त, *भारतीय दर्शन*, पुस्तक भण्डार, पटना.
4. आचार्य बलदेव उपाध्याय (1999), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी.

— अजय कुमार पाण्डेय

## नामवर सिंह

(Namvar Singh)

हिंदी के साहित्य-संसार में पिछले साठ साल से अपने लेखन, सिद्धांतीकरण और वक्तृता से निरंतर रचनात्मक हस्तक्षेप करने वाले नामवर सिंह (1927- ) उत्तर-रामचंद्र शुक्ल युग में आलोचना की नयी दृष्टि सामने लाने में समर्थ हुए हैं। हिंदी आलोचना को जड़शास्त्रीयता से मुक्त रखने में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण है। शुक्ल ने जिन प्रवृत्तियों की चर्चा की थी, उन्हें केंद्र में रख कर नामवर सिंह ने हजारी प्रसाद द्विवेदी और गजानन माधव मुक्तिबोध के चिंतन को आधार रूप में ग्रहण किया। 'दरबारी काव्य-परम्परा' की आलोचना करते हुए उन्होंने नगेंद्र की स्थापनाओं को आड़े हाथों लिया और छायावाद के मूल्यांकन के सवाल पर शुक्ल को। नामवर सिंह जबरदस्त तैयारी के साथ मार्क्सवादी विचार, जनवादी जीवन-दृष्टि और नये साहित्य की भाव-भूमि का समवेत बोध लेकर आलोचना के क्षेत्र में उतरे। मुक्तिबोध को प्रगतिवादियों से शिकायत थी कि वे नये साहित्य को सहानुभूति से नहीं देख रहे हैं, पर नामवर सिंह ने अपने पूर्ववर्ती प्रगतिवादी आलोचकों की राह पर न चलकर नयी कविता का सहानुभूतिपरक पाठ-विमर्श प्रस्तुत किया। साहित्य और राजनीति के रिश्ते के प्रति सदा सजग रहने वाले नामवर सिंह की आलोचना-प्रक्रिया वैचारिक उत्तेजना की वाहक रही है। उनके निबंध पढ़ते हुए पाठक स्वयं वैचारिक ऊर्जा अनुभव करता है और नयी बहसों की दिशा खुलती है। जिस तरह एक समय में अज्ञेय ने *तार सप्तक* के माध्यम से नयी बहसों को उभारा था, वैसे ही नामवर सिंह ने *कविता के नये प्रतिमान* और *दूसरी परम्परा की खोज* जैसी रचनाओं से हिंदी समीक्षा में अनेक नयी बहसों को जन्म दिया है। रामस्वरूप चतुर्वेदी ने ठीक लिखा है कि 'नामवर सिंह जैसी व्यवस्थित और सम्पूर्ण तैयारी अत्यंत कठिनाई से मिलेगी। पाण्डित्य और सहृदयता, शोध और आलोचना, शास्त्र और



नामवर सिंह (1927- )

लोक, भारतीय और विदेशी विचार पद्धतियों, पूर्वी साम्यवादी तथा पश्चिमी स्वाधीन समीक्षा धाराओं, पुराने तथा नये साहित्य में बराबर रुचियों का विरल सम्मिलन उनके आलोचक व्यक्तित्व की असाधारण विशेषता है। नामवर सिंह वाचिक परम्परा के जीवंत गढ़ हैं, और सभा-गोष्ठियों में निरंतर उनकी उपस्थिति हिंदी-जगत का एक विशिष्ट उल्लेखनीय तथ्य है।

छायावाद के समर्थन और विरोध के दौर में नामवर सिंह की पहली पुस्तक *छायावाद* (1954) पाठकों को मिली। छायावाद की ऐतिहासिक-सामाजिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करने के बजाय उन्होंने उसे सामाजिक सत्य के रूप में समझाने का प्रयत्न किया। छायावादी कवियों की प्रसिद्ध काव्य-पंक्तियाँ लेकर नामवर सिंह ने छायावाद की सर्जनात्मकता को नयी शैली में प्रस्तुत किया। हिंदी के पाठकों को इस नयी शैली ने आकृष्ट किया, विशेषकर अध्यायों के प्रस्तुतीकरण की नवीनता ने। हिंदी आलोचना में कई बार कहा जाता है कि नामवर सिंह वाद-विवाद-संवाद में विश्वास रखने वाले संवादी अलोचक हैं। समीक्षा की उनकी दूसरी पुस्तक *कविता के नये प्रतिमान* (1968) से ऐसा भरोसा भी बँधता है। पुस्तक दो खण्डों में है और प्रथम खण्ड में परम्परा के प्रतिष्ठित प्रतिमानों की प्रासंगिकता पर विचार किया गया है। दूसरे खण्ड में नये काव्य-मूल्यों को लेकर सर्जनात्मक बहस है। इस रचना में उनकी मुख्य चिंता यह है कि 'प्रगीत-कविता कविता का पर्याय हो गयी है और प्रगीत

का प्रतिमान कविता का प्रतिमान हो गया है।' वे कहते हैं कि इसीलिए काव्य-प्रतिमानों को व्यापकता प्रदान करने के लिए आत्मपरक छायावादी कविता की दुनिया से निकाल कर उन कविताओं को विचार की सीमा में ले आना आवश्यक है जिन्हें किसी अन्य उपयुक्त शब्द के अभाव में 'लम्बी कविता' कहा जाता है। नामवर सिंह ने स्पष्ट कहा है कि 'दरअसल आत्मपरक प्रगीत बनाम वस्तुपरक लम्बी कविता के इस संघर्ष के मूल में केवल काव्य-रूपों के वरण की समस्या नहीं है, बल्कि इसका संबंध पूरी कविता की बनावट संबंधी दो भिन्न दृष्टियों से है, जिनके अंतर्गत भाव बोध से लेकर भाषा तक के सभी स्तर शामिल हैं।' सामाजिक तथा वस्तुपरक यथार्थ को सैद्धांतिक समीक्षा तक सीमित न रख कर नामवर सिंह ने 'परिशिष्ट' में मुक्तिबोध की कालजयी रचना 'अँधेरे में' की व्यावहारिक समीक्षा प्रस्तुत की है।

नामवर सिंह ने रचनाकार केंद्रित आलोचना ज्यादा नहीं लिखी। नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर तथा राहुल सांकृत्यायन पर ही कुछ लेख मिलते हैं। इन लेखों में वाद-विवाद शैली का अभाव है। नामवर सिंह ने मुक्तिबोध के आलोचना-पथ को चौड़ा किया है— तमाम वैचारिक आधारों के साथ। शुरुआती दौर में उन्होंने मुक्तिबोध की रचना *एक साहित्यिक की डायरी* की समीक्षा भी लिखी थी। दरअसल, मुक्तिबोध बहुत दूर तक नामवर सिंह के साहित्य-सहचर हैं। मुक्तिबोध का संघर्ष प्रगतिशील तथा प्रगतिशीलविरोधी दोनों शिविरों से था। वे कलाकृति की सामाजिकता और जीवन-लय समझने की सलाह देते थे और रचना की भीतरी द्वंद्वत्मकता रेखांकित करना चाहते थे। मुक्तिबोध के शरीरांत के बाद भी नामवर सिंह ने कविता के इतिहास-भूगोल को उनकी राह पर चल कर ही समझाना चाहा है।

बीसवीं शताब्दी का पाँचवाँ और छठा दशक साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में वैचारिक संघर्ष ले कर आया। भारतीय अस्मिता की खोज या उसे बचाने से जुड़ी बेचैनियों को लक्षित करके नामवर सिंह ने टिप्पणी की कि समाज का जो तबक़ा पश्चिमी आधुनिकता की लपेट में ज्यादा है— वही ज्यादा भारत-व्याकुल है। हिंदी के आधुनिकतावादी लेखक अस्तित्ववाद से भी प्रेरित थे और जापानी जेन-मत से भी। नामवर सिंह ने व्यंग्य करते हुए कहा, 'हिंदी में प्रयोगवाद और आधुनिकता की बात करने वाले लोग सहसा भारत-व्याकुल हो उठे और 'हिंदू-हिंदू का जाप' करने लगे।' आरम्भ में आधुनिकतावाद ने प्रश्नमूलक बौद्धिकता और वैज्ञानिक चिंतन पर जोर दिया, लेकिन बाद में आस्था-अनास्था का विवाद हावी हो गया। नामवर सिंह ने ठीक पहचाना कि 'आधुनिकतावादियों का गद्य भी अपनी परम्परा से कटा हुआ है।' निर्मल वर्मा में उन्हें सम्प्रदायवाद-बाबावाद-हिंदुत्ववाद दिखाई देता है तो अज्ञेय में

आधुनिकतावादी भाषा-चिन्ता। नामवर सिंह का यह भी मानना है कि 'हिंदी के जो आधुनिकतावादी लेखक धार्मिक आस्था अथवा धार्मिक संवेदना पर जोर देते हैं, वे उसी साँस में कम्युनिज़म और सोवियत संघ का भी विरोध करते हैं।'

नामवर सिंह ने *वाद-विवाद-संवाद* में लिखा है कि 'पूँजीवादी वर्ग शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश कर किसी संस्था को आधुनिक बनाता है और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सारी सामंती जीवन-पद्धति, कार्य-पद्धति, यहाँ तक कि सम्पूर्ण व्यवस्था के स्थान पर पूँजीवादी प्रणाली छा जाती है। यह पूँजीवादी प्रणाली अंग्रेज़ीदाँ लोगों की पलटन तैयार करती है और यह पलटन परम्परावादी सामाज के हर तरीके को रूढ़िवादी कह कर नकारती है। इस तरह वह जीवन की लय को तोड़ देता है और आदमी को शहरीकरण की ओर भटका कर उसकी स्मृति को नष्ट कर देता है।' जनवादी-लोकतंत्रवादी शक्तियों का समर्थन करते हुए नामवर सिंह ने अपने चिंतन में अनेक बार यह कहा है कि समाज-संस्कृति पर यथास्थितिवादी-पुनरुत्थानवादी शक्तियों का क्रब्जा है। इस स्थिति को बदलने के लिए उन से लोहा लेना होगा।

हिंदी आलोचना का एक बृहत्तर परिप्रेक्ष्य साक्षी है कि प्रगतिशील शिविर के बिखरते ही नये तरह का जनवादी व्यक्तिवाद आ गया। यहाँ मार्क्सवाद से प्रतिबद्धता का प्रश्न उठा और हमला करने वाले बौद्धिक यहाँ भी मौजूद थ। 'सबसे अधिक प्रतिबद्ध कौन' का प्रश्न उठाया गया। नये सृजन से संवाद करना कठिन हो गया। इस कठिन समय में नामवर सिंह का संवादी आलोचक डटा रहा। उन्होंने वैचारिक संवाद के लिए आत्मीयता और सम्मान का वातावरण बनाये रखा। उनके सम्पादन में *आलोचना* पत्रिका के लेखक जनवाद को आगे करने में पूरी शक्ति से 'शक्ति की करो मौलिक कल्पना' को उत्साह से गाते रहे। इस क्षेत्र में नामवर सिंह की भूमिका अविस्मरणीय रही है।

नामवर सिंह की दो महत्वपूर्ण पुस्तकें संवादों के बीच में लिखी गयीं। *इतिहास और आलोचना* (1978) की विज्ञापित में कहा गया कि 'यह पुस्तक छठे दशक के वैचारिक संघर्ष का एक विवादमूलक दस्तावेज़ है।' यहाँ नामवर सिंह ने प्रगति-विरोधी विचारों की खबर ली और मुक्तिबोध की ध्वजा को फहराया। *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ* के निबंध कई जगहों पर व्याख्यान के रूप में लिखे गये। उसके बाद *वाद-विवाद-संवाद* के निबंध मूलतः व्याख्यान-बहस के भीतर से निकल कर आये। नामवर सिंह को व्याख्यानों में अपने मतवाद को व्यक्त करने में कुशलता हासिल हैं।

रचना पर कब कहाँ कितनी दूर विश्लेषण-कला दिखानी है, नामवर सिंह इस कला के माहिर विद्वान हैं। आलोचना में संवाद कला को निखारने के साथ उन्होंने

सैद्धांतिक दृष्टि से *कामायनी*, *उर्वशी* तथा *तारसप्तक* पर विचार किया है। प्रगतिशील लेखक संघ और परिमल के बीच विचारों का जो अखाड़ा जमता था— उसमें नामवर सिंह की प्रमुख भूमिका थी। एक श्रेष्ठ, सतर्क और लोकप्रिय अध्यापक के रूप में वे जड़ प्रविधियों को छोड़ते हैं और नये ढंग के संवादी बनते हैं। *आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ*, *छायावाद* और *कहानी*, *नयी कहानी* जैसी पुस्तकों में जो प्रतिपक्ष है वह आलोचना मात्र नहीं है, बल्कि जड़ प्रविधियों पर प्रहार है। नये ढंग से यह आलोचना संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के सामाजिक विवेक का विकास करती है। शास्त्र और स्मृति दोनों का उपयोग आलोचना में एक साथ चलता है। आलोचना मात्र आस्वाद बनकर नहीं रह जाती। वह पाठक के विवेक को जाग्रत भी करती है। नामवर सिंह की सम्पूर्ण आलोचना की अंतर्गता करने पर पाठक पाते हैं कि उनमें सघन बौद्धिकता है, हल्की भावोच्छलता नहीं। हाँ, व्यंग्य-वक्रोक्ति से वे निशाना साधते हैं और पढ़ने-सुनने वाले को झकझोर कर रख देते हैं।

नामवर सिंह की *कहना न होगा, बात बात में बात* और *सम्मुख* जैसी पुस्तकों में उनकी शैली के कई रंग मौजूद देखे जा सकते हैं। यह भी देखा जा सकता है कि कैसे वाचिक संवाद उनकी शैली बनता गया। आठवें-नवें दशक में उनका लेखन *वाद विवाद संवाद*, *कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता* और *हिंदी का गद्य पर्व* के निबंधों के रूप में सामने आया। इनमें ज्यादातर निबंध गोष्ठियों में उभरे विवादों के प्रत्युत्तर हैं। इस बीच *आलोचना* के प्रकाशन की निरंतरता टूट गयी। लेकिन नामवर सिंह ने लेखन का क्रम नहीं तोड़ा। ठीक एक दशक बाद अप्रैल-जून, 2000 में *आलोचना* का सहस्राब्दी अंक प्रकाशित हुआ। नामवर सिंह के नये निबंध सामने आने लगे। इन्हीं वर्षों में दलित-विमर्श और स्त्री-विमर्श का बोलबाला बढ़ा। राजेंद्र यादव सम्पादित *हंस* ने उन्हें बढ़ावा दिया, लेकिन नामवर सिंह तटस्थ रहे। कभी-कभार टिप्पणियाँ की, लेकिन लेख नहीं लिखे। इसी बीच भूमण्डलीकरण, बाज़ारवाद, उपभोक्तावादी संस्कृति, उत्तर-पूँजीवाद, नव्य-साम्राज्यवाद, नवउपनिवेशवाद, फ़ासीवाद की अवधारणाओं पर नयी बहसें उठीं। इन बहसों में नामवर सिंह कूदे और इन्हें अपनी केंद्रीय चिन्ता माना। *जमाने से दो दो हाथ* जैसी उनकी पुस्तक इसका प्रमाण है। इस प्रकार नामवर सिंह साहित्य की सीमा से बाहर निकल कर बौद्धिक-विचारक की भूमिका में आ गये। कभी वे हिंदी नवजागरण की अवधारणा, कभी मैथिलीशरण गुप्त की *भारत-भारती* कभी 'शमशेर की शमशेरियत' पर चिंतन करते दिखाई दिये। *पृथ्वीराजरासो* : *भाषा-साहित्य, हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग* से शुरुआत करने वाले नामवर सिंह ने *साहित्य की पहचान, आलोचक के मुख से, आलोचना और विचारधारा, साथ साथ, सम्मुख, प्रेमचंद और भारतीय समाज* जैसी पुस्तकों के लेखों

से हिंदी समाज में नया चिंतन विकसित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। नामवर सिंह अपने व्याख्यानों की संरचना को ज़रूरत के अनुसार बदलने में श्रम-तप करते हैं। नतीजतन वे जटिल विषय को सहजता से स्पष्ट करते हैं— तर्क और संवाद उसमें हिला-मिला रहता है।

देखें : अष्टछाप, 'अंग्रेजी हटाओ' आंदोलन, छायावाद, डायग्लॉसिया, नगेंद्र और सैद्धांतिक समीक्षा, नयी कविता, नंद दुलारे वाजपेयी, प्रेमचंद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, भक्ति आंदोलन-1 और 2, भक्ति-काव्य-1 और 2, भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतेंदु युग-1 और 2, भाषा नियोजन-1 से 4 तक, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, महावीर प्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, मीराबाई और प्रेमाभक्ति, राहुल सांकृत्यायन, रामानुजाचार्य, रामानंद, रामचंद्र शुक्ल-1 और 2, रामविलास शर्मा, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, रीतिकाल-1 और 2, विजय देव नारायण साही, वैष्णव धर्म, श्याम सुंदर दास, सम्पर्क भाषा-1 से 4 तक, संविधान सभा में भाषा-विवाद-1, 2 और 3, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, संत-काव्य, संस्कृत काव्यशास्त्र, सिद्ध-नाथ परम्परा, सूफीयत और प्रेमाख्यान, हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिंदी विरोधी आंदोलन, हिंदी जाति-1, 2 और 3, हिंदी साहित्य का आदिकाल, हिंदी साहित्य का इतिहास, हिंदी साहित्य का इतिहास : नये परिप्रेक्ष्य, हिंदी-पद्य में इतिहास, हिंदी-जगत और 'लोकप्रिय'-1 और 2, हिंदी नवजागरण, हिंदी-संस्थाएँ।

## संदर्भ

1. रामस्वरूप चतुर्वेदी (1993), हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. महेंद्र राजा जैन (2012), *नामवर विचार कोश*, नयी किताब, दिल्ली.
3. भारत यायावर (2012), *नामवर होने का अर्थ*, किताबघर, नयी दिल्ली.
4. कृष्णदत्त पालीवाल (2013), हिंदी आलोचना: समसामयिक परिदृश्य, सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. नामवर सिंह (2012), *आलोचना और विचारधारा*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. डॉ. नामवर सिंह (2012), *हिंदी का गद्य पर्व*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

## — कृष्णदत्त पालीवाल

## नारीवादी दर्शन

(Feminist Philosophy)

नारीवादियों ने दर्शन के क्षेत्र में कई कोणों से हस्तक्षेप किया है। उन्होंने न केवल दार्शनिकों द्वारा रची गयी स्त्री की छवियों पर आलोचनात्मक निगाह डाली है, बल्कि एक अनुशासन के रूप में दर्शन की संरचना में निहित ज्ञान की राजनीति के विभिन्न पहलुओं की शिनाख्त भी की है। नारीवादी दार्शनिकों ने दिखाया है कि किस तरह दर्शन ही अपने-आप में एक पौरुषपूर्ण प्रोजेक्ट बना कर रख दिया गया है। उन्होंने अतीत की उन नारीवादी दार्शनिकों पर दोबारा रोशनी फेंकी है जिनके विमर्श की पुरुष-प्रभुत्व के तहत उपेक्षा होती रही है। इस सबके साथ-साथ नारीवादी विदुषियों ने दर्शन के क्षेत्र में अपने मौलिक योगदान भी किये हैं। लगभग सभी विदुषियों ने बिना किसी अपवाद के यह सवाल तो उठाया ही है कि क्या दर्शन को सेक्सुअल भिन्नता के सवाल पर तटस्थता का दावा करने दिया जा सकता है? अगर दर्शन के क्षेत्र में पुरुषों का ज़बरदस्त अधिपत्य केवल एक ऐतिहासिक संयोग है तो ऐसा क्यों है कि ज्ञान का यह प्रमुख क्षेत्र पुरुष-मूल्यों से आच्छादित हो कर स्त्री-द्वेषी हो गया है? मुख्य रूप से इन प्रश्नों की रोशनी में अपने दार्शनिक विमर्श की रचना करते हुए नारीवादियों ने व्यक्ति होने, किसी अस्मिता का स्वामी होने और ज्ञानमीमांसा से संबंधित विषयों को नया मोड़ देने की कोशिश की है। इन तीन मुकामों के अलावा नारीवादियों ने राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में भी विशेष योगदान किया है। उन्होंने समानता, न्याय, सत्ता, अधिकार और सामाजिक संगठन के दायरों में सिद्धांतीकरण के नारीवादी पक्षों को उजागर किया है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि नारीवाद के उभार से पहले भी कुछ गिनी-चुनी स्त्रियाँ दार्शनिक चिंतन करती रहीं हैं। आज भी कुछ ऐसी उल्लेखनीय विदुषियाँ हैं जो खुद को नारीवादी नहीं कहतीं, लेकिन इसके बावजूद उनके सूत्रीकरणों से नारीवादी विमर्श को पुष्ट होने का मौक़ा मिलता है।

प्लेटो और अरस्तू से लेकर देकार्त के विमर्श को देख कर एकबारगी तो ऐसा लगता ही है कि जैसे इन दार्शनिकों ने स्त्री को दर्शन की सीमाओं से बाहर रखने की परियोजना चला रखी हो। इन सभी ने नारी को परिवार, प्रजनन और मातृत्व के साथ जोड़ कर एक संकुचित दायरे में जड़ीभूत कर दिया था। हिगेल ने तो प्राइवेट स्फ़ियर और पब्लिक स्फ़ियर का अलग-अलग निर्धारण करते हुए प्राइवेट स्फ़ियर लाँघ कर पब्लिक स्फ़ियर में जा सकने की क्षमता ही स्त्री से छीन ली थी। दर्शन के क्षेत्र में अगर स्त्रियाँ थीं तो उनकी स्थिति मातहत जैसी थी। देकार्त और बोहीमिया की राजकुमारी

एलिजाबेथ के संबंध इसकी मिसाल हैं। स्त्री-पुरुष असमानता को जिन दार्शनिक विचारों ने और पुष्ट किया उनमें जैविक तात्त्विकतावाद की खास भूमिका रही। इसमें व्यक्तियों के एक समूह को जन्मना श्रेष्ठ और योग्य (पुरुष) और दूसरे समूह को जन्मना सामान्य (नारी) माना गया। लैंगिक विभेद के इस जीवशास्त्रीय सिद्धांत ने समाज को बड़े पैमाने पर प्रभावित किया। इसकी अवशिष्ट प्रवृत्तियाँ आज भी जेंडर-लोकतंत्र की स्थापना में बाधक बनी हुई हैं।

अनेक नारीवादी विचारकों ने पुरुष दार्शनिकों की इस मनोवृत्ति को समझने की चेष्टा की। सत्तर के दशक में केट मिलेट, जर्मन ग्रीयर और मेरी एल्मन ने लैंगिक लेखन का पुनर्पाठ शुरू किया जो आज भी जारी है। इसी क्रम में जेन फ्लेक्स ने 1983 में प्लेटो, देकार्त, हॉब्स और रूसो के ज्ञानमीमांसक और तत्त्वमीमांसक सिद्धांतों का आकलन करते हुए कहा कि ये विद्वान अपने सिद्धांतों में जिन आरम्भिक शैशवोचित अनुभवों की अस्वीकृति और दमन प्रस्तुत करते हैं वह विशेष रूप से पुरुष साइकोसेक्सुअलिटी का ही विकास है। वे आगे कहती हैं कि किसी भी सिद्धांत-प्रतिपादक के जेंडर और उस सिद्धांत की शुद्धता और अशुद्धि के मध्य एक वस्तुनिष्ठ संबंध होता है। नैसी हार्टसोक की राय में यह संबंध उस सिद्धांत की पूर्णता के लिए प्रासंगिक है। फ्लेक्स का दावा है कि इसीलिए पुरुष दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत अपने मैस्कुलिन आग्रहों के कारण असत्य होते हैं। फ्लेक्स के इन विचारों की आलोचना भी हुई। ए. क्राउच ने जीन ग्रिमशा के एक उद्धरण के हवाले से कहा कि सभी पुरुष दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत मिथ्या नहीं होते और यह सुनिश्चित कर पाना कठिन है कि किस सिद्धांत के मूल में जेंडर थियरी है और क्या इस दृष्टि से वह सिद्धांत प्रश्नांकित होना चाहिए? फ्लेक्स के दो साल बाद ही फ्रांसीसी दार्शनिक ल्यूस इरिगरे की विख्यात रचना *स्पेकुलम ऑफ द अदर वुमन* प्रकाशित हुई। इरिगरे ने प्लेटो द्वारा *रिपब्लिक* में माँ, गर्भ और पुरुष की स्त्री पर निर्भरता की उपेक्षा की तरफ ध्यान खींचा। इसके कारणों की खोज करते हुए उन्होंने फ्रॉयड प्रदत्त मृत्यु-कामना के मनोवैश्लेषिक सिद्धांत का विश्लेषण किया।

नारीवादी दर्शन की इन आधुनिक बहसों से काफी पहले अट्टारहवीं के मध्य से शुरू हुए सिलसिले के तहत आंत्वॉ द कोंदोर्स, ओलिम्पी द गूजे, जॉन स्टुअर्ट मिल, मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट, जेम्स स्टर्बा, ज्याँ-पाल सार्त्र, सिमोन द बोउवार, रॉबर्ट ओवेन और चार्ल्स फूरिये आदि ने स्त्रियों की स्वतंत्रता-समानता के पक्ष में और लैंगिक विभेदीकरण के खिलाफ पुरजोर दलीलें दीं। खास तौर से मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट की रचना *अ विंडीकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमन* में नारीवादी दर्शन के प्रतिमान बनाने के संकेत दिखाई पड़ते हैं।

वोल्सनक्रॉफ्ट ने दावा किया कि पुरुष की भाँति स्त्री भी तर्कबुद्धि और सदाचार के आदर्शों की प्राप्ति कर सकती है। उन्होंने रूसो की आलोचना की कि वे स्त्री को बौद्धिक गतिविधियों के योग्य नहीं मानते थे, जबकि असलियत यह थी कि स्त्री-शिक्षा का ढाँचा ही उसके भीतर इन क्षमताओं का विकास नहीं होने देता था। रूसो यह भी मानते थे कि सदाचार और सद्गुणों के दायरे स्त्री और पुरुष के लिए अलग-अलग हैं। वोल्सनक्रॉफ्ट ने इस अलगाव की आलोचना की। इस तरह के दार्शनिक हस्तक्षेपों ने आधुनिक नारीवादी दर्शन की नींव रखी। इसी का प्रतिफल बीसवीं सदी में सत्तर के दशक से दिखना शुरू हुआ। तत्कालीन नारीवादी महिला / पुरुष विचारकों के प्रयासों और अनेक नारीवादी संगठनों और नारी के पक्ष में प्रकाशित होने वाले पत्र-पत्रिकाओं के अभ्युदय ने नारीवादी दर्शन को व्यापक स्वीकृति प्रदान करवायी।

एन. फ्रग्युसन के मुताबिक सत्तर के दशक में नारीवादी दर्शन की तीन प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं— सुधारवादी (रैडिकल) आलोचना, लैंगिक विभेद सिद्धांत और उत्तर-आधुनिक सिद्धांत। स्त्रियों के अधिकार और उनकी सामाजिक समानता के लिए चले राजनीतिक संघर्ष और उसकी सफलता में लिबरल फ़ेमिनिस्ट और उसी से पृथक होकर निर्मित रैडिकल ग्रुप का महत्वपूर्ण योगदान था। सिमोन द बोउवार के ग्रंथ *द सेकेंड सेक्स* ने नारीवादी दर्शन को एक नया आयाम दिया। इसकी प्रमुख स्थापना थी कि स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है। बेट्टी फ्रीडन ने *द फ़ेमिनिन मिस्टीक* नामक रचना में इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए, समाज द्वारा स्त्रियों की बेबी वुमन निर्मिति को स्पष्ट किया। हीगेल द्वारा प्रतिपादित पब्लिक मैन / प्राइवेट वुमन जैसे सिद्धांत के विपक्ष में जेम्स स्टर्बा ने पब्लिक और प्राइवेट दोनों जगह स्त्री-पुरुष के सहअस्तित्व पर बल दिया। इसके आधार में मिल द्वारा प्रतिपादित उभयलिंगी व्यक्तित्व की अवधारणा थी। स्टर्बा का मत है कि पुरुष में स्त्रियोचित और स्त्रियों में पुरुषोचित गुणों के विकास के लिए उन्हें समान अवसर प्राप्त होने चाहिए और इसीलिए पुरुष को स्त्रियों के घर के कामों में भागीदारी करनी चाहिए। मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं पर आधारित मार्क्सवादी / समाजवादी विचार सामने आने पर वर्षों से निर्मित प्राइवेट वुमन की छवि को और ठेस पहुँची। उन्होंने उद्घाटित किया कि निजी सम्पत्ति पर आधारित सामाजिक-संस्थाओं और मूल्यों के अस्तित्व में आने के साथ ही स्त्री का शोषण शुरू हुआ। मार्क्स और एंगेल्स का निष्कर्ष यह था कि स्त्री-मुक्ति के लिए सामाजिक, राजनीतिक और कामकाजी जीवन में उनकी उपस्थिति बढ़ायी जानी चाहिए। पूँजी के दाता (पुरुष) और याचक (स्त्री) के एकरेखीय प्रवाह से स्त्रियों की दशा और

शोचनीय ही होगी। लेकिन हीदी हार्टमैन और नृविज्ञानी गेल रुबीन ने इस संदर्भ में प्रश्न उठाया कि स्त्रियाँ अधीनस्थ हुई कैसे? उन्होंने कहा कि मार्क्स / एंगेल्स की अवधारणा में इसकी व्याख्या नहीं है। अतः स्त्रियों को दोहरी लड़ाई लड़नी होगी। एक घर में पितृसत्तात्मकता से और दूसरी बाहर पूँजीवादी ताकतों से। रुबीन के आरम्भिक कार्य को जुलिएट मिचेल ने विस्तार देते हुए एक द्विविध सिस्टम्स सिद्धांत की स्थापना की जिसने मार्क्सवाद और मनोविश्लेषणवाद का विलय कर दिया। कालांतर में नैसी शौदरौ, डोरोथी डिनरस्टीन, ल्यूस इरिगरे और जेसिका बेंजामिन ने मार्क्सवाद से बचते हुए विशुद्ध मनोवैश्लेषिक अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं।

सत्तर के दशक के अंत और अस्सी के दशक के शुरू में नारीवादी दर्शन ने पितृसत्तात्मकता और हेटेरोसेक्सुअलिटी (इतरलैंगिकता) के मार्क्सवादी, समाजवादी और सुधारवादी (रैडिकल) सिद्धांतों की तो कड़ी परीक्षा की ही, उन्होंने केनन की नारीवादी आलोचना, एक तरफ तो दर्शन के नारीवादी इतिहास की प्रतिपूर्ति की परियोजना भी चलाई। अस्सी के दशक में जो नारीवादी विचारक लैंगिक विभेद के परिप्रेक्ष्य से पूरी तरह सहमत नहीं लग रही थीं, वे भी नब्बे के दशक में इसके पक्ष में खड़ी दिखाई दीं— जैसे मार्था नुसबाम, लूसी एंटनी, हेलेन लैंगिनो, नैसी हार्टसोक, सांद्रा हार्डिंग आदि।

आठवें दशक के मध्य से पोर्नोग्राफी, रेप, मीडिया निर्मित विकृत नारी छवियाँ, स्त्रियों के अपने रिश्ते जैसे कहीं अधिक मानवीय प्रश्नों पर चर्चा शुरू हुई। गर्भपात को सत्तामूलक, ज्ञानमीमांसक, राजनीतिक एवं नैतिक मुद्दा माना गया। नारीवादी स्वरो में लेस्बियन मुद्दों की मुखरता ने नारी आंदोलन को विस्तार दिया और सामाजिक निर्माण के रैडिकल सिद्धांतों में लेस्बियन के लिए सेक्सुअल आजादी को जोड़ा। इस सिलसिले ने पृथकतावादी लेस्बियन नारीवादी समुदाय के लिए राजनीतिक अभ्यास के साथ रैडिकल जीवन शैली का समीकरण स्थापित करने की गुंजाइशें प्रदान कीं।

उत्तर-आधुनिकतावाद और उत्तर-संरचनावाद के दौर में नारीवादी दर्शन, स्त्री की छवि, उसके अनुभवों, अनुभूतियों, उसके मन और उसकी देह को केंद्रित कर विकसित हुआ। इसमें भाषा एक महत्वपूर्ण औजार बनी। इसी मुकाम पर नारीवादी दर्शन के विकास के संदर्भ में जाक देरिदा से हुए टकराव का उल्लेख आवश्यक है। देरिदा उन समकालीन दार्शनिकों में से एक थे जिनके विमर्श में स्त्री केंद्रीय स्थान रखती है। स्त्री उनके लिए एक ऐसी शै है जिसके बारे में अभी तक फ़ैसला नहीं किया जा सका है, यानी किसी भी तात्पर्य के निर्धारित तत्त्वमीमांसक ढाँचे से स्त्री कतरा सकती है या उसे अस्थिर कर सकती है। दिलचस्प बात है कि देरिदा नारीवाद की तिरस्कारपूर्ण आलोचना करते थे। विसंरचनात्मक प्रविधि पर आधारित उनके अपने शास्त्र में नारीवादी विद्वत्ता का हवाला

शायद ही कभी दिया गया हो। सम्भवतः इसकी वजह यह थी कि वे द्विभाजनों के खिलाफ़ थे और नारीवादियों द्वारा किये जाने वाले भिन्नता आधारित जेंडर-द्विभाजन को भी पश्चिमी दर्शन के स्थापित रवैये का अंग मानते थे। जेंडर-भिन्नता का आग्रह वास्तविक बहुलता की सम्भावनाओं का हनन करता है। उनका कहना था कि स्त्री जब अपनी आवाज़ हासिल करने का दावा करती है तो उसकी कोशिश का अंत दरअसल पुरुष की तरह बोलने में होता है। नारीवादियों के रवैये से हटते हुए देरिदा ने स्वयं नारी की तरह बोलने की इच्छा व्यक्त की। उनकी इस कोशिश की नारीवादियों की तरफ़ से यह कह कर आलोचना की गयी कि 'औरत की तरह बोलना' और 'औरत के रूप में बोलना' दो अलग-अलग बातें हैं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शौदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलेन सिचू।

## संदर्भ

1. एल. एल्कोफ़ और ई. पॉटर (1993), *फ़ेमिनिस्ट इपिस्टेमोलॉजीज़*, रॉटलेज, लंदन.
2. एल. एंटनी और सी. विट (सम्पा.) (1993), *अ माइंड ऑफ़ वंस ओन*, वेस्टव्यू प्रेस, बोल्डर, सीओ.
3. नैसी शौदरौ (1978), *द रिप्रोडक्शन ऑफ़ मदरिंग*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्केले.
4. जे. फ्लेक्स (1983), 'पॉलिटिकल फ़िलॉसफ़ी ऐंड पैट्रियार्कल अनकांशस', सांद्रा हार्डिंग और एम. हिंतिका (सम्पा.), *डिस्कवरिंग रियलिटी : फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिवज़ ऑन इपिस्टेमोलॉजी, मेटाफ़िजिक्स, ऐंड द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ साइंस*, डी. रीडल, लंदन.
5. ल्यूस इरिगरे (1985), *स्पेकुलम ऑफ़ द अदर वुमन*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका.
6. जे. कौरैना (सम्पा.), *फ़िलॉसफ़ी इन अ फ़ेमिनिस्ट वॉयस : क्रिटिक्स ऐंड रिक्स्ट्रक्शन*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.
7. मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट (1792/1975), *अ विंडीकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ वुमन*, पेंगुइन बुक्स, हारमंड्सवर्थ.
8. ए. जैगर और आई.एम. यंग (सम्पा.) (1998), *अ कम्पैनिन टु फ़ेमिनिस्ट फ़िलॉसफ़ी*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.

## नारीवाद

(Feminism)

नारीवाद ने बीसवीं सदी के दौरान समाज-वैज्ञानिक चिंतन को सबसे ज़्यादा प्रभावित किया है। नारीवाद के असर के कारण ज्ञान के लगभग सभी अनुशासन अपनी स्थापित मान्यताओं और सैद्धांतिकी पर स्त्री के दृष्टिकोण से दोबारा विचार करने पर मजबूर हुए हैं। नारीवादी हस्तक्षेप के कारण निजी और सार्वजनिक संबंधी धारणाएँ पहले जैसी नहीं रह गयी हैं। नारीवाद एक जटिल परिघटना है जिसकी कोई एक व्याख्या या परिभाषा रेखांकित नहीं की जा सकती। नारीवाद के कई संस्करण सक्रिय हैं जिनमें उदारतावादी नारीवाद, समाजवादी/मार्क्सवादी नारीवाद, रैडिकल नारीवाद और मनोवैश्लेषिक नारीवाद विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। लेकिन बहुवाचिक और बहुसंदर्भिक होने के बावजूद सभी तरह के नारीवादी उन तमाम अन्यायों के खिलाफ संघर्ष के लिए एकमत हैं जो स्त्री पर उसकी भिन्न जैविकी के कारण हमेशा से थोपे जाते रहे हैं। तरह-तरह की पारम्परिक कट्टरताओं, स्त्री विरोधी रूढ़ियों, अत्याचारों और पुरुषों की मनमानियों के खिलाफ लम्बी ऐतिहासिक जद्दोजहद चलाते हुए इस विचार के समर्थकों ने दुनिया के पैमाने पर एक प्रबल आंदोलन खड़ा किया है। आधुनिक नारीवाद की राजनीतिक भाषा और उद्देश्यों पर फ्रांसीसी क्रांति और युरोपीय ज्ञानोदय से निकले विचारों की छाप देखी जा सकती है। उदारतावाद, बुद्धिवाद, मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण, यूटोपियाई और स्वच्छंदतावादी चिंतन का सहारा लेकर नारीवाद विद्वान एक विशद और परिष्कृत बौद्धिकता विकसित करने में कामयाब रहे हैं।

पश्चिम में मध्ययुगीन और रिनैसाँकालीन लेखकों ने स्त्री की सामाजिक पहचान से संबंधित विषयों को स्पर्श किया था। क्रिस्टीन डि पिस्सॉ की रचना *बुक ऑफ द सिटी ऑफ लेडीज़* (1405) एक ऐसी ही कृति थी। उन्नीसवीं सदी में काल्पनिक समाजवादी चिंतक चार्ल्स फूरिए ने पहली बार फ्रांसीसी शब्द फ़ेमिनिज़्म का प्रयोग किया था। फ़ेमिनिज़्म का प्रयोग शुरू में पुरुष की देह में स्त्री-गुणों के होने अथवा स्त्री के पुरुषोचित व्यवहार के सन्दर्भ में किया जाता था। 20 वीं सदी के प्रारम्भिक दशकों में संयुक्त राज्य अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग कुछ महिलाओं के उस समूह के लिए किया गया जो स्त्रियों की एकता, मातृत्व के रहस्यों तथा स्त्रियों की पवित्रता इत्यादि मुद्दों पर एकजुट हुई थीं। इसके बाद बहुत जल्दी ही इसका राजनीतिक प्रयोग उन प्रतिबद्ध महिला समूहों के लिए किया जाने लगा जो स्त्रियों की सामाजिक भूमिका में परिवर्तन के लिए संघर्ष कर रही थीं। नारीवाद को उसका आधुनिक रूप देने में 1792 में

प्रकाशित मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट की रचना *विंडीकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमैन* और 1869 में प्रकाशित जॉन स्टुअर्ट मिल की क्लासिक रचना *द सब्जेक्शन ऑफ वुमैन* की उल्लेखनीय भूमिका है। 1903 में स्थापित वुमंस सोशल ऐंड पॉलिटिकल यूनियन जैसे संगठनों ने औरतों को वोट का अधिकार दिलाने के लिए प्रभावशाली मुहिमें चलायी। बीसवीं सदी में नारीवादी विद्वत्ता और सैद्धांतिकी के विकास में सिमोन द बोउवार की विख्यात रचना *द सेकण्ड सेक्स* ने अभूतपूर्व योगदान दिया।

नारीवाद के इतिहास को उसकी लहरों के संदर्भ में व्यक्त किया जाता है। यह चलन साठ के दशक में उस समय हुआ जब आंदोलन में आयी तेज़ी की तुलना इससे ठीक पहले आए ठंडे दौर से की गयी। यह माना गया कि 1850 से 1920 के बीच आर्थिक समानता, माताओं को राज्य द्वारा सुविधाएँ देने, समान वेतन और समान शिक्षा को केंद्र बना कर नागरिक अधिकार आंदोलन की नारीवादी अभिव्यक्ति उभरी। इसे ही मोटे तौर पर नारीवाद की पहली लहर के तौर पर देखा जाता है। आंदोलन में साठ के दशक तक कोई नयी प्रवृत्ति नहीं उभरी और उसकी अग्रगति भी थमी रही। दरअसल, द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद से ही नारीवादियों ने अपने उत्पीड़न की सांस्कृतिक प्रकृति पर गहरायी से गौर करना शुरू कर दिया था। इस दौरान हुए चिंतन और गतिविधियों को दूसरी लहर के रूप में साठ के दशक के दौरान अपना शिखर मिला। अस्सी के दशक में नारीवाद की तीसरी लहर के दौरान स्त्री और उसके सार को समझने की कोशिशें नये सिरे से हुईं। इसी दौरान नारीवादी आंदोलन और विद्वत्ता पर हावी पश्चिम-केंद्रीय गौरांग दृष्टि को कड़ी समीक्षा से गुज़रना पड़ा।

नारीवादी ज्ञान को लम्बे अरसे तक अनौपचारिक तथा अवैध ज्ञान समझा जाता रहा है। सामाजिक वैधता के इसी अभाव के कारण कई स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होते हुए भी विभिन्न कारणों से स्वयं को नारीवादी कहलाना पसंद नहीं करती थीं। इसलिए आधुनिक नारीवादियों के लिए ज़रूरी था कि वे इन विचारों को स्त्रियों के व्यापक समूहों के बीच प्रसारित करते हुए उनके प्रति आस्था पैदा करें। दिलचस्प बात यह है कि नारीवाद को लोकप्रिय करने के लिए किये गये बौद्धिक और राजनीतिक प्रयासों के दौरान यह परिघटना किसी एक विचार या दर्शन से जुड़ने के बजाय उत्तरोत्तर दृष्टिकोण-बहुल होती चली गयी। नारीवाद की इस विविधता और बहुलता को दो नज़रियों से देखा जाता है। कई आलोचक इसे नारीवाद में अंतर्निहित कमज़ोरियों का प्रमाण बताते हुए कहते हैं कि इसी कारण से इस विचार के तार्किक पहलू कमज़ोर पड़ गये हैं। दूसरी तरफ़ यह भी माना जाता है कि वैचारिक विविधताओं तथा विभेदों ने नारीवाद के सैद्धांतिक धरातल को और भी

समृद्ध किया है। बुनियादी लक्ष्य सभी का एक है, सिर्फ उसे व्याख्यायित करने एवं उस तक पहुँचने की प्रविधि में विविधता है। अर्थात् नारीवाद विभिन्नताओं का समारोह है।

उदारतावादी चिंतन ने नारीवादियों को अधिकारों की भाषा सिखायी है जिसके जरिये वे परम्परा द्वारा अपने ऊपर थोपी गयी भूमिकाओं को खारिज करते हुए सार्वजनिक जीवन में अधिकारगत और अवसरगत समानता की दावेदारी करती हैं। उदारतावादी नारीवाद जनतांत्रिक व्यवस्था के भीतर राजनीतिक और क्रान्ती प्रक्रियाओं के माध्यम से स्त्रियों की सामाजिक अधीनता की स्थिति का समाधान तलाशता है। वोल्सनक्रॉफ्ट की मान्यता थी कि यदि स्त्री-पुरुष को समान शिक्षा दी जाए तो समाज में वे समान अवसर प्राप्त कर सकेंगी। उदारतावादियों से अलग हटते हुए रैडिकल और समाजवादी नारीवाद अपनी राजनीति स्पष्ट करने के लिए क्रांति तथा मुक्ति जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। उसका जोर सामाजिक यथास्थिति की व्यवस्था पूर्णतः उलट देने पर होता है। समाजवादी नारीवाद ने वर्ग की मार्क्सवादी धारणा के साथ जेंडर के प्रश्न को जोड़ने के लिए काफ़ी वैचारिक संघर्ष किया है।

रैडिकल नारीवाद की प्रारम्भिक प्रस्थापनाओं में भी यह पूर्वानुमान निहित था कि यदि स्त्री की समस्याओं के लिए पुरुष ज़िम्मेदार है तो उसके समाधान में भी वह बराबर की भूमिका निभायेगा। लेकिन नारीवाद की इस क्रिस्म को स्त्री को कमतर मानने वाली प्रचलित धारणाओं के समझौताविहीन विरोध तथा पुरुष विरोधी रुख के लिए जाना जाता है। रैडिकल नारीवादियों का उदय विशेष रूप से संयुक्त राज्य अमेरिका में साठ के दशक में उभरे विभिन्न वामपंथी तथा नागरिक अधिकार आंदोलनों के दौर में हुआ। उनकी राजनीति थी तो वामपंथी, लेकिन वे वामपंथी आंदोलनकारियों के वर्चस्वकारी पौरुषपूर्ण व्यवहार से खिन्न हो गयीं और उन्होंने अपने आंदोलन को अलग से संगठित करना शुरू किया ताकि पुरुष केंद्रित ज्ञान और राजनीति से परे स्त्रियों के शोषण की समझ बनायी जा सके। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि स्त्री केंद्रित राजनीति ही औरतों के लिए समाज में स्थान बनाने की युक्ति निकाल सकती है। नव-वामपंथी और नागरिक आंदोलनों के अनुभवों से सीख लेकर उभरा रैडिकल नारीवाद ऐसा राजनीतिक संगठन चाहता था जो पुरुषवाद की विकृति से मुक्त हो।

ज़िगमंड फ्राँयड और जॉक लकाँ के विमर्श ने मनोवैश्लेषिक नारीवाद को जन्म दिया है। फ्राँयड चूँकि शिशन-ईर्ष्या (या शिशन-अभाव) से परे जाने में असमर्थ रहे थे इसलिए उनका विश्लेषण स्त्री की मातृमनोग्रंथि का संतोषजनक सिद्धातीकरण नहीं कर पाये। फ्राँयड के बजाय नारीवादियों ने ज़ाक लकाँ द्वारा भाषा के महत्त्व पर दिये गये जोर से प्रेरणा ली और पितृसत्तात्मक भाषा को वि-संरचना के

औजारों से सम्बोधित करना शुरू कर दिया। साइकोएनालिसिस और डिकंस्ट्रक्शन को जोड़ते ही नारीवादी सिद्धांत फ़िल्म या किसी भी साहित्यिक या कलात्मक पाठ को खोलने की क्षमता से लैस हो गया। नारीवादी विद्वानों ने दावा किया कि केवल पुरुष की ही मातृमनोग्रंथि नहीं होती बल्कि स्त्री की भी होती है, और शिशन-ईर्ष्या की अवधारणा एक पितृसत्तात्मक गढ़त है। उन्होंने फ्राँयड के इस दावे को चुनौती दी कि बच्चा अपनी माँ को पुरुष के शिशन-रहित संस्करण के रूप में देखता है। इस बौद्धिक उद्यम के पीछे कोशिश यह थी कि स्त्रीत्व को पुरुषत्व के संदर्भ-बिंदु की गिरफ्त से निकाला जाए।

नारीवादी समूहों ने अश्वेत, कामगार, समलैंगिक और विभिन्न यौनिक पहचान वाली स्त्रियों को अपने आंदोलन का हिस्सा बनाने के लिए अपने भीतर जम कर बहस चलायी है। इसी प्रक्रिया में अश्वेत नारीवाद और भारत में दलित नारीवाद का विकास हुआ है। उत्तर-आधुनिक तथा उत्तर-संरचनावादी हस्तक्षेप ने नारीवादी विचार के वैविध्य को और समृद्ध किया है। डेढ़ सौ साल लम्बे सफ़र के बाद आज नारीवाद राजनीतिक सक्रियता और सिद्धांतीकरण के एक ऐसे मानीखेज़ और लाभकारी मुक़ाम पर खड़ा है जहाँ उसके भीतर विभिन्न मत-मतांतरों के रचनात्मक पहलुओं का सार-संकलन किया जा सकता है। इस परिस्थिति का लाभ उठाते हुए आज का नारीवाद स्त्री की राजनीति, नागरिकता, रोज़गार, ग्लोबल अर्थव्यवस्था, सेक्सुअलिटी, सत्ता, नस्ल, जाति और जातीयता के प्रश्नों पर कहीं गहन सकारात्मकता और तत्परता से पूरे आंदोलन को दिशा देने में समर्थ है। आज का नारीवाद तात्त्विकतावाद की समस्या के अधिक संतुलित समाधान तक पहुँच सकता है। इसी तरह आज का नारीवाद उत्तर-आधुनिकता और उत्तर-संरचनावादी सिद्धांतों की चुनौतियों का उत्तर देने में भी कहीं अधिक सक्षम है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरै, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

### संदर्भ

1. मैरी वोल्सनक्रॉफ्ट (1982), *अ विंडीकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ वुमैन*, सम्पा. : आयी क्रैमनिक, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.
2. सिमोन द बोउवार (1986), *द सेकण्ड सेक्स*, अनु. और सम्पादन:



एच.एम. पार्श्लेव, बैटम, न्यूयॉर्क (इस पुस्तक के संक्षिप्त हिंदी संस्करण के लिए देखें : प्रभा खेतान (अनु. एवं प्रस्तुति) (1990), *स्त्री-उपेक्षिता*, सरस्वती विहार, नयी दिल्ली).

3. जे.एस. मिल (1983), *द सब्जेक्शन ऑफ़ वुमॅन*, लंदन.
4. ए.एम. जैगर (1983), *फ़ेमिनिस्ट पॉलिटिक्स ऐंड ह्यूमन नेचर*, हारवेस्टर प्रेस, ब्राइटन.
5. जेन फ्रीडमैन (2001), *फ़ेमिनिज़्म*, ओपन युनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क.
6. जूडिथ ग्रांट (1993), *फ़ंडामेंटल फ़ेमिनिज़्म : कंटेस्टिंग द कोर कंसेप्ट्स ऑफ़ फ़ेमिनिस्ट थियरी*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.

— सुप्रिया पाठक

## नारीवाद की पहली लहर

(First Wave of Feminism)

नारीवाद का विकास-क्रम सामान्यतः कुछ कालखण्डों में बाँटकर देखा जाता है। नारीवाद की पहली लहर का मतलब है उन्नीसवीं सदी के ब्रिटेन में चला वह आंदोलन जिसके माध्यम से तत्कालीन समाज में महिलाओं की सामाजिक एवं वैधानिक असमानता में सुधार के लिए आवाज़ उठायी गयी। इस लिहाज़ से उन्नीसवीं सदी विक्टोरियाई युग की स्त्रियों के लिए बेहद महत्वपूर्ण थी। 1850 से पहले ब्रिटेन में किसी प्रकार के संगठित नारीवादी आंदोलन का जिक्र नहीं मिलता। इसी दशक में कैरोलिन नॉर्टन के विवादास्पद मुकदमे के कारण वैवाहिक संबंधों में स्त्री-पुरुष को समान कानूनी अधिकार देने के लिए संघर्ष की शुरुआत हुई। इस दौर के नारीवाद को मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल, और हैरियट टेलर मिल के लेखन से सैद्धांतिक आधार मिला। इसका प्रमुख सरोकार स्त्री-पुरुष समानता तथा वैधानिक परिवर्तन था। 1850 से लेकर 1920 तक चली इस लहर के तहत स्त्रियों ने निजी और सार्वजनिक दायरों में पितृसत्ता के वर्चस्व को चुनौती दी। उन्होंने वोट के अधिकार, शिक्षा तथा रोज़गार तक स्त्रियों की पहुँच, सम्पत्ति पर वैधानिक अधिकार, विवाह और तलाक़ के अधिकार के लिए संघर्ष किया। इस लहर में उन स्त्रियों को भी सुना जा सकता है जो उन्नीसवीं सदी से पहले स्त्री-अधिकारों से जुड़े सरोकारों के रूप में उभरे थे। विशेष तौर पर 1789 की फ़्रांसीसी क्रांति के दौरान स्त्री-अधिकारों के एकजुटता व्यक्त की गयी। क्रांति के इस पहलू का असर ब्रिटेन में 1792 में प्रकाशित वोल्सनक्रॉफ़्ट की पुस्तक *अ विंडीकेशन ऑफ़ द राइट्स ऑफ़ वुमॅन* पर देखा जा सकता था। इसी रचना ने नारीवाद को पहली व्यवस्थित एवं मूलभूत सैद्धांतिकी प्रदान की।

प्रथम लहर के नारीवाद का उभार उद्योगीकरण से हुए व्यापक सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तनों के कारण हुआ। इसका एक पक्ष यह भी था कि संवैधानिक अधिकारों को सिर्फ़ पुरुषों तक सीमित रखने के बजाय विस्तार देते हुए जनसंख्या के ज़्यादा से ज़्यादा हिस्से तक पहुँचाया जाए। चालीस के दशक में नारीवादी विचारों का प्रसार मध्यवर्गीय स्त्रियों के बीच हुआ। नतीजे के तौर पर पचास के दशक के मध्य में एक संगठित आंदोलन खड़ा हो सका। शुरुआत का नारीवाद महिलाओं की शिक्षा, रोज़गार के अधिकार एवं शादीशुदा स्त्रियों के वैधानिक अधिकारों से सम्बद्ध था। मताधिकार का अधिकार या वोट डालने के अधिकार का प्रश्न खास तौर पर तब उठा जब जॉन स्टुअर्ट मिल ने 1867 के सुधार एक्ट में महिलाओं को भी शामिल करने का प्रयास किया।

नारीवाद के इतिहासकारों ने दिखाया है कि पहली लहर में समानता के प्रश्न के साथ-साथ ब्रिटेन में इसी दौरान एक इंजीली नारीवाद भी विकसित हुआ। ईसाई धर्मप्रचारवादियों ने इंजीली झंडे के तले 'पतित' स्त्रियों, मज़दूर स्त्रियों और अन्य दरिद्र औरतों को 'उत्थान' की राह पर चलाने का दावा किया। इस अवधि में सामाजिक नारीवाद के नाम से एक नयी प्रवृत्ति उभरी जिसका उद्देश्य सामाजिक और वैधानिक सुधार था। जोसेफ़िन बटलर ने संक्रामक रोग अधिनियम के खिलाफ़ अभियान चलाया। नारीवाद की यह क्रिस्म इंजीली और समानता का दावा करने वाले नारीवादों की अपेक्षा कम प्रभावशाली थी, लेकिन इसमें नारीवाद के तत्त्व सबसे ज़्यादा थे। इस नारीवाद ने विवाह और परिवार के तत्कालीन रूपों को प्रश्नांकित करने के साथ-साथ बच्चों के लालन-पालन और घरेलू कामकाज के सामूहिकीकरण की वकालत की।

बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में मताधिकार का प्रश्न सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन गया और इसी के ईद-गिर्द जन-अभियानों की गतिविधियाँ केंद्रित हो गयीं। वोट देने का अधिकार स्त्री-समानता के वैधानिक एजेंडे के तहत सबसे अहम माना गया। सभी नारीवादी इस अभियान में एक साथ जुट गये, बावजूद इसके कि रणनीति के सवाल पर उनके बीच बुनियादी भिन्नताएँ थीं। 1897 में स्त्री मताधिकार के लिए संघर्ष करने वाली सोसाइटियों की राष्ट्रीय यूनियन का गठन मिलिसेंट फ़ॉक्रेट की अध्यक्षता में हो चुका था। प्रतिष्ठित मध्यवर्गीय महिलाएँ इसकी सदस्य थीं। 1903 में एक अलग संगठन की स्थापना की गयी जिसका नाम था वुमॅस सोशल ऐंड पब्लिक यूनियन। इसका रवैया जुझारू था। नतीजे के तौर पर मताधिकार के लिए लड़ रहे हज़ारों आंदोलनकारियों को जेल जाना पड़ा। कई स्त्रियों ने भूख हड़ताल की जिसके कारण उन्हें ज़बरन खाना खिलाया गया।

1914 में प्रथम विश्व-युद्ध शुरु हो गया जिसके



नारीवाद की पहली लहर : मताधिकार का प्रश्न

कारण जुझारू मताधिकार आंदोलन थम गया लेकिन दूसरी तरफ़ स्त्री-आंदोलन में अधिक विविधता पैदा हुई। आंदोलन से जुड़ी कुछ महिलाओं ने युद्ध का समर्थन किया तो कुछ ने शांतिवादी रुख अपनाया। लड़ाई पर गये पुरुषों की गैरमौजूदगी में स्त्री श्रमिकों ने उनका स्थान लिया जिसके कारण महिलाओं से संबंधित कई तरह के पारम्परिक नज़रियों में संशोधन हुआ। उन्हें श्रम शक्ति के रूप में देखा जाने लगा, क्योंकि वे घरों से बाहर निकल कर सार्वजनिक दायरे में काम करने लगी थीं।

नारीवादियों के लिए मताधिकार का प्रश्न उनकी एकता के दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण था। वोट के लिए संघर्ष के दौरान अपने वैचारिक मतभेदों के बावजूद महिलाएँ एकजुट रहीं। वोट का अधिकार मिल जाने के उपरांत भी कई वर्षों तक यह एकता बनी रही। विश्व-युद्ध के पहले तथा बाद के वर्षों में नारीवादी आंदोलन के तेवर की समीक्षा करते हुए इतिहासकारों ने बताया है कि युद्ध के पहले नारीवाद ने आत्मविश्वासी और जुझारू रुख अपनाया, लेकिन युद्धोपरांत उसका रवैया रक्षात्मक हो गया। युद्ध के दौरान एक व्यापक जनांदोलन के रूप में न टिक पाने के पीछे दो बड़ी वैचारिक प्रक्रियाएँ थीं। पहली बात यह थी कि इस दौरान ब्रिटेन में नारीवाद विरोधी विचारों का उभार हुआ जिसका जोर इस बात पर था कि अब वक्रत आ गया है कि महिलाएँ अपने युद्ध आधारित कामों को छोड़ें और अपनी परम्परागत घरेलू भूमिकाओं में लौट जाएँ। दूसरी समस्या नारीवादी धाराओं के भीतर पैदा हुए वैचारिक तथा संस्थागत विभाजन की थी।

1918 में लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम के तहत महिलाओं को मिले आंशिक मताधिकार के बाद मताधिकार के लिए संघर्ष करने वाली सोसाइटियों की राष्ट्रीय यूनियन का पुनर्गठन हुआ। उसने अपना नाम बदल कर नैशनल यूनियन ऑफ़ सोसाइटीज़ फ़ॉर ईक्वल सिटीज़नशिप रख लिया। एलीनॉर रैथबोन के नेतृत्व में इसने अपनी प्राथमिताओं

को इस यक्रीन पर टिकाया कि स्त्री ने पुरुष के साथ समानता हासिल कर ली है, और अब नारीवाद स्त्री को स्त्री के रूप में देखे जाने पर ध्यान दे सकता है। इसी वजह से इसके एजेंडे पर अब पारिवारिक भत्ता, गर्भ-नियंत्रण तथा सुरक्षा-क्रानून आ गये। यह नारीवाद घर के अंदर स्त्री की भूमिका तथा माँ के रूप में उसकी भूमिका पर केंद्रित था। समानतावादी नारीवादियों की इच्छा थी कि स्त्रियाँ अपने फलक को विस्तार दें और अपनी घरेलू भूमिकाओं के अतिरिक्त भी कुछ सोचें, इसलिए उन्होंने सैद्धांतिक तौर पर सभी क्रिस्म के सुरक्षा-क्रानून का जिसमें मातृत्व अवकाश भी शामिल था, विरोध किया। अंततः सुरक्षा-क्रानून के मुद्दे पर प्रथम लहर का नारीवाद विभाजित हो गया। मध्यवर्गीय नारीवादियों ने इसका विरोध किया, और कामगार वर्ग की नारीवादी इसके पक्ष में खड़ी हो गयीं। 1920 के अंत तक समान अधिकार की माँग करने वाली नारीवादियों का महिला आंदोलन में स्थान दोगुना दर्जे का रह गया, बावजूद इसके कि बीस के दशक में नैशनल यूनियन ऑफ़ सोसाइटीज़ फ़ॉर इक्वल सिटीज़नशिप ने स्त्री-स्वतंत्रता लीग तथा सिक्स पाइंट ग्रुप के साथ जुड़ कर इस आश्वासन के साथ काम किया कि स्त्रियों से जुड़े मुद्दों को संसद में लगातार उठाया जाएगा। उन्होंने समान मताधिकार तथा बच्चों के समान अभिभावकत्व/संरक्षण, समान वेतन, महिलाओं के लिए क्रानूनी पेशे, नैतिकता के समान मानदण्ड तथा विधवाओं की पेंशन योजना के लिए अपना संघर्ष जारी रखा।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

### संदर्भ

1. सी. बोल्ड (1995), *फ़ेमिनिस्ट फ़रमेंट : द 'वुमॅन क्वेश्चन' इन द यूएसए ऐंड इंग्लैण्ड, 1870-1940*, यूएलसी प्रेस, लंदन.
2. जे. लिडिंग्टन और जे. नोरिस (1978), *वन हैंड टाइड बिहाइंड अस : द राइज़ ऑफ़ वुमॅस सफ़रेज मूवमेंट*, विरगो, लंदन.
3. सी. डाली और एम. नोलन (सम्पा.) (1994), *सफ़रेज ऐंड बियाॅन्ड : इंटरनैशनल फ़ेमिनिस्ट पर्सपेक्टिव्ज़*, ऑकलैण्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑकलैण्ड.

## नारीवाद की दूसरी लहर

(Second Wave of Feminism)

नारीवाद की दूसरी लहर साठ के दशक में उभरी जो स्त्रियों की सामूहिक राजनीतिक कार्रवाई और जुझारूपन का परिणाम थी। 1963 में बेट्टी फ्रीडन ने अपनी कृति *द फ़ेमिनिन मिस्ट्रीक* में यह घोषणा कर दी थी कि नारीवाद का अंत हो चुका है। दरअसल इस विचारोत्तेजक सूत्रीकरण के जरिये वे स्त्री-मुक्ति के नये दावे और समान अधिकारों की पैरवी करने वाली पुरानी दावेदारियों के बीच फ़र्क दिखाना चाहती थीं। पहली लहर अगर उद्योगीकरण के गर्भ से जन्मी थी, तो दूसरी नव-सामाजिक आंदोलनों के फलस्वरूप बदले आर्थिक-राजनीतिक परिदृश्य का परिणाम थी जिसके कारण नारीवादी चेतना का रैडिकलीकरण हो गया था। औरत की आजादी के लिए साठ के दशक का महत्त्व कम करके नहीं आँका जा सकता, क्योंकि इसी दशक में नारीवादी विदुषियों ने महसूस किया कि उन्हें अपने आंदोलन को एक सतत विकासमान परिघटना के तौर पर देखना चाहिए जिसमें उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इसी विचार के तहत लहरों का रूपक विकसित हुआ। 1920 तक के दौर को पहली लहर की संज्ञा दी गयी, और द्वितीय विश्व-युद्ध के कुछ बाद तक की अवधि लहर के उतार के तौर पर रेखांकित हुई। पहली लहर के केंद्र में अगर वोट का अधिकार और सम्पत्ति का अधिकार था, तो दूसरी लहर में नारीवादियों ने स्त्री की देह और उसकी मुक्ति के प्रयोजन पर प्रकाश डाला। दूसरी लहर ने उदारतावादी और मार्क्सवादी नारीवादों की राजनीति में भी अहम तब्दीलियाँ कीं। इस दौर में नारीवादियों ने हर तरह की स्त्रियों के लिए अपने दरवाजे खोले। लेस्बियन, अश्वेत और मजदूर वर्ग की औरतें नारीवाद के परचम के तले गोलबंद की जाने लगीं। दूसरी लहर ने पुरुष के साथ समानता के आग्रह को भी प्रश्नांकित करते हुए अपनी भिन्नता पर जोर दिया। कई विद्वान पहली और दूसरी लहरों को जोड़ कर देखते हैं। उनका मानना है कि प्रथम लहर का नारीवाद इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण क्रांति थी और दूसरी लहर उसी का परिमार्जित स्वरूप है।

दूसरी लहर की नारीवादी सैद्धांतिकी संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन में विकसित हुई। आमतौर पर इसे रैडिकल नारीवादी राजनीति के साथ भी जोड़कर देखा जाता है। इस धारा की प्रमुख विदुषियों में जूलिएट मिचेल, एन. ओकली, केट मिलेट, सुलामिथ फ़ायरस्टोन, रॉबिन मॉरगेन, जरमेन ग्रीयर इत्यादि का नाम लिया जाता है। लेकिन, इसकी सैद्धांतिक प्रस्थापनाओं को सही अर्थों में सिमोन द बोउवार

ने अपनी 1949 की पुस्तक *द सेकेंड सेक्स* के माध्यम से वाणी दी। इस कृति में सिमोन ने स्त्री को 'अन्य' बना देने की सांस्कृतिक परम्परा का विश्लेषण किया। उन्होंने इस तथ्य का उद्घाटन किया कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है'। सिमोन के विमर्श ने स्पष्ट किया कि समाज में स्त्री की स्थिति को महज जैविकीय, मनोवैज्ञानिक या आर्थिक कारण निर्धारित नहीं करते, बल्कि सभ्यता के समग्र विकास के दौरान ही स्त्री-देह को पुरुष तथा किन्नरों/नपुंसकों के बीच सृजित किया गया है जिसके परिणामस्वरूप नारीत्व की परिकल्पना निकली है। 'अन्य' की इस श्रेणी को सभी मानवीय समाजों एवं संस्कृतियों में यथावत रखा गया है।

एक बृहद सांस्कृतिक परिधि के भीतर स्त्री का अन्यीकरण कर दिये जाने के सिमोन के तर्क का उपयोग बाद में कई रैडिकल नारीवादियों ने किया। बेट्टी फ्रीडन ने स्त्री के अधीनीकरण के संबंध में तर्क दिया कि स्त्री के जीवन का उच्चतम मूल्य एवं उद्देश्य अपने नारीत्व के पोषण को सर्वाधिक महत्त्व देना है। नारीत्व की अवधारणा अत्यंत रहस्यमय और रोमांचक है, बिल्कुल उसी तरह जैसे जीवन का सृजन एवं उसका विकास। पुरुष-रचित विज्ञान इस रहस्य को कभी नहीं समझ पायेगा। यह स्त्रियों की ऐतिहासिक भूल थी कि उन्होंने अपने नैसर्गिक गुणों को स्वीकार कर उन्हें महत्त्व देने के बजाय पुरुषों की नकल करने का प्रयास किया। नतीजा यह निकला कि वे एक निष्क्रिय यौन-सहभागी बन कर रह गयीं। उन्हें पुरुष-वर्चस्व तथा मातृत्व में फँस कर रह जाना पड़ा।

फ्रीडन के विचारों ने स्त्रियों की चेतना-जागृति में महत्पूर्ण योगदान दिया। खास तौर से पारिवारिक जीवन से असंतुष्ट मध्यवर्गीय गृहिणियों ने उनके विचारों को हाथो-हाथ लिया। इसके अतिरिक्त सत्तर के दशक में प्रकाशित केट मिलेट द्वारा लिखित पुस्तक *सेक्सुअल पॉलिटिक्स* तथा सुलामिथ फ़ायरस्टोन की *द डायलेक्टिक ऑफ़ सेक्स* को अत्यंत महत्त्वाकांक्षी सैद्धांतिक कृतियों के तौर पर जाना जाता है। फ़ायरस्टोन ने दावा किया कि अगर स्त्री-शोषण का केंद्र जैविकीय है तो स्त्री-मुक्ति की आवश्यक शर्त भी जैविकीय क्रांति ही होगी। इस क्रांति की दिशा प्रजनन की नयी तकनीक से तय होगी। फ़ायरस्टोन को यकीन था कि जब प्रजनन में स्त्री-पुरुष की भूमिकाएँ बदलने के उपरांत लैंगिक आधार वाली भूमिकाएँ भी बदल जाएँगीं। एकल विवाह तथा छोटा परिवार गुजरे ज़माने की बातें होंगीं। इतरलैंगिकता (हेटरोसेक्सुअलिटी) को ही प्राकृतिक मानते हुए उसे प्रजनन का केंद्र मानने की समझ भी खत्म होगी। समलैंगिकता, गे और लेस्बियन पर थोपी गयी वर्जनाएँ टूटेंगी एवं परिवार को नये तरीके से परिभाषित किया जा सकेगा।

केट मिलेट की ऐतिहासिक कृति को यौन-राजनीति की जटिल संरचना पर रोशनी डालने और पितृसत्ता को नवीन तरीके से परिभाषित करने के कारण प्रसिद्धि मिली। मिलेट ने कहा कि पितृसत्ता एक ऐसी राजनीतिक संस्था है जिसमें मानव शोषण का प्राथमिक स्वरूप निहित है। नस्ली, राजनीतिक तथा आर्थिक शोषण के साथ निरंतर सक्रिय रहने वाला पितृसत्तात्मक वर्चस्व मुख्यतः विचारधारात्मक नियंत्रण के माध्यम से खुद को क्रायम रखता है। इसके अतिरिक्त मिलेट ने परिवार, गर्भपात, यौनिकता, पोर्नोग्राफी, लैंगिक श्रम विभाजन, बलात्कार तथा घरेलू हिंसा के विभिन्न पहलुओं का भी विश्लेषणात्मक अध्ययन किया। सिमोन की तरह केट मिलेट ने भी यह माना कि स्त्रियों ने नारीत्व के जिस विचार को आत्मसात कर रखा है वही उनकी अधीनता का कारण है।

अमेरिका में अपनी पुस्तक का प्रभाव देखते हुए बेटी फ्रीडन ने 1966 में राष्ट्रीय महिला संगठन की स्थापना की। अमेरिकन समान रोजगार अवसर आयोग के विफल होने तथा उसमें लैंगिक भेदभाव बरते जाने को इस संगठन ने महत्वपूर्ण मुद्दा बनाया, और अमेरिकी समाज में रोजगार की दृष्टि से महिलाओं को पूर्ण सहभागिता के अवसर उपलब्ध कराने की माँग रखी। यह मुद्दा अपनी सीमाओं में उदारतावादी समान अधिकार परम्परा का ही विस्तार था। इसके विपरीत अमेरिका में ही नारीवाद का एक अन्य स्वरूप उभरा जो साठ के दशक में चले वियतनाम युद्ध-विरोधी आंदोलन, नागरिक अधिकार आंदोलन और छात्र आंदोलनों से प्रभावित था। इन नव-सामाजिक आंदोलनों की पड़ताल करते हुए जूलिएट मिचेल ने अपनी पुस्तक *वुमंस एस्टेट* में लिखा कि स्त्रियों ने इन आंदोलनों में शोषित समूह के भीतर भी एक शोषक दिमाग पनपते हुए महसूस किया। अहिंसक छात्र समिति में स्त्री की भूमिका सिर्फ सहायक तक सीमित करना इसी मानसिकता का उदाहरण था।

लिहाजा स्त्रियों ने धीरे-धीरे इन नव-सामाजिक आंदोलनों से असहमत होना शुरू कर दिया। वे स्वायत्त महिला संगठनों का गठन करने लगीं। राष्ट्रीय महिला संगठन जैसा विशाल संगठन न होने के बावजूद उन्होंने अपने प्रयासों से रैडिकल समुदायों, प्रेस और स्वतंत्र विश्वविद्यालयों की संरचना खड़ी कर ली थी। फ़रवरी, 1968 में न्यूयॉर्क शहर के एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय में ऐने कोड ने इस विकास का वर्णन करते हुए कहा कि 'पिछले कुछ सालों में रैडिकल महिला समूह लगभग पूरे देश में फैल गये हैं। इसका सबसे बड़ा कारण है कि महिलाएँ स्वयं को हर स्तर पर द्वितीयक भूमिकाओं में पा रही थीं। जब हमने अपनी समस्याओं पर विचार शुरू किया तब समझ में आया कि दरअसल हम जिसे व्यक्तिगत समस्या मान रहे थे, उसकी जड़ें तो सामाजिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं में थीं।'

साठ और सत्तर के दशक की परिस्थितियों में स्त्रियाँ न केवल अपने शोषण को व्यक्तिगत तौर पर महसूस करने लगी थीं, बल्कि वे उसके राजनीतिक निहितार्थों से भी परिचित हो रही थी। इसी प्रक्रिया में 'पर्सनल इज पॉलिटिकल' जैसा फ़िकरा बना। यह उक्ति पुरुष द्वारा स्त्री पर थोपे गये निजी दायरे (घर-परिवार, बच्चों के लालन-पालन, मातृत्व और पत्नी की भूमिका) को बतौर अ-राजनीतिक परिभाषित करने के खिलौना थी। वह दौर अमेरिका में रैडिकल नारीवाद का था। 1963 में इन समूहों द्वारा मिस अमेरिका सौंदर्य प्रतियोगिता का विरोध इसी आधार पर किया गया कि ये प्रतियोगिताएँ समाज में स्त्री की भूमिका को अत्यंत सीमित करती हैं। स्त्री स्वतः ही अपनी निष्क्रिय, अराजनीतिक तथा नाजुक छवि को मंत्रमुग्धता के साथ आत्मसात करने लगती है। धरना प्रदर्शनकारियों ने छोटे वस्त्रों, अधो-वस्त्रों, ऊँची एड़ी की सैंडलों इत्यादि को स्त्री-उत्पीड़न की वस्तुएँ करार देकर फेंकना शुरू कर दिया। मीडिया ने इसे सनसनीखेज बनाते हुए इसे 'ब्रा-बर्निंग आंदोलन' का नाम दिया। आज भी नारीवाद विरोधी इस लहर के तार्किक पहलू और ऐतिहासिक संदर्भ को समझे बिना ब्रा-बर्निंग के मिथक को नकारात्मक पहलू की तरह पेश करते हैं।

अमेरिका की अपेक्षा ब्रिटेन में द्वितीय लहर का उभार भिन्न अर्थों में हुआ। हालाँकि 1960 का दशक वहाँ भी कई समान अधिकार आंदोलनों का साक्षी रहा, पर यहाँ रैडिकल वामपंथ से जुड़ी महिलाओं ने स्त्री-मुक्ति आंदोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली। एक स्तर पर मार्क्सवादी और समाजवादी समूहों के साथ उनकी सहमति थी। यह प्रवृत्ति सिर्फ नौकरीपेशा तथा व्यावसायिक स्त्रियों के हितों तक सीमित नहीं थी, बल्कि औद्योगिक कामगार वर्ग की स्त्रियों के प्रश्नों को लेकर भी प्रतिबद्ध थी। इसी क्रम में 1968 में डेगेहम के एक सिलाई मशीन कारखाने में काम करने वाली महिलाओं ने समान वेतन के अधिकार की माँग पर हड़ताल की। अमेरिकी आंदोलनकारी महिलाओं का ही अनुसरण करती हुई ब्रिटेन की महिलाओं ने भी 1970 में लंदन में आयोजित विश्व सुंदरी प्रतियोगिताओं के विरुद्ध धरना-प्रदर्शन किया।

अपनी सैद्धांतिकी गढ़ने के लिए इस नये नारीवाद को एक नयी भाषा की जरूरत थी। शीला रोबोथोम ने अपनी पुस्तक *वुमंस कांशसनेस, मेंस वर्ल्ड* में लिखा है : एक क्रांतिकारी समूह को वर्चस्वशाली समूह की सैद्धांतिक जकड़ तोड़नी होगी। हम पहले से प्रयोग किये जा रहे शब्दों को नहीं अपना सकते। सबसे पहले हम जिन शब्दों का प्रयोग करने जा रहे हैं, उनके मायने और अंतर्निहित मूल्यों को हमें बदलना होगा। स्त्री-मुक्ति के लिए आयोजित की गयी रस्किन कॉलेज

कांफ्रेंस की याद करते हुए जूलिएट मिचेल ने अपने आलेख 'वन्स अ फेमिनिस्ट : स्टोरीज़ ऑफ़ जेनेरेशन' में लिखा है : हमने यह शिद्दत से महसूस किया कि हम सभी एक ही लक्ष्य के लिए लड़ रहे थे इसलिए हमारा नारीवाद भी एक हो सकता था और स्त्री-मुक्ति का सपना भी एक ही रास्ते पर चलते हुए पाया जा सकता था। इस सम्मेलन में मुख्यतः चार माँगें रखी गयी थीं : समान वेतन, समान शिक्षा एवं रोज़गार के अवसर, 24 घंटे नर्सरी, मुफ्त गर्भनिरोधक और मुफ्त गर्भपात का अधिकार।

द्वितीय लहर के नारीवाद ने स्त्री को एक शोषित सामाजिक समूह और यौनिक गुलाम के रूप में देखा। दोनों ही रूपों में स्त्री की अधीनस्थता का राजनीतीकरण करने का प्रयास किया गया। रोसी ब्रायडोट्टी ने द्वितीय लहर की समीक्षा करते हुए लिखा है कि उस दौर का अधिकांश नारीवादी सिद्धांत भविष्य के लिए लिखा जा रहा था, जिसमें दृढ़ निश्चय की गहरी अनुभूति तथा प्रतिरोधी स्वर की चेतना अपने चरम पर थी। उस दौर के अधिकतर लेखन में आधी हकीकत और आधा यूटोपिया था। अपने उद्देश्यों में राजनीतिक होते हुए भी यह अत्यंत बहसधर्मी था। लौरा मलवी ने 1984 में इस इस लहर की सराहना करते हुए कहा कि उस दौरान दुनिया देखने का एक नया नज़रिया विकसित हो रहा था। स्त्रियों को अपने शोषण तथा तकलीफ़ के पहलुओं पर बात करने का मौक़ा मिल रहा था। यह सिर्फ़ उनके चुनाव का मसला नहीं था, बल्कि बोलना उनकी राजनीतिक अनिवार्यता थी। अपने तीस वर्षों के इतिहास में द्वितीय लहर के नारीवाद ने न सिर्फ़ अकादमिक जगत में अपनी जगह 'स्त्री-अध्ययन' के रूप में बनायी, बल्कि एक राजनीतिक अस्मिता के रूप में इसने भिन्नताओं के स्वर को भी तरजीह दी।

1978 में ब्रिटेन में आख़िरी बार राष्ट्रीय स्त्री मुक्ति सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें रैडिकल तथा समाजवादी नारीवाद दो धड़ों में विभाजित हो गया, हालाँकि ये मतभेद 1974 से ही उभरने लगे थे। कई नारीवादियों का मानना है कि द्वितीय लहर का नारीवाद अब उत्तर-नारीवाद में तब्दील हो चुका है।

**देखें :** अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरें, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-

श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

### संदर्भ

1. सू थॉर्नहैम (1998), 'सेकण्ड वेव फ़ेमिनिज़म', संकलित : सराह गैम्बल (सम्पा.), रॉटलेज *कम्पेनियन ऑफ़ फ़ेमिनिज़म ऐंड पोस्ट फ़ेमिनिज़म*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
2. बेटी फ़्रीडन (1965), *द फ़ेमिनिन मिस्टीक*, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.
3. सुलामिथ फ़ायरस्टोन (1979), *द डायलेक्टिक ऑफ़ सेक्स*, द वुमेन प्रेस, लंदन.
4. केट मिलेट (1969), *द सेक्सुअल पॉलिटिक्स*, विरगो, लंदन.
5. जूलिएट मिचेल (1971), *अ वुमेन एस्टेट*, पेंगुइन, लंदन.

— सुप्रिया पाठक

## नारीवाद की तीसरी लहर

(Third Wave of Feminism)

तीसरी लहर का नारीवाद नब्बे के दशक में विकसित हुआ। इसकी सैद्धांतिकी के ऊपर अश्वेत नारीवादी विद्वत्ता का विशेष प्रभाव है। आमतौर पर विख्यात लेखिका एलिस वाकर की बेटी रेबेका वाकर और शैन्न लिस को इस लहर की शुरुआत का श्रेय दिया जाता है। दरअसल, तीसरी लहर की पैरोकार स्त्रियाँ वे हैं जिन्हें घुट्टी में नारीवादी शिक्षा मिली और जिनके विचार दूसरी और पहली लहर के नारीवाद की निरंतरता और अनुक्रिया में परवान चढ़े। इसीलिए तीसरी लहर अपने से पहले के नारीवाद की वैचारिक विरासत स्वीकार करने के साथ-साथ उसकी सीमाओं को भी चिह्नित करती चलती हैं। उसकी इस तर्क के साथ गहरी सहमति है कि द्वितीय लहर श्वेत, मध्यवर्गीय और सवर्ण स्त्रियों तक सीमित होने के कारण अपने चरित्र में निर्देशात्मक थी। दूसरी लहर ने साधारण स्त्री और उसके मुद्दों को नज़रअंदाज़ किया। तृतीय लहर की नारीवादियों के अनुसार जिस ऐतिहासिक तथा राजनीतिक संदर्भ में द्वितीय लहर का उदय हुआ था, वे समस्त परिस्थितियाँ अब बदल चुकी हैं। इसीलिए वर्तमान स्त्री के जीवनानुभवों में उसकी झंकार सुनायी नहीं देती। तीसरी लहर की प्रमुख हस्ताक्षर बनने वाली विदुषियों में अधिकतर वे महिलाएँ हैं जिनकी माताएँ दूसरी लहर के दौरान सक्रिय थीं या जो शिक्षा-शोध संस्थानों के स्त्री-अध्ययन विभागों में अध्ययन-अध्यापन कर रही हैं। इन नारीवादियों ने उत्तर-संरचनावादी तथा उत्तर-आधुनिकतावादी सिद्धांतों को

भी चुनौती दी है। तीसरी लहर ने पश्चिमी समाजों में अस्सी के दशक में उभरी नारीवाद विरोधी प्रतिक्रिया और उत्तर-नारीवाद के खिलाफ भी मोर्चाबंदी की है।

दुनिया भर में अस्सी और नब्बे के दशक में एक अहम परिघटना के रूप में उभरे दलित और अश्वेत नारीवाद के वैचारिक हस्तक्षेप को तीसरी लहर के दायरे में रख कर देखा जाता है। इस विमर्श ने तीसरी दुनिया में स्त्री-विषयक मुद्दों को सार्वभौमिक बहनापे के दावे से अलग हट कर नस्ली, जातीय और जातिगत संदर्भों में देखे जाने की पैरवी की। इसके साथ कई तरह की नारीवादी और सबाल्टर्न सिद्धांतों, अवधारणाओं और आंदोलनकारी गतिविधियों का जुड़ाव रहा है। 2006 में प्रकाशित अपनी कृति *राइटिंग क्रास्ट/राइटिंग जेंडर : नैरेटिंग दलित वुमैन टेस्टीमोनियल्स* में दलित नारीवाद की प्रथम सिद्धांतकार शर्मिला रेगे (1964-2013) ने इस पर विस्तार पूर्वक चर्चा की है। नारीवादी की तीसरी लहर की प्रतिभाशाली भारतीय प्रतिनिधि रेगे एक अन्य रचना *अगेंस्ट द मैडनेस ऑफ़ मनु : बी.आर. आम्बेडकर्स राइटिंग्स ऑन ब्राह्मनिकल पैट्रियार्की* ने नारीवादी हलकों में जाति के प्रश्न पर होने वाली बहस का गहराई से प्रभावित किया। जाति के प्रश्न और नारीवाद के अलाव पर्यावरण के प्रश्न के इर्द-गिर्द पनपा नारीवादी विमर्श (पर्यावरणीय नारीवाद) और इस्लाम के दायरे में होने वाला नारीवाद विमर्श भी तीसरी लहर का ही अंग है।

तीसरी लहर और उत्तर-नारीवाद दोनों ही दूसरी लहर के बाद जन्मे हैं लेकिन दोनों के दृष्टिकोण में अंतर है। लेसली हेवुड तथा जेनिफर ड्रेक ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि उत्तर-नारीवाद दरअसल परम्परानिष्ठ क्रिस्म के युवा नारीवादियों का समूह है जिसने स्वयं को अलग से परिभाषित करते हुए द्वितीय लहर के नारीवादियों की कटु आलोचना की। इसके विपरीत तृतीय लहर के नारीवादियों ने सचेत रूप से द्वितीय लहर के इतिहास को संजोते हुए अपने कार्यों और सिद्धांतों को इसी शृंखला की कड़ी के रूप में पेश किया है। तीसरी लहर की पैरवी करने वाली विदुषियाँ उन नारीवादियों की टिप्पणियों को नापसंद करती हैं जिन्होंने अमेरिकी विश्वविद्यालयों में सक्रिय रैडिकल फ़ेमिनिस्टों को गुमराह करार दिया है। ध्यान रहे कि दूसरी लहर से निकली रैडिकल फ़ेमिनिस्ट 'डेट-रेप' और 'सेक्शुअल हैरेसमेंट' जैसे मुद्दों पर जोर देती हैं। उत्तर-नारीवादियों का आरोप है कि इस रवैये के कारण स्त्री-पुरुष संबंधों में खटास आ जाती है। जाहिर है कि तीसरी लहर उत्तर-नारीवादियों की इस प्रवृत्ति के साथ नहीं है।

सूसन फ़ालुदी ने अपनी विख्यात रचना *बैकलैश : द अनडिक्लोयर्ड वार अगेंस्ट वुमैन* में उत्तर-नारीवादियों पर आरोप लगाया है कि नारीवाद की दूसरी लहर की उपलब्धियों को खारिज करने के कारण भी स्त्री-विरोधियों को फ़ेमिनिज़म पर हमला करने की गुंजाइश मिली। अस्सी

के दशक में जिस समय बड़े पैमाने पर युवा स्त्रियाँ खुद को नारीवादी कहने के लिए तैयार थीं, मीडिया ने उसी समय नारीवाद को सत्तर के दशक की परिघटना घोषित करते हुए उसके बरक्स उत्तर-नारीवाद को खड़ा करने की मुहिम चलायी क्योंकि उसके ज़रिये नारीवाद विरोध की प्रवृत्तियों को बल मिलता था। दरअसल, फ़ालुदी ने पोस्ट-फ़ेमिनिज़म को यथास्थिति का समर्थक बताते हुए स्त्री-विरोधी बैकलैश की श्रेणी में रखा है।

नाओमी वुल्फ़ की 1993 में प्रकाशित कृति *फ़ायर विद फ़ायर* को तीसरी लहर के नारीवादियों की नाराज़गी विशेष रूप से झेलनी पड़ी है। दिलचस्प बात यह है कि कुछ समीक्षकों के अनुसार यह पुस्तक भी तीसरी लहर की श्रेणी में रखी जानी चाहिए। दरअसल, वुल्फ़ को अपनी 1990 की रचना *द ब्यूटी मिथ* के लिए ख़ास तौर से जाना जाता है। इस किताब में वुल्फ़ ने नारीवाद के स्थापित तर्कों का सहारा लेकर साबित किया था कि समाज और संस्कृति स्त्री को नारी-सौंदर्य के असम्भव ऐसे मानक हासिल करने के लिए मजबूर करते हैं जिनमें फँस कर वह खुद को खपा बैठती है, लेकिन तीन साल बाद *फ़ायर विद फ़ायर* में वुल्फ़ का रवैया बदला हुआ नज़र आया। अपनी इस रचना में उन्होंने उत्पीड़ित मानस के शिकार रहने वाले नारीवादी रवैये को खारिज कर दिया। वुल्फ़ का नया सूत्रीकरण इस तथ्य पर आधारित है कि अब पुराने ख़ाँचे को तोड़ कर प्रतिरोध की नयी संस्कृति गढ़ने की आवश्यकता है। इसलिए अब पुत्री के लिए आवश्यक है कि वह अपनी नारीवादी माँ द्वारा की गयी शोषण की संकल्पनाओं से इतर जाकर अपने एजेंडे को स्वयं परिभाषित करे।

तीसरी लहर के अधिकतर प्रेरणा-तत्त्व बहुभाषिक संस्कृतियों में प्रतिबिम्बित होते हैं। इन सांस्कृतिक हस्तक्षेपों के अतिरिक्त तीसरी लहर के समर्थकों को अपने वैश्विक दृष्टिकोण और उससे प्रतिबद्धता पर गर्व है। उनका विचार है कि उन्होंने इसी नज़रिये के तहत द्वितीय लहर के कुछ अहम पहलुओं को अपनाते हुए सामान्य लोगों के जीवन तथा उनकी वास्तविक परिस्थितियों को समझने का प्रयास किया है। पुरुषत्व तथा इतरलैंगिकता की आलोचना तीसरी लहर के नारीवाद में उतने महत्वपूर्ण मुद्दे नहीं थे। तीसरी लहर का नारीवाद अपनी भ्रूणावस्था में ही है। इसे अकादमिक सिद्धांतीकरण के ज़रिये धीरे-धीरे अपना दर्शन गढ़ना है। तीसरी लहर के नारीवादी अपनी सांस्कृतिक अभिरुचियों में भी कुछ अलग क्रिस्म के हैं। उन्हें मीडिया और मध्यवर्गीय लोकप्रिय जन-संस्कृति से उतनी दिक़्क़त नहीं है जितनी दूसरी लहर को थी। दूसरी लहर का ख़याल था कि पुरुष प्रधान मीडिया द्वारा की जाने वाली विनियोग की कोशिशों को विफल किया जाना ज़रूरी है क्योंकि वे पितृसत्ता की संरचनाओं में रची-बसी होती हैं। इसके विपरीत तीसरी लहर

का खयाल है कि टेलिविज़न, पॉप संगीत, सिनेमा और लोकप्रिय साहित्य ने स्त्री के मानस को बनाने में खास भूमिका निभायी है। इसलिए इन मीडिया-रूपों को नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। तीसरी लहर के अनुसार लोकप्रिय मध्यवर्गीय संस्कृति भी कार्यकर्ता मुहिमों का एक मुक़ाम हो सकती है और संगीत के ज़रिये भी राजनीतिक संदेश दिये जा सकते हैं।

रॉक स्टार कोर्टनी लव को तीसरी लहर की नुमाइंदगी करने वाले कलाकार के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। सत्तर के दशक में उभरे पंक संगीत से प्रेरणा ले कर बने पॉप ग्रुप रायट गर्ल्स का उदाहरण भी तीसरी लहर और बाज़ारू संस्कृति के बीच बने एक खास तरह के तालमेल का सबूत है। 1992 में रायट गर्ल्स ने वाशिंगटन, डीसी में सम्मेलन आयोजित किया जिसमें केवल संगीत कार्यक्रम ही नहीं हुए, बल्कि सेक्सुअलिटी, बलात्कार, नस्लवाद और घरेलू हिंसा पर वर्कशॉप भी किये गये।

**देखें :** अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरों, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

## संदर्भ

1. स्टेसी गिल, जिलियन हौवी और रेबेका मनफ़र्ड (सम्पा.) (2004), *थर्ड वेव फ़ेमिनिज़म : अ क्रिटिकल एक्सप्लोरेशन*, पालग्रेव मैकमिलन, बेसिंगस्टोक.
2. एल. हेवुड और जे. ड्रेक्स (सम्पा.) (1997), *थर्ड वेव एजेंडा : बीइंग फ़ेमिनिस्ट, डूइंग फ़ेमिनिज़म*, युनिवर्सिटी ऑफ़ मिनेसोटा प्रेस, मिनेसोटा.
3. साराह गैम्बल (1998), 'पोस्टफ़ेमिनिज़म', संकलित : साराह गैम्बल (सम्पा.), *रॉटलेज कम्पेनियन ऑफ़ फ़ेमिनिज़म एंड पोस्ट फ़ेमिनिज़म*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
4. सूसन फ़ालुदी (1992), *बैकलैश : द अनडिक्लेयर्ड वार अगेस्ट वुमन, चैटो एंड विंडुस*, लंदन.
5. नाओमी बुल्फ़, (1993) *फ़ायर विद फ़ायर : द न्यू फ़ीमेल पॉवर एंड हाउ इट विल चेंज द 21स्ट सेंचुरी*, चैटो एंड विंडुस, लंदन.
6. शर्मिला रेगे (2006), *राइटिंग कास्ट, राइटिंग जेंडर : रीडिंग दलित वुमंस टेस्टीमोनियल*, जुबान, नयी दिल्ली.

— सुप्रिया पाठक

## नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत

(Feminist Film Theory)

बीसवीं सदी के तीसरे दशक से ही स्त्री फ़िल्मकारों की निरंतर सक्रियता के बावजूद नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत को अपना मुक़ाम हासिल करने के लिए साठ के दशक और नारीवाद की दूसरी लहर का इंतज़ार करना पड़ा। अकादमीय संस्थानों में पढ़ाये जाने वाले फ़िल्म-अध्ययन के पाठ्यक्रमों ने इसी दौर में नारीवादी आयामों को अपनाया। देखते ही देखते फ़िल्म-अध्ययन की यह प्रवृत्ति इतनी प्रभावशाली हो गयी कि उसे नज़रअंदाज़ करना नामुमकिन हो गया। नारीवाद की दूसरी लहर की विशेषता यह थी कि उसने स्त्रियों के आंदोलन को अधिकारवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करने की इजाज़त दी। स्त्रियाँ बौद्धिक जगत में पुरुषों के मुक़ाबले दोयम दर्जा दिये जाने पर आपत्ति दर्ज करने लगीं। उनकी आत्मपरकता के जिस प्रश्न पर पहले महज़ चर्चा होती थी, उसने सेक्सुअल क्रांति की हवाओं के साथ नारीवाद के केंद्र में स्थान बना लिया। ये रैडिकलिज़म के दिन थे, पर स्त्रियों ने राजनीतिक बहसों में भाग लेते हुए 'पुरुष' रैडिकलिज़म के साथ हाँ में हाँ मिलाने से इनकार कर दिया। संरचनावाद के ज़रिये एक सर्वांग फ़िल्म-सिद्धांत गढ़ने के प्रयासों के मुक़ाबले नारीवादी विद्वानों ने सिद्धांत-बहुलता का तर्क रखा। नारीवाद ने सत्तर के दशक में फ़िल्मों में जेंडर के निरूपण का प्रश्न उठाने से शुरुआत की। अमेरिका और ब्रिटेन में पहला नारीवादी फ़िल्मोत्सव आयोजित किया गया। स्त्रियों को फ़िल्म-निर्माण की तरफ़ आकर्षित करने के लिए उनके फ़िल्म-समूहों का गठन होने लगा। पहली नारीवादी फ़िल्म पत्रिका 'वूमन एंड फ़िल्म' का प्रकाशन शुरू हुआ। इन बौद्धिक गतिविधियों ने एक व्यापक प्रक्रिया को गति प्रदान की। फ़िल्म-अध्ययन संबंधी नारीवादी परिप्रेक्ष्यों का विकास हुआ जिनके संयोग से जो शास्त्र बना उसे नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत की संज्ञा दी जाती है। इसकी सैद्धांतिक यात्रा को तीन चरणों में बाँट कर देखा जा सकता है।

फ़िल्म-सिद्धांत पर नारीवाद का पहला प्रभाव यह पड़ा कि बहस केवल वर्ग के इर्द-गिर्द ही सीमित न रह कर जेंडर के आस-पास भी होने लगी। 1974 में प्रकाशित अमेरिकी पत्रकार मोली हस्केल की रचना 'फ़्रॉम रिवॉरेंस टु रेप : द ट्रीटमेंट ऑफ़ वुमन इन द मूवीज़' में दावा किया गया कि हॉलीवुड की फ़िल्मों या तो अक्षतयोनित स्त्री की पवित्रता को महिमामण्डित करती हैं या फिर छिनाल के रूप में उसकी भर्त्सना में लगी रहती हैं। हस्केल ने फ़िल्मी अतिनाटकीयता (मेलोड्रामा) को स्त्री-सिनेमा के रूप में देखने से इनकार



लौरा मलवी : 'विजुअल प्लेजर ऐंड नैरेटिव सिनेमा'

करते हुए खास तौर से स्त्री के प्रश्नों को सम्बोधित करने वाली फ़िल्मों की शिनाखा की। इन फ़िल्मों में स्त्री किरदार केंद्र में होता था और ये स्त्री दर्शक को ध्यान में रख कर बनायी जाती थीं। यह अंतर करने से स्त्री-फ़िल्मों की राजनीतिक और सौंदर्यमूलक सम्भावनाओं के द्वार खुल गये। हस्केल के साथ इस बौद्धिक उद्यम में मारजोरी रोज़ेन और जोआन मेलेन ने भी भागीदारी की। इन तीनों ने उस ज़माने की प्रचलित समाजशास्त्रीय और आनुभविक पद्धति अख़्तियार करते हुए तथ्यगत रूप से साबित किया कि फ़िल्मों में स्त्री का निरूपण उसे पवित्र या चरित्रहीन के रूप में द्विभाजित कर देता है।

स्त्री के नज़रिये से फ़िल्मों की व्याख्या का यह शुरुआती प्रयास विचारोत्तेजक साबित हुआ। युरोप के नारीवाद विद्वानों (क्लेयर जांस्टन, लौरा मलवी, पाम कुक और एनेट कुन) ने महसूस किया कि यह समाजशास्त्री-आनुभविक रवैया स्त्री की एक पूर्व-निश्चित सेक्सुअल अस्मिता के आधार पर खड़ा है। इसलिए इसमें दो प्रवृत्तियाँ पैदा हो गयी हैं। पहली, यह मान कर चलता है कि स्त्री में स्त्री होने के नाते फ़िल्म में अपने निरूपण का मूल्यांकन करने की एक सहजात क्षमता होती है। दूसरी, यह सभी स्त्री फ़िल्मकारों को नारीवादी मान कर चलता है। युरोपीय विद्वानों ने लक्षणवैज्ञानिक (सीमियोटिक) और संरचनावादी रवैया अपनाते हुए आलोचना की कि स्त्री के एक निश्चित सार में आस्था का परिणाम पितृसत्ता को पिछले दरवाजे से वैधता

प्रदान कर देना होगा। इसके कारण पाले की दूसरी तरफ़ पितृसत्तात्मक व्यवस्था की 'स्वाभाविकता' भी प्रमाणित हो जाएगी।

इस पहले चरण (1968-74) के दौरान फ़िल्मों के क्षेत्र में नारीवादियों की सक्रियता में उल्लेखनीय बढ़ोतरी हुई। एडिनबरा फ़िल्मोत्सव में नारीवादियों ने अपना कार्यक्रम अलग से आयोजित किया। 1973 में जांस्टन ने स्त्री-सिनेमा को प्रति-सिनेमा के रूप में परिभाषित करते हुए अपना विख्यात निबंध लिखा। कुल मिला कर इस बहस के तीन नतीजे निकले। व्यावसायिक सिनेमा द्वारा गढ़ी जाने वाली स्त्री और उसे दी जाने वाली जगह का सैद्धांतिक विश्लेषण किया जाना चाहिए, स्त्री फ़िल्मकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक निगाह डाली जानी चाहिए और फ़िल्म बनाने के नारीवादी आधारों की स्थापना की जानी चाहिए।

नारीवादी फ़िल्म थियरी का पहला चरण अगर समाजशास्त्रीय और आनुभविक उपागमों का परिणाम था, तो दूसरे चरण (1975-83) का विकास विखण्डनवाद, मनोविश्लेषण और पाठालोचन के उपागमों के इर्द-गिर्द हुआ।

जांस्टन ने अपने निबंध 'वुमंस सिनेमा एज़ काउंटर सिनेमा' में विस्तृत दलील दी कि स्त्री-सिनेमा को पितृसत्ता के विपक्ष में खड़ा हुआ प्रति-सिनेमा बनना है तो व्यावसायिक फ़िल्मों में स्त्री की बनावट को खोल कर देखना होगा : उसके बिम्ब को कैसे फ्रेम किया गया है, उसे कैसी पोशाक पहनायी गयी है, उस पर किस कोण से प्रकाश फेंका गया है, कथांकन में वह किस जगह स्थित है, पुरुष चरित्र किस तरह स्त्री को अपनी काम्य-वस्तु बना कर मातृत्वात्मकता (इडिपल ट्रेजेक्टरी) की तरफ़ जाता है, कैमरा-वर्क और लाइटिंग से किस तरह स्पष्ट होता है कि पुरुष चरित्र की स्वैरकल्पनाएँ स्त्री को अपना केंद्र बनाती हैं। अगर ये सब बातें निकल कर आ जाएँगी तो फ़िल्म के पाठ और उसकी विचारधारा को अलग-अलग किया जा सकेगा और स्त्री के सिनेमा को उभरने की गुंजाइश मिलेगी। खास बात यह थी कि जांस्टन फ़िल्म को केवल एक राजनीतिक औज़ार की निगाह से ही नहीं बल्कि मनोरंजन के माध्यम से भी देखना चाहती थीं। इन दोनों पहलुओं पर एक साथ विचार करना एक नयी बात थी। जांस्टन ने स्त्री की स्वैरकल्पना और कामना के प्रश्नों को भी सम्बोधित किया।

1975 में लौरा मलवी का बेहद अहम निबंध 'विजुअल प्लेजर ऐंड नैरेटिव सिनेमा' प्रकाशित हुआ जिसमें स्क्रीन और दर्शक के बीच के पाठीय संबंधों का संधान किया गया था। मलवी की इस रचना को फ़िल्म-सिद्धांत के मनोवैश्लेषिक आयाम का जनक माना जाता है। उन्होंने कहा कि दर्शक के 'मैस्क्युलिन प्रेक्षण' को स्वाभाविक प्रेक्षण नहीं माना जा



सकता। मलवी ने अपने इस विवादात्मक लेख 'प्लेज़र ऐंड नैरेटिव' में सेक्सुअल विभेदीकरण का मुद्दा उठाते हुए मातृमनोग्रंथि के प्रभाव की भिन्न व्याख्या की। उन्होंने कहा कि दर्शक की मैस्कुलिन स्थिति उसे नारी-देह के यौनीकरण और वस्तुकरण की तरफ़ ले जाती है। कैमरा स्त्री की दैहिक सुंदरता की तरफ़ ध्यान खींचता है। वह उसकी प्रस्तुति इस क्रूर सम्पूर्णता के साथ करता है कि पुरुष दर्शक को उसमें शिशन की अनुपस्थिति न सताती है, और न ही उससे बधियाकरण (कैस्ट्रेशन) का भय निकलता है। ऐसा करने के लिए कैमरा नारी-देह को शिशन की तरह तना हुआ दिखाता है। मलवी ने दावा किया कि पुरुष की दृश्य-रत्यात्मक निगाह (वॉयरिस्टिक गेज़) उसके अवचेतन द्वारा बधियाकरण के भय की अनुक्रिया है। स्त्री को नियंत्रित और दण्डित करने (यहाँ तक कि उसकी हत्या कर देने) की कामना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इसी निगाह में होती है।

मलवी ने प्रश्न उठाया कि इस पुरुष-केंद्रित सिनेमा में स्त्री-दर्शक किस तरह चाक्षुष आनंद प्राप्त करती है? इसके लिए वह या तो स्क्रीन पर मौजूद स्त्री किरदार की निष्क्रिय स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है या फिर उसे पुरुष की स्थिति ग्रहण करनी पड़ती है। मलवी के ये अवलोकन तरह-तरह की सम्भावनाओं से भरे हुए थे। मनोविश्लेषण और फ़िल्म-सिद्धांत के संयोग का परिणाम यह हुआ कि नारीवादियों को अस्मिता और स्मृति से संबंधित प्रश्न उठाने का मौक़ा मिल गया। उन्होंने स्त्रीत्व और पुरुषत्व की अवधारणाओं को जैविक आधार पर किये गये सरलीकृत द्विभाजन से निकाल कर एक सामाजिक गढ़त की तरह देखा। अर्थात् अगर स्त्री और पुरुष की सेक्सुअल भिन्नता पूर्व-निर्धारित नहीं थी, तो उसे विश्लेषित किया जा सकता था और उसकी सामाजिक गढ़त को बदला जा सकता था। नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत जैविकता पर जोर देने के बजाय भाषा पर जोर देता चला गया। फ़्रॉयड चूँकि शिशन-ईर्ष्या (या शिशन-अभाव) से परे जाने में असमर्थ रहे थे इसलिए वे स्त्री की मातृमनोग्रंथि का संतोषजनक सिद्धांतीकरण नहीं कर पाये। फ़्रॉयड के बजाय नारीवादियों ने जाक लकाँ द्वारा विश्लेषण में प्रतीकात्मकता यानी भाषा के महत्त्व पर दिये गये जोर से प्रेरणा ली और पितृसत्तात्मक भाषा की वि-संरचना के औज़ारों से सम्बोधित करना शुरू कर दिया। साइकोएनालिसिस और डिकंस्ट्रक्शन को जोड़ते ही नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत फ़िल्म के पाठ को खोलने की क्षमता से लैस हो गया। उसने मेलोड्रामा, स्त्री-केंद्रित फ़िल्मों, हॉरर फ़िल्मों, अपराध केंद्रित फ़िल्मों, थ्रिलर फ़िल्मों और काऊबॉय वाली वेस्टर्न फ़िल्मों की सींवनें खोलनी शुरू कर दीं।

नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत के तीसरे और जारी चरण में

मलवी द्वारा उठाये गये स्त्री-दर्शक के प्रश्न को फिर से संबोधित किया गया। नारीवादी विद्वानों ने दावा किया कि केवल पुरुष की ही मातृमनोग्रंथि नहीं होती बल्कि स्त्री की भी होती है, और शिशन-ईर्ष्या की अवधारणा एक पितृसत्तात्मक गढ़त है। उन्होंने फ़्रॉयड के इस दावे को चुनौती दी कि बच्चा अपनी माँ को पुरुष के शिशन-रहित संस्करण के रूप में देखता है। इस बौद्धिक उद्यम के पीछे कोशिश यह थी कि स्त्रीत्व को पुरुषत्व के संदर्भ-बिंदु की गिरुफ़्त से निकाला जाए। अस्सी के दशक के मध्य तक नारीवादी विद्वानों को लगने लगा कि फ़िल्मों के महज़ पाठालोचन से ही काम नहीं चलेगा, बल्कि उन्हें निर्माण और ग्राहकता के ऐतिहासिक व सामाजिक संदर्भों में भी देखना पड़ेगा।

इसी दौरान फ़्रांसीसी चिंतक मिशेल फ़ूको द्वारा प्रस्तुत सत्ता संबंधी आख्यान का नारीवादी चिंतन पर गम्भीर असर पड़ा। नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत ने तात्पर्यों की बहुलता पर ध्यान दिया। उसने पाया कि किसी एक फ़िल्म निर्माण की प्रक्रिया में एक से ज़्यादा निर्देशक, पटकथा लेखक और अन्य क्षेत्रों के लोग जुड़े होते हैं। इन सब की कोशिशों से जो यथार्थ बनता है उसके पीछे फ़िल्म उद्योग के भीतरी सत्ता-संबंधों और प्रतिरोधों की भूमिका होती है। दर्शकों को भी एक विचारधारात्मक गढ़त के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दर्शकों को स्त्री और पुरुष के सहज द्विभाजन के तहत भी नहीं देखा जा सकता। आयु, जेंडर, नस्ल, वर्ग और सेक्सुअलिटी के मुताबिक दर्शक की ग्राहकता बदलती रहती है। स्क्रीन और दर्शक के बीच का रिश्ता बदलता रहता है।

नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत का विकास जारी है। अश्वेत नारीवादियों के हस्तक्षेप से नारीवाद पर श्वेत और मध्यवर्गीय रवैये के प्रभुत्व की तरफ़ निगाह गयी है। उस पर संस्कृति-अध्ययन के तहत हुई लोकप्रिय संस्कृति की जाँच-पड़ताल का भी प्रभाव पड़ा है। लातीनी अमेरिकी और एशियाई नारीवादियों ने भी सैद्धांतिक लेखन शुरू कर दिया है।

**देखें :** अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोदरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्राइवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

## संदर्भ

1. एम.ए. दोआन, पी. मेलेनकैम्प और एल. विलियम्स (सम्पा.) (1984), *रि-विज़न : एसेज़ इन फ़ेमिनिस्ट फ़िल्म क्रिटिसिज़म*, द अमेरिकन फ़िल्म इंस्टीट्यूट/युनिवर्सिटी पब्लिकेशंस ऑफ़ अमेरिका, फ़्रेडरिक, मैरीलैण्ड.
2. टी. डि लॉरेटिस (1989), *टेक्नालॉजीज़ ऑफ़ जेंडर : एसेज़ ऑन थियरी*, फ़िल्म एंड फ़िक्शन, मैकमिलन, लंदन.
3. सी. जॉस्टन, *नोट्स ऑन वुमंस सिनेमा*, स्क्रीन पेम्पलेट, सोसाइटी फ़ॉर एजुकेशन इन फ़िल्म एंड टेलिविज़न, लंदन
4. ई.ए. कप्लान (सम्पा.) (1990), *साइकोएनालैसिस एंड सिनेमा*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क और लंदन.
5. ए. कुन (1982), *वुमंस पिकचर्स : फ़ेमिनिज़म एंड सिनेमा*, रॉटलेज एंड कोगन पॉल, लंदन और बोस्टन.
6. लौरा मलवी (1975), 'विज़नल प्लेज़र एंड नैरेटिव सिनेमा', *स्क्रीन*, खण्ड 16, अंक 3.

— अभय कुमार दुबे

## नारीवाद और अर्थशास्त्र

(Feminism and Economics)

पिछले पचास साल में समाज-विज्ञान के लगभग सभी अनुशासनों को नारीवाद ने गहरायी से प्रभावित किया है। लेकिन यह अपेक्षाकृत सुरक्षित दावा अर्थशास्त्र पर सबसे कम लागू होता है। इस अनुशासन में प्रमुख स्त्री अर्थशास्त्री तो मिल जाते हैं (जैसे जोआन रोबिंसन का कींसियन अर्थशास्त्र में उल्लेखनीय योगदान है। भारत में ईशर जज अहलूवालिया और जयति घोष अर्थशास्त्र की प्रमुख हस्ताक्षर हैं), पर नारीवादी अर्थशास्त्री तलाश करने से भी नहीं मिलते। अकादमिक सर्वेक्षण करने पर एक तथ्य यह भी सामने आया है कि छात्राएँ एक विषय के रूप में अर्थशास्त्र को दूसरे विषयों के मुकाबले कम पसंद करती हैं। स्त्रियों की कम मौजूदगी और कुल मिला कर अर्थशास्त्र और नारीवाद के बीच कमजोर अन्योन्यक्रिया के बावजूद सर्वेक्षण के माध्यम से ही एक दूसरा उल्लेखनीय तथ्य यह निकला है कि इस अनुशासन के तीन क्षेत्रों पर नारीवादी आग्रहों का कुछ-कुछ असर दिखाई पड़ा है। ये तीन क्षेत्र हैं : श्रम बाज़ार का विश्लेषण, घर-परिवार का आर्थिक व्यवहार, और स्वास्थ्य-शिक्षा-कल्याण से संबंधित विश्लेषण। अर्थशास्त्री मानते हैं कि इन तीनों क्षेत्रों में ही स्त्रियाँ एक आर्थिक एजेंट के रूप में सबसे ज्यादा सक्रिय रहती हैं। सम्भावना यही है कि स्त्री-अर्थशास्त्रियों की संख्या बढ़ेगी तो ज्यादातर इन्हीं क्षेत्रों में बढ़ेगी। नब्बे के दशक में हुए एक अन्य अकादमिक सर्वेक्षण

से यह भी जाहिर होता है कि अर्थशास्त्र से संबंधित अकादमिक पत्रिकाओं को स्त्रियों से संबंधित प्रमुख विषय-वस्तुओं में बहुत कम दिलचस्पी है। 1991 में *जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक लिटरेचर* में छपे 2,225 लेखों में केवल 4.4 फ्रीसदी लेख इन विषयों से संबंधित थे। दूसरे, अन्य लेखों में इनसे संबंधित मुद्दों को बहुत कम स्पर्श किया गया था।

आधुनिक विश्व में व्यक्ति की हैसियत काफ़ी-कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि वह बाज़ार में अपना श्रम किस दर पर बेच सकता है। अधिकतर आर्थिक गतिविधियाँ इसी बुनियादी प्रक्रिया पर निर्भर करती हैं। इस लिहाज़ से सारी दुनिया में स्त्रियाँ अपना श्रम बेचने के मामले में पुरुषों के मुकाबले कहीं कम कामयाब हैं। पहले तो उनके बाज़ार में आने के रास्ते में ही रुकावटें होती हैं, और अगर उन्हें बाज़ार में आने का मौक़ा मिलता भी है तो उन्हें अपने श्रम का वह मूल्य नहीं मिलता जो उनके मुकाबले कहीं कम योग्य पुरुषों को स्वाभाविक रूप से मिल जाता है। भारत जैसे देशों में तो छोड़ ही दीजिये, अमेरिका तक में स्थिति यह है कि कॉलेज से ग्रेजुएट के रूप में पढ़ कर निकली युवती को एक पूर्णकालिक नौकरी में औसतन कम वेतन मिलता है, जबकि हाई स्कूल से पहले ही पढ़ाई छोड़ देने वाले युवक को औसतन ज्यादा तनख़्वाह मिल जाती है। अर्थशास्त्री सहमत हैं कि स्त्री और पुरुष के बीच यह भेदभाव होता है और इसे नहीं होना चाहिए। लेकिन, जैसे ही इन तथ्यों की व्याख्या का सवाल आता है, मुख्यधार के अर्थशास्त्रियों और नारीवादियों के बीच मतभेद उभर आते हैं।

अर्थशास्त्र और नारीवाद के बीच इस मतभेद का सबसे बड़ा कारण यह है कि समाज-विज्ञान का यह अनुशासन अभी तक उस प्रत्यक्षवादी ज्ञान-परम्परा पर सबसे अधिक दृढ़ता से क़ायम है जिसके तहत समाज से संबंधित चिंतन को प्राकृतिक विज्ञानों के आइने में देखा जाता है। अर्थशास्त्र का दावा है कि जेंडर संबंधी भिन्नता का उसके सिद्धांतों और विश्लेषणों पर ख़ास असर नहीं पड़ता, क्योंकि वह तो समाज और प्रकृति से संबंधित वस्तुनिष्ठ और सार्वभौम नियमों पर आधारित है। बुनियादी रूप से आर्थिक विज्ञान ने खुद को देकार्त द्वारा प्रतिपादित द्वैतवादी मॉडल पर आधारित कर रखा है जिसने आगे चल कर पदानुक्रमवादी रूप ग्रहण कर लिया। सत्रहवीं सदी में देकार्त ने दुनिया को दो तरह के पदार्थों में बाँट कर व्याख्यायित किया था। एक पदार्थ था सोचने वाला (रेस कोजिंटेंस) जिसके साथ बुद्धि, मस्तिष्क, चेतना, वस्तुनिष्ठता, सार्वभौमिकता और तर्क को जोड़ा जाता है। दूसरा पदार्थ (रेस एक्सटेंसा) यंत्रवत निर्देशित होने वाला था जिसके साथ आत्मनिष्ठता, मनोभावों और अंतर्ज्ञान को जोड़ा जाता है। आगे चल कर सोचने वाले पदार्थ को पुरुष जेंडर के साथ जोड़ कर बेहतर क्रार दिया गया, और रेस एक्सटेंसा



जूली ए. नेल्सन : 'फ़ेमिनिज़म ऐंड इकॉनॉमिक्स',

को स्त्री-जेंडर के साथ जोड़ कर कमतर बताया गया। इस तरह से एक पदानुक्रम स्थापित हो गया। जिन नारीवादी विद्वानों ने अर्थशास्त्र की इस आत्म-छवि को प्रश्नांकित किया है उनमें जूली ए. नेल्सन का नाम प्रमुख है।

जूली नेल्सन एक तरह की नियोक्लासिकल अर्थशास्त्री हैं। उनकी कोशिश है कि कि जेंडर के आयाम पर जोर देते हुए एक अनुशासन के रूप में अर्थशास्त्र को पहले से बेहतर किया जाए। अपने लेख 'फ़ेमिनिज़म और इकॉनॉमिक्स' में वे दावा करती हैं कि वैयक्तिक सीमाएँ, रुचियाँ और अवधारणात्मक पूर्वग्रह ने अर्थशास्त्र की संस्कृति को प्रभावित किया है। इस अनुशासन में पहले से ही विषय, योजना (मॉडल), विधि और शिक्षाशास्त्र के बहुत से मूल्य-आधारित और पक्षपाती संदर्भों को, विशेष रूप से पुरुष-परिप्रेक्ष्य में, मूल्य-तटस्थ और निष्पक्ष माना लिया गया है। इस संदर्भ में पुरुष अर्थशास्त्रियों ने पारम्परिक रूप से केंद्रीय भूमिका ग्रहण कर रखी है। वे निर्भरता और संलग्नता पर स्वायत्तता और पृथकता को प्राथमिकता देते हैं जिससे मैस्कुलिन पैटर्न ही प्रतिबिम्बित होता है।

नेल्सन ने जेंडर-वेल्यू-कम्पास विकसित किया है जिसके अनुसार वे अर्थशास्त्र के अनुशासन को कठोर (स्ट्रॉंग-हार्ड) और कोमल (वीक-सॉफ्ट) हिस्सों में बाँट कर देखती हैं। कठोर हिस्से वे हैं जिनमें इकॉनॉमेट्रिक्स के ज़रिये गणितीय विधियाँ अपनायी जाती हैं। कोमल हिस्सों की प्रकृति समाजशास्त्रीय क्रिस्म की है। नेल्सन अर्थशास्त्र पर छाये हुए इस विभाजन को खारिज नहीं करतीं, बल्कि यह

दिखाती हैं कि तरह कठोर सैद्धांतिक रूप से अनम्य और नकारात्मक, जबकि कोमल लचीला और सकारात्मक हो सकता है। जूली नेल्सन का दावा है कि कठोर को कोमल पर प्राथमिकता दे कर अर्थशास्त्र ने खुद को कम उपयोगी बना लिया है। वे यह नहीं मानतीं कि नारीवादी अर्थशास्त्र केवल स्त्री-अर्थशास्त्रियों द्वारा ही अपनाया जाना चाहिए या उसका संबंध केवल इस अनुशासन के कोमल आयामों से रहेगा।

नेल्सन के इस महत्वपूर्ण अवदान के अलावा नारीवाद और अर्थशास्त्र की अन्योन्यक्रिया के अन्य पहलुओं पर भी एक नज़र डाली जा सकती है। इन्हें तीन प्रमुख प्रवृत्तियों के रूप में रेखांकित किया जा सकता है। पहला है फ़ेमिनिस्ट अर्थशास्त्रियों के बीच पाया जाने वाला कंस्ट्रक्शनलिस्ट रुझान। इन विदुषियों की कोशिश रहती है कि आर्थिक सिद्धांतों पर छाये हुए पुरुष वर्चस्व को विखण्डित किया जाए। पद्धतियों और स्थापनाओं का विश्लेषण करके दिखाया जाए कि अगर जेंडर भेदभाव न होता तो किस तरह भिन्न नतीजे निकाले जा सकते थे। दूसरा रवैया एफ़र्मेटिव एक्शन आधारित है। यह मानता है कि नारीवादी अर्थशास्त्रियों को अर्थशास्त्र के अनुशासन की चिंता में ज्यादा दुबेले होने की ज़रूरत नहीं है। बस उन्हें तो स्त्रियों की स्थिति सुधारने के अपने एजेंडे पर क़ायम रहना चाहिए। उनकी कोशिश होनी चाहिए कि किस तरह इस अनुशासन में स्त्रियों की संख्या बढ़े, और उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व मिल सके। तीसरा रुझान फ़ेमिनिस्ट इम्पिरिसिस्टों का है। ये लोग मान कर चलते हैं कि अर्थशास्त्र के उसूल सिद्धांततः जेंडर-तटस्थता पर आधारित होते हैं और उनकी वस्तुनिष्ठता प्रमाणित है। स्त्रियों और पुरुषों के बीच जो विषमताएँ हैं उनकी असली वजह इन सिद्धांतों और मॉडलों में निहित न हो कर अर्थशास्त्र की अंतर्दृष्टियों पर किये जाने वाले व्यावहारिक अमल में निहित है।

**देखें :** अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फिल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्राइवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

### संदर्भ

1. जूली ए. नेल्सन (1995), 'फ़ेमिनिज़म ऐंड इकॉनॉमिक्स', द जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक पर्सपेक्टिवज़, खण्ड 9, अंक 2.

2. विल्फ्रेड डॉल्फ़समा और हेला होप (2003), 'ऑन फ़ेमिनिस्ट इकॉनॉमिक्स', *फ़ेमिनिस्ट रिव्यू*, अंक 75, विषय : आइडेंटिटीज़.
3. बारबरा आर. बर्गमैन (1983), 'फ़ेमिनिज़म ऐंड इकॉनॉमिक्स', *एकैडेमी*, खण्ड 69, अंक 5.
4. रैंडी एल्बैल्डा (1995), 'द इम्पैक्ट ऑफ़ फ़ेमिनिज़म इन इकॉनॉमिक्स : बियॉन्ड द पेल ? अ डिस्कशन ऐंड सर्वे रिज़ल्ट्स', *द जर्नल ऑफ़ इकॉनॉमिक एजुकेशन*, खण्ड 26, अंक 3.

### — श्रुति

## नारीवादी इतिहास-लेखन

(Feminist Historiography)

स्त्री को केंद्र बना कर इतिहास-लेखन का आग्रह साठ के दशक के आख़िरी सालों में उभरा। नारीवादी इतिहास-लेखन के अमेरिकी, युरोपीय और ब्रिटिश प्रसंगों की शुरुआत भी इसी दौरान हुई। शुरू में इस इतिहास का मुख्य रूप सामाजिक इतिहास का था। चूँकि इतिहास-लेखन का अनाल स्कूल जनसंख्यामूलक आग्रहों को केंद्र बना रहा था, इसलिए उसके इतिहासकारों को परिवार की संस्था के अतीत का अन्वेषण विशेष रूप से करना पड़ा। इस संयोग ने नारीवादी इतिहास-लेखन की बुनियाद में पहला पत्थर लगाया। सत्तर के दशक में *द फ़ेमिली, सेक्स ऐंड मैरिज इन अर्ली मॉडर्न इंग्लैण्ड* और *द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न फ़ेमिली* जैसी कृतियाँ प्रकाश में आयीं। इसी दौर में *रिलीजन ऐंड द डिक्लाइन ऑफ़ मैजिक* जैसा क्लासिक लिखा गया जिसमें स्त्रियों को डायन समझने से जुड़े जटिल प्रश्नों पर रोशनी पड़ी। दरअसल, साठ के दशक से ही युरोप के मध्यकालीन इतिहास की भी स्त्री की निगाह से पड़ताल करने की शुरुआत हुई। कुल मिला कर नारीवाद की दूसरी लहर के एक बेहतरीन नतीजे के रूप में नारीवादी इतिहास उभरा। अमेरिका और ब्रिटेन की महिला-इतिहासकारों ने तय किया कि वे स्त्रियों को उनका अतीत प्रदान करेंगी। सिमोन द बोउवार कह ही चुकी थीं कि जिस व्यक्ति के पास इतिहास नहीं होता, उसके पास गरिमा भी नहीं होती। उनसे पहले सदी के शुरुआती दशक वर्जीनिया वुल्फ़ की इस माँग से प्रतिध्वनित हो चुके थे कि इतिहास को स्त्रियों की नज़र से लिखा जाना ज़रूरी है।

स्त्री-इतिहास की परियोजना ने पहले से स्थापित प्रस्थापनाओं के मुकाबले नये सवाल खड़े करने शुरू किये। जोआन गैडल केली ने अपनी बहुचर्चित कृति में पूछा कि रिनेसाँ का और उसके बाद ईसाई धर्म-सुधारों और युरोपीय ज्ञानोदय का स्त्री को क्या लाभ हुआ? फ्रांसीसी क्रांति जैसी

युग-प्रवर्तक घटना की स्त्री की निगाह से ज़बरदस्त जाँच-पड़ताल की गयी। अस्सी के दशक तक आते-आते स्त्री के इतिहास ने जेंडर-इतिहास का रूप ले लिया। इतिहासकार जुलियट मिचेल ने पूरे इतिहास को चार भागों (उत्पादन, प्रजनन, समाजीकरण और सेक्सुअलिटी) में बाँटने का आह्वान किया। उनके अनुसार जब तक कि इन चार श्रेणियों को अलग-अलग करके उनका सूक्ष्म विश्लेषण नहीं किया जाएगा तब तक इन श्रेणियों की तह में छिपे हुए जेंडर-भेदभाव का पता नहीं लगेगा और इतिहास की ज़मीन पर स्त्रियों की स्थिति की जानकारी नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार ज़ील मैथाइस ने भी इतिहास की पड़ताल करने के लिए जैविक, मनोवैज्ञानिक, प्रणालीगत और सामाजिक कसौटियों की सिफ़ारिश की है।

स्त्री-आंदोलनों का इस इतिहास-लेखन से गहरा संबंध है। नारीवादी इतिहासकारों ने विभिन्न ऐतिहासिक चरणों में स्त्री के अनुभवों का संकलन करते हुए विभिन्न अवधियों में विभिन्न वर्गों की महिलाओं की शैक्षिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में आये बदलाव को भी रेखांकित किया। *मेकिंग ऑफ़ पेट्रियाकी* जैसे क्लासिक की रचना करने वाली गर्डा लर्नर ने नारीवादी इतिहास-लेखन को स्त्री की मुक्ति के लिए अनिवार्य शर्त करार दिया। उन्होंने कहा कि बीस साल तक इतिहास पर शोध करने, पढ़ाने और लेखन करने के बाद वे इस नतीजे पर पहुँची हैं कि स्त्री का इतिहास उसका जीवन बदल देता है। अतीत की स्त्रियों के अनुभव के बारे में थोड़ा-बहुत जानने से ही औरतों पर गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। इतिहासकार मैरी बियर्ड ने भी दावा किया कि स्त्रियाँ इतिहास में निष्क्रिय नहीं रही हैं।

दिलचस्प बात यह है कि इतिहास भले ही स्त्री-केंद्रित न रहा हो, पर इतिहास में स्त्री की स्थिति का अपने-अपने पक्ष में दोहन करने में सभी तरह के इतिहासकार एक-दूसरे से होड़ करते रहे हैं। भारतीय इतिहास-लेखन इसका सबसे बड़ा सबूत है। उपनिवेशवाद के दौरान ब्रिटिश इतिहासकार यह साबित करने पर तुले हुए थे कि गोरी नस्ल अपनी स्त्रियों के साथ पशुवत व्यवहार करने वाले भारतवासियों को सभ्य बनाने आयी है। दूसरी तरफ़ भारतीय इतिहासकारों ने उनके वक्तव्यों को ग़लत साबित करने की कोशिश में प्राचीन भारत में स्त्री के ऊँचे दर्जे को रेखांकित करने की परियोजना चलायी।

जहाँ तक स्त्रियों को इतिहास में पेश करने या शामिल करने का सवाल है, भारत में तीस के दशक से लेकर पचास के दशक तक कुछ इतिहासकारों ने यह बीड़ा उठाया। लेकिन उनके प्रयास विश्लेषणात्मक गहराई के अभाव में केवल सूचनात्मक हो कर रह गये। इसके बावजूद उनके लेखन से जो बातें उभर कर आयीं, उन्होंने आगे चल कर नारीवादी



गर्डा लर्नर (मेकिंग ऑफ़ पेट्रियार्की)

इतिहासकारों के लिए अहम भूमिका निभायी। उन्होंने वैदिक युग एवं वैदिक साहित्य के प्रति इतिहासकारों के प्रशंसात्मक रवैये को प्रशंसांकित किया। नारीवादी इतिहासकारों ने इन स्रोतों की वैधता पर ही संदेह व्यक्त किया।

भारत में नारीवादी इतिहास-लेखन की स्थापना करने में उमा चक्रवर्ती, कुमकुम राय और कुमकुम संगारी का विशेष योगदान रहा। इन विदुषियों ने ए.एस. अल्तेकर द्वारा रचित *द पोज़ीशन ऑफ़ वुमॅन इन हिंदू सिविलाइज़ेशन* और शकुंतला राव शास्त्री द्वारा लिखित *वुमॅन इन एंशिप्ट इण्डिया* जैसी रचनाओं के मुक़ाम से इतिहास-लेखन का काम आगे बढ़ाया। विशेषकर भारत के अतीत के संदर्भ में बनाये गये मिथक तोड़ने का काम भी इन्हीं इतिहासकारों ने किया। स्त्री-इतिहासकारों ने *रि-स्क्रिप्टिंग द पास्ट इंसर्टिंग वुमॅन इन्टु इण्डियन हिस्ट्री* जैसी रचनाओं के ज़रिये यह स्पष्ट किया कि जब तक सामाजिक उत्पादन और प्रजनन के मुद्दों के आधार पर प्राचीन, मध्ययुगीन और आधुनिक कालावधियों की जाँच नहीं की जाएगी तब तक इतिहास पूरी होगा ही नहीं। उमा चक्रवर्ती ने अपने मशहूर आलेख *व्हाटएवर हैपंड टु वैदिक दासी : ओरिएंटलिज़म, नैशनलिज़म ऐंड अ स्क्रिप्ट फ़ॉर द पास्ट* में वैदिक युग की स्त्रियों के महिमामण्डन पर ज़बरदस्त प्रहार किया। उनका कहना है कि मैत्रेयी और गागी सभी स्त्रियों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकतीं। वे तो एक ख़ास

आर्य समाज की नुमाइंदगी करती हैं जो समाज का वर्चस्वशाली हिस्सा था। मीरा कोसम्बी और उनके बाद उमा चक्रवर्ती ने पण्डिता रमाबाई जैसी हस्ती के जीवन पर प्रकाश डालते हुए भारतीय पितृसत्ता के औपनिवेशिक और ब्राह्मणवादी पहलुओं को रेखांकित किया। वी. गीता ने दक्षिण भारत में चले आत्मसम्मान आंदोलन में निहित स्त्री-मुक्ति की सम्भावनाओं का संधान किया।

नारीवाद की दूसरी लहर के बाद स्त्री-इतिहासकारों के प्रयासों ने लिखे जा चुके इतिहास की समीक्षा करके उसकी विसंगतियाँ दिखाई, बल्कि इतिहास-लेखन में नये योगदान किये। उपनिवेशवाद के दौरान थोड़ी-बहुत शिक्षा प्राप्त कर चुकी स्त्रियों ने अपने जीवनानुभव छोटी-छोटी कहानियों, संस्मरणों और आत्मकथ्यों के रूप में लिखे। इन लेखिकाओं में ताराबाई शिंदे, रुकैया सखावत हुसैन, आनंदीबाई जोशी, सरलादेवी चौधरानी, रससुंदरी देवी, सावित्रीबाई फुले, विनोदिनी दासी जैसे नाम शामिल हैं। मुख्यधारा के इतिहास लेखन में इन स्त्रियों का कहीं कोई ज़िक्र नहीं आता। लेकिन आज के नारीवादी आंदोलन के लिए ये स्त्रियाँ प्रेरणा स्रोत बन चुकी हैं। नारीवादी इतिहासकारों ने न केवल उन्हें तलाशा, बल्कि साबित किया कि इतिहास में न केवल महिलाएँ मौजूद थीं, बल्कि वे इतिहास के निर्माण में भी भूमिका निभा रही थीं।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, नैसी शोर्दरौ, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

### संदर्भ

1. टी. लैकर (1990), *मेकिंग सेक्स : बॉडी ऐंड जेंडर फ़ॉर्म ग्रीक्स टु फ़्रॉयड*, लंदन.
2. जे.डब्ल्यू. स्कॉट (1988), *जेंडर ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ हिस्ट्री*, न्यूयॉर्क.
3. बी. टेलर (1983), *ईव ऐंड द न्यू यरूशालम : सोशलिज़म ऐंड फ़ेमिनिज़म इन द नाईटीथ सेंचुरी*, लंदन.
4. कुमकुम संगारी और सुदेश वैद (सम्पा.) (1989), *रिक्वास्टिंग वुमॅन : एसेज़ इन कोलोनिअल हिस्ट्री*, काली फ़ॉर वुमॅन, नयी दिल्ली.

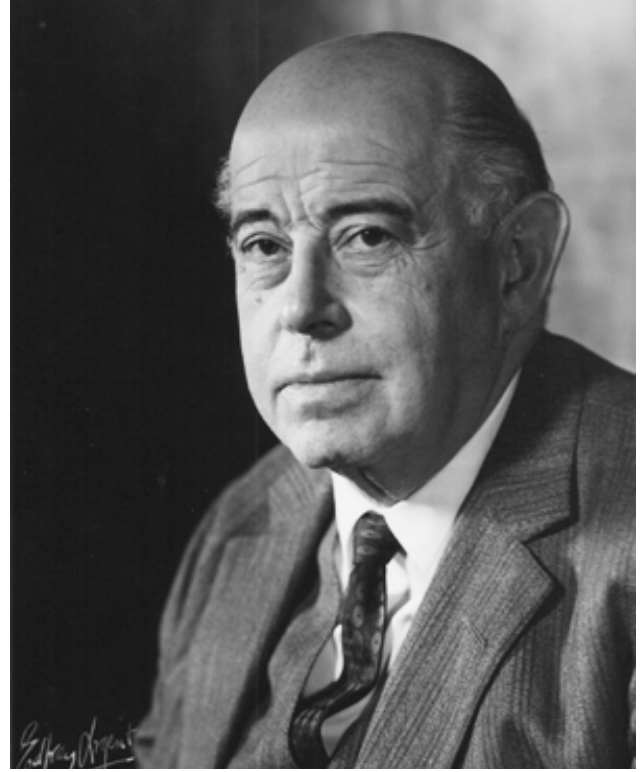
## निकोलस काल्डोर

(Nicholas Kaldor)

उत्तर-कींसियन अर्थशास्त्र के मुख्य प्रणेताओं में से एक निकोलस काल्डोर (1908-1986) आर्थिक प्रोत्साहन देने वाली नीतियाँ बनाने के जरिये बाज़ार प्रणाली को सुधारने में विश्वास रखते थे। मसलन, अगर अर्थव्यवस्था का फ़ायदा बचत करने में है और खर्च करने से नुक़सान हो रहा है तो वे खर्च पर टैक्स लगा कर उस गतिविधि को दण्डित करना पसंद करते। और, अगर कारख़ाना उत्पादन लाभकारी है और सेवा क्षेत्र की गतिविधियाँ आर्थिक वृद्धि को धीमा कर रही हैं तो काल्डोर के मुताबिक़ सरकार को मैन्युफ़ेक्चरिंग को टैक्स रियायतें देनी चाहिए और सेवा क्षेत्र पर ज़्यादा कर लगाने चाहिए। वे चाहते थे कि कर प्रणाली कुछ इस तरह से बनायी जाए कि उससे अर्थव्यवस्था का प्रदर्शन सुधर सके। काल्डोर ने मुद्रास्फीति नियंत्रित करने के लिए कड़ी मुद्रा नीति अपनाने का विरोध किया। बजाय इसके वे वेतन और दाम के उस समीकरण को नियंत्रित करने के पक्ष में थे जिसके कारण मुद्रास्फीति का दबाव बनता है। वे इस तजवीज़ से सहमत नहीं थे कि अर्थव्यवस्थाएँ तभी बेहतर काम करती हैं जब सरकारें अपना हाथ उनसे दूर रखें। उन्होंने सरकारों को सक्रिय हस्तक्षेप करने की सलाह दी ताकि बढ़ती हुई महँगाई पर लगाम कसी जा सके।

निकोलस काल्डोर का जन्म बुडापेस्ट, हंगरी में हुआ था। उनके पिता फ़ौजदारी वकील थे, और माँ एक धनी व्यापारी परिवार की थीं। उनका लालन-पालन खुशहाली में हुआ और उन्होंने बेहतरीन शिक्षा प्राप्त की। पिता उन्हें क़ानून पढ़ाना चाहते थे, पर काल्डोर ने अर्थशास्त्र का अध्ययन पसंद किया। काल्डोर को शुरू से ही राजनीति में भी दिलचस्पी थी। 1925 में वे बर्लिन विश्वविद्यालय पढ़ने गये और दो साल बाद लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में फ्रेड्रिख हायक के निर्देशन में अध्ययन शुरू किया। उन्होंने केम्ब्रिज के किंग्स कॉलेज में अध्यापन किया जो कींस के अनुयायियों का गढ़ था। शुरू में उनका सरोकार आर्थिक सिद्धांत था, पर बाद में अपना ज़्यादा समय नीतिगत मसलों पर खर्च करने लगे। काल्डोर ने ब्रिटेन समेत कई देशों की सरकारों के आर्थिक सलाहकार की भूमिका निभायी।

1951 में लाभ और आमदनी पर करारोपण के शाही कमीशन में काम करते हुए काल्डोर ने ब्रिटिश कर प्रणाली की जाँच की, लेकिन इस प्रक्रिया में वे कमीशन के भीतर हुई बहस के दौरान अल्पमत में आ गये। उन्होंने एक लम्बी अल्पमत-रपट लिखी जो बाद में एक पुस्तक बन गयी।



निकोलस काल्डोर (1908-1986)

काल्डोर का मुख्य सुझाव था कि आमदनी पर कर लगाने के बजाय खर्च पर लगाया जाना चाहिए। पचास के दशक में उन्होंने न केवल विकसित देशों को यह सुझाव दिया, बल्कि भारत, श्रीलंका, गुयाना, तुर्की, ईरान, वेनेज़ुएला और घाना जैसे विकासशील देशों के लिए भी यही सलाह दी। काल्डोर का विचार था कि आमदनी के जरिये यह ठीक-ठीक पता नहीं लगाया जा सकता कि व्यक्ति की टैक्स अदायगी की क्षमता क्या है। उन्होंने उदाहरण दिया कि पूँजीगत लाभों पर केवल तभी टैक्स लगता है जब परिसम्पत्तियाँ बिक जाती हैं। वरना उनसे होने वाले लाभ टैक्सों से बचे रहते हैं और आय कर प्रणाली मालदार लोगों पर टैक्स लगाने में नाकाम रहती है। बहुत से मालदार लोग अपनी सम्पत्ति विरासत में प्राप्त करते हैं और कोई उल्लेखनीय अतिरिक्त आमदनी नहीं करते। आमदनी पर कर लगाने की नीति के कारण ये लोग करारोपण से बच निकलते हैं।

काल्डोर ने आय कर में गम्भीर आर्थिक ख़ामियाँ भी खोज निकालीं। चूँकि ब्याज और लाभ पर भी टैक्स लगता है इसलिए आय कर बचत और निवेश को हतोत्साहित करने वाला साबित होता है। मुनाफ़ा हासिल करने के लिए कामयाबी से जोखिम लेने वाली गतिविधियों से होने वाली आमदनी पर करों की ऊँची दर आरोपित की जाती है इसलिए अर्थव्यवस्था में जोखिम लेने की प्रवृत्ति हतोत्साहित होती है। इन तमाम कारणों से काल्डोर का सुझाव था कि आय कर को

व्यय कर में बदल देना चाहिए। व्यय अथवा उपभोग कर को एक ऐसे आय कर के रूप में देखा जाना चाहिए जिसके मुताबिक सभी तरह की नयी बचत कर योग्य आमदनी में से घटा दी गयी हों। अगर कोई परिवार अपनी बचत या सम्पत्ति को चालू खर्च में इस्तेमाल करता है तो उस वर्ष उसकी नकारात्मक बचत पर टैक्स लगाना चाहिए। सालाना बचत को कर मुक्त करने के कारण कर-राजस्व में आने वाली कमी को दुरुस्त करने के लिए काल्डोर को टैक्स की दर बढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं थी। वे जितना ज्यादा उपभोग हो, उतना ही ऊँचा टैक्स लगाने के तरफ़दार थे। उन्होंने सुझाव दिया कि उपभोग पर सौ से लेकर तीन सौ फ़ीसदी तक टैक्स लगाया जा सकता है। इससे बचत करने की प्रेरणा मिलेगी और नतीजे के तौर पर प्रौद्योगिकीय सुधार, उत्पादकता वृद्धि, ज्यादा आमदनी एवं बचत व निवेश में उछाल की उपलब्धि होगी।

दिलचस्प बात यह है कि काल्डोर ब्रिटिश लेबर सरकार समेत कई विकासशील देशों की सरकारों के आर्थिक सलाहकार रहे, पर बहुत कम देशों ने उनकी व्यय कर संबंधी सिफ़ारिश मानी। ब्रिटेन ने तो कभी व्यय कर अपनाया ही नहीं। केवल भारत और श्रीलंका ने यह प्रयोग करके देखा। पर इसके खिलाफ़ उभरे जन-असंतोष के कारण जल्दी ही व्यय कर की नीति त्याग देनी पड़ी। इस नाकामी के बाद काल्डोर ने कर नीति के जरिये कुछ निश्चित उद्योगों या सेक्टरों को प्रोत्साहित करने पर जोर देना शुरू किया। उन्होंने केस्ने द्वारा उत्पादक और अनुत्पादक क्षेत्रों के बीच फ़र्क करने के विचार को अपनाया।

विकसित देशों में आर्थिक वृद्धि के अनुभवों की जाँच करते हुए काल्डोर ने पाया कि पचास और साठ के दशक के बीच बारह औद्योगिक देशों की आर्थिक वृद्धि कारखाना उत्पादन में हुई बढ़त पर निर्भर रही है। उन्होंने यह भी पाया कि जब फ़र्में ज्यादा माल पैदा करती हैं तो हर मज़दूर अधिक उत्पादक हो जाता है। सुधरी हुई उत्पादकता घरेलू अर्थव्यवस्था का विस्तार करती है और वैश्विक अर्थव्यवस्था में स्पष्टा बेहतर होती है। इसी तरह जब लोग कारखानों में बनी अधिक चीज़ें चाहते हैं तो फ़र्में भी अपने उत्पादन का विस्तार करती हैं। इससे बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है यानी इकॉनॉमी ऑफ़ स्केल पैदा होती है और लागत गिरती है।

काल्डोर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कारखाना उत्पादन में बढ़ोतरी होने से दूसरे क्षेत्रों की उत्पादकता में भी वृद्धि होती है। कृषि क्षेत्र से निकलने वाली अतिरिक्त श्रम-शक्ति काम में आती रहती है और इस क्षेत्र की उत्पादकता और जीवन-स्तर में भी बढ़ोतरी होती है। उद्योगीकरण पूरी अर्थव्यवस्था में प्रौद्योगिकी उन्नयन की दर को भी बढ़ाता है। अपने इन तमाम अवलोकनों से काल्डोर ने नतीजा निकाला कि सरकार को ऐसी नीतियाँ बनानी चाहिए जिनसे घरेलू

कारखाना उत्पादन के क्षेत्र को प्रोत्साहन मिले और यह क्षेत्र अर्थव्यवस्था की चालक शक्ति बन जाए। उन्होंने सुझाव दिया कि सरकार इसके लिए कारखाना उत्पादित वस्तुओं की सीधी ख़रीद भी कर सकती है या टैक्स रियायतें दे कर इस क्षेत्र की मदद कर सकती है। उनका सुझाव था कि कौन सी फ़र्म कितने अधिक लोगों को रोज़गार देती है, इस आधार पर अगर उसे टैक्स रियायतें मिलें तो कारखानों में रोज़गार को प्रोत्साहन मिलेगा।

काल्डोर ने मुद्रास्फीति के प्रश्न पर आधुनिक मौद्रिकवाद की इस थीसिस को ग़लत ठहराया कि अर्थव्यवस्था में मुद्रा की आपूर्ति बढ़ने के कारण दाम बढ़ते हैं, इसलिए मुद्रा सप्लाई तीन से पाँच फ़ीसदी सालाना की धीमी गति से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। उनका तर्क था कि मुद्रा सप्लाई बढ़ने से तो आर्थिक गतिविधियों में तेज़ी आती है। लोग ज्यादा उधार लेते हैं और अधिक धन बाज़ार में आता है। अगर मुद्रा की आपूर्ति धीमी होगी तो बेरोज़गारी पैदा होगी। वे मोनेटरिस्ट अर्थशास्त्रियों द्वारा हमेशा मुद्रास्फीति का रोना रोते रहने से भी सहमत नहीं थे। अगर दामों के साथ आमदनी भी बढ़ रही हो तो मुद्रास्फीति बढ़ने से अर्थव्यवस्था को कोई ख़ास नुक़सान नहीं होता। उन्होंने बेरोज़गारी बढ़ने को मुद्रास्फीति बढ़ने से होने से वाले मामूली नुक़सानों से अधिक घातक करार दिया।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ़्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, एडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिडॉल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्डोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख़ वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

## संदर्भ

1. मार्क ब्लॉग (1989), 'निकोलस काल्डोर 1908-86', संकलित :

- डेविड ग्रीनवे और जॉन आर. प्रेसली (सम्पा.), *पायनियर्स ऑफ़ मॉडर्न इकॉनॉमिक्स इन ब्रिटेन*, सेंट मार्टिंस प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. एंथनी पी. थिलवाल (1987), *निकोलस काल्डोर*, न्यूयॉर्क युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
  3. मरजोरी एस. टर्नर (1993), *निकोलस काल्डोर एंड द रियल वर्ल्ड*, एम.ई. शार्प, आरमंक, न्यूयॉर्क.
  4. स्टीवन प्रेसमैन (1995), 'दि फ्रीज़ीबिलिटी ऑफ़ ऐन एक्सपेंडीचर टैक्स', *इंटरनैशनल जर्नल ऑफ़ सोशल इकॉनॉमिक्स*, खण्ड 22, अंक 8.

— अभय कुमार दुबे

## निजी सम्पत्ति, अन्य परिप्रेक्ष्य

(Private Property: Other Perspective)

आम तौर पर उदारतावादी और अनुदारवादी चिंतकों ने निजी सम्पत्ति का समर्थन किया है। दिलचस्प बात यह है कि निजी सम्पत्ति की इस पैरोकारी का परिप्रेक्ष्य अलग-अलग है। इस अंतर को उन्नीसवीं सदी में उपयोगितावादी विमर्श और बीसवीं सदी में स्वतंत्रतावादी सिद्धांतकार रॉबर्ट नॉज़िक के सूत्रीकरणों के रूप में देखा जा सकता है। उपयोगितावादी विमर्श ने कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को मजबूत किया जिसका परिष्कृत सैद्धांतिक समर्थन बीसवीं सदी में जॉन रॉल्स के न्याय-सिद्धांत में मिलता है। इसके बरक्स नॉज़िक द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक अधिकार के सिद्धांत ने नव-दक्षिणपंथियों को कई तरह के तर्क प्रदान किये जिनके आधार पर उन्होंने आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप का विरोध किया।

अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी के दौरान डेविड ह्यूम, जेरेमी बेंथम, जेम्स मिल और जॉन स्टुअर्ट मिल के विचारों ने उपयोगितावाद का ढाँचा खड़ा किया। इस दर्शन का ऐतिहासिक महत्त्व इस लिहाज़ से है कि इसके वैचारिक दबाव के तहत लिए गये आर्थिक और राजनीतिक सुधारों के कार्यक्रम के आधार पर ब्रिटेन का कुलीनतंत्रीय और पदानुक्रमवादी समाज एक संसदीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में विकसित हुआ। उपयोगितावादी विचारकों ने निजी सम्पत्ति का तो समर्थन किया, पर वे लॉक की इस धारणा से सहमत नहीं थे कि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत के मुताबिक सम्पत्ति की संस्था सरकार के बिना और उसके पहले से मौजूद है। इन विद्वानों ने निजी सम्पत्ति की परिभाषा मानवीय जीवन के लिए उसकी ज़बरदस्त उपयोगिता के आधार पर की और दावा किया कि उसका अस्तित्व सरकार के वैधानिक

और राजनीतिक प्राधिकार के बिना क्रायम नहीं रह सकता। सम्पत्ति के अधिकार को सार्थक बनाने के लिए उपयोगितावादियों ने उसकी क़ानूनी सुरक्षा पर काफ़ी ज़ोर दिया। वे यह मान कर चले कि दुनिया में सम्पत्ति और संसाधन कम रहेंगे और मनुष्य की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ बढ़ती चली जाएँगी। नतीजे के तौर पर टकराव और हिंसा की परिस्थितियाँ बनेंगी (उपयोगितावादी इनसानी फ़ितरत को अच्छी निगाहों से नहीं देखते) जिनसे बचने के लिए क़ानून का संस्थागत नियंत्रण ज़रूरी है।

निजी सम्पत्ति के पक्ष में उपयोगितावादियों का दूसरा तर्क यह था कि मनुष्य क्षणजीवी नहीं होता, बल्कि वह भविष्य को भौतिक रूप से सुरक्षित करने के लिए बनायी गयी योजना के हिसाब से जिंदगी गुज़ारता है। भविष्य से की जाने वाली अपेक्षाएँ ही उसे सुख और खुशहाली की अनुभूति देती हैं। कुंठित अपेक्षाएँ दुःख का स्रोत साबित होती हैं। जो बोता है, उसे आने वाले कल में फ़सल काटने की उम्मीद भी होती है। अगर अपने श्रम के परिणामों को भोगने की आशा नहीं होगी तो असुरक्षा की भावना पनपेगी और दुःख सतायेगा।

उपयोगितावादियों ने निजी सम्पत्ति के पक्ष में प्रोत्साहन का महत्त्वपूर्ण तर्क भी विकसित किया। उनकी धारणा थी कि श्रम एक तकलीफ़देह गतिविधि है और कोई व्यक्ति खुशी से श्रम करने के लिए तैयार नहीं होता। इसलिए जब तक श्रम करने के लिए प्रोत्साहन की व्यवस्था नहीं होगी, तब तक लोग मेहनत के खिलाफ़ अपनी कुदरती हिचक के शिकार बने रहेंगे। प्रोत्साहन के माध्यम से लोगों को कठोर से कठोर परिश्रम करने की तरफ़ ले जाया जा सकता है। उचित स्वामित्व की प्रणाली प्रोत्साहन और पारितोषिक की व्यवस्था करती है। उपयोगितावादी उदाहरण देते हैं कि अगर श्रम का परिणाम सबको बराबर-बराबर ही मिलना है तो एक व्यक्ति दूसरे के मुकाबले अधिक श्रम क्यों करेगा? अगर परिणाम व्यक्तिगत आधार पर दिया जाएगा तो लोग अपने-अपने स्तर पर अधिक श्रम करेंगे। फलस्वरूप उत्पादकता बढ़ेगी।

उपयोगितावादी दलील कहती है कि अगर व्यक्तिगत स्तर पर सम्पत्ति बढ़ेगी तो कुल मिला कर समाज की सम्पत्ति में ही वृद्धि होगी। इस तरह निजी सम्पत्ति का अधिकार न केवल व्यक्ति के लिए लाभप्रद है, बल्कि उसकी सामाजिक उपयोगिता भी है। सरकार अगर सभी का सुख बढ़ाना चाहती है तो उसे निजी सम्पत्ति के अधिकार का पक्ष लेते हुए उत्पादकता में वृद्धि सुनिश्चित करना चाहिए।

स्वतंत्रतावादी विचार रॉबर्ट नॉज़िक ने अपनी विख्यात रचना *एनार्की, स्टेट एंड यूटोपिया* (1974) में प्रतिपादित



किया कि अगर सम्पत्ति न्यायपूर्ण तौर-तरीकों से हासिल या हस्तांतरित की गयी है तो उसके स्वामित्व में किसी क्रिस्म का हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए। न सामाजिक न्याय के नाम पर और न ही समाज के किसी अन्य वृहत्तर हित के नाम पर। जाहिर है यह स्वतंत्रतावादी सिद्धांत राज्य की गतिविधियों के दायरे को बहुत सीमित कर देता है। लोक-कल्याण के नाम पर अपनायी जाने वाली वितरणमूलक नीतियों द्वारा किये जाने वाले सम्पत्ति या संसाधनों के हस्तांतरण को नॉजिक वैध सम्पत्ति की चोरी करार देते हैं।

नॉजिक की मान्यता है कि लोगों को चीजों का स्वामित्व एक ऐतिहासिक प्रक्रिया के ज़रिये मिलता है, इसलिए उस स्वामित्व को रखने या किसी और को दे देने का फ़ैसला वे ही अपने विवेकानुसार कर सकते हैं। सम्पत्ति पर ऐतिहासिक अधिकार के सिद्धांत को चार भागों में बाँट कर देखा जा सकता है : पहला, सम्पत्ति का अधिग्रहण न्यायपूर्ण होना चाहिए। यह स्पष्ट होना चाहिए कि किन परिस्थितियों में सम्पत्ति प्रकृत-अवस्था से हासिल की गयी है। दूसरा, सम्पत्ति का हस्तांतरण न्यायपूर्ण होना चाहिए। बाज़ार के नियमों के अनुसार होने वाला विनिमय, वस्तु-विनिमय और परोपकार के तहत किया जाने वाला आदान-प्रदान वैध समझा जा सकता है (चोरी, जबरिया वसूली या टैक्स लगाना नहीं)। सम्पत्ति के पूर्व स्वामी और होने वाले स्वामी की स्थिति वैध होनी चाहिए। तीसरा, अगर अतीत में सम्पत्ति के स्वामित्व से संबंधित कोई अन्याय हुआ है तो उसका परिष्कार होना ज़रूरी है। परिष्कार के बाद अगर कोई व्यक्ति सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त करता है तो उस मालिकाने को वैध माना जाएगा। चौथा, इन तीन तरीकों के अलावा किसी और तरीके से प्राप्त स्वामित्व जायज़ नहीं माना जा सकता। स्वामित्व के ऐतिहासिक अधिकार का सिद्धांत स्पष्ट करता है कि सम्पत्ति के वितरण का समर्थन या उसकी आलोचना उसमें होने वाले हानि-लाभ के आधार पर न करके उसकी ऐतिहासिक स्थिति की रोशनी में होनी चाहिए।

सम्पत्ति प्राप्त करने के न्यायपूर्ण तौर-तरीकों के मामले में नॉजिक जॉन लॉक द्वारा बतायी गयी दो विधियों में से एक को पसंद करते हैं। लॉक का कहना था कि प्रकृत-अवस्था से सम्पत्ति हासिल करते समय दूसरों के लिए 'पर्याप्त और समुचित' छोड़ देना चाहिए ताकि दूसरों के सम्पत्ति हासिल करने के अधिकार पर आँच न आ सके।

निजी सम्पत्ति की पैरोकारी कई अर्थशास्त्रियों ने भी की है, पर उनका ज़ोर उसके नैतिक पहलुओं पर न हो कर सम्पत्ति के इस रूप की दक्षता पर है। मुक्त बाज़ार के समर्थन ऐसे ही अर्थशास्त्रियों में एक फ़्रेड्रिख वॉन हॉयक ने अन्य अर्थशास्त्रियों से एक क्रदम आगे जा कर अपनी रचना *रोड टु सर्कडम* (1944) में निजी सम्पत्ति को सर्वाधिक मूलभूत नागरिक अधिकार के रूप में चित्रित किया है।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशांट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉजिक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सम्पत्ति, सम्पत्ति : साझा और सरकारी, सम्पत्ति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, सम्पत्ति: नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

### संदर्भ

1. जॉन लॉक (1967), *टू ट्रीटाइजिज़ ऑन गवर्नमेंट*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. रॉबर्ट नॉजिक (1974), *एनार्की, स्टेट एंड यूटोपिया*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. मोहिंदर सिंह (2008), 'प्रॉपर्टी', संकलित : राजीव भार्गव और अशोक आचार्य (सम्पा.), *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पियर्सन एजुकेशन, नयी दिल्ली.
4. एंड्रू हेवुड (2004), 'प्रॉपर्टी, प्लानिंग एंड मार्केट', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## निर्भरता सिद्धांत

(Dependency Theory)

पचास के दशक में उभरा निर्भरता सिद्धांत कुछ देशों की अमीरी और कुछ देशों की गरीबी में लगातार बढ़ती के बीच संबंध को एक निश्चित पैटर्न के रूप में देखता है। लातीनी अमेरिकी अर्थशास्त्री राउल प्रेबिश द्वारा किये गये अनुसंधानों से प्रकाश में आयी यह थियरी अमीर देशों (जो अधिकतर पश्चिमी हैं) को विश्व-व्यवस्था के केंद्र में और गरीब देशों (जिनमें से अधिकतर उपनिवेशवाद के शिकार रहे हैं) को उनकी परिधि के रूप में देखती है। केंद्र-परिधि (कोर-पैरिफरी) मॉडल पर आधारित यह सूत्रीकरण मानता है कि परिधि के देश केंद्र-स्थित देशों के साथ निर्भरता के संबंधों में बँधे हुए हैं। संबंधों के इस पैटर्न को ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम मान कर निर्भरता सिद्धांत दावा करता है कि विश्व-अर्थव्यवस्था कुछ देशों का हित-साधन करने की

प्रक्रिया में कुछ अन्य देशों को कम विकसित रहने के लिए मजबूर कर देती है। अर्थात् परिधि के देशों के संसाधनों का प्रवाह केंद्र के देशों की तरफ होता है। राष्ट्रों की समृद्धि और दरिद्रता के कारणों की यह व्याख्या बाजार आधारित अर्थव्यवस्था के आधारभूत उसूल को खारिज करते हुए यह मानने से इनकार करती है कि देर भले ही हो, पर अंततः विकास नीचे तक जाता है और सभी को लाभ पहुँचाता है। निर्भरता सिद्धांत ने विकास को परिभाषित करने के लिए केवल सकल घरेलू उत्पाद और विकास-दर जैसे सूचकांकों का सहारा लेने के बजाय जन-स्वास्थ्य और जीवन-सम्भाव्यता जैसे मानकों का इस्तेमाल करने की शुरुआत की। दिलचस्प बात यह है कि निर्भरता सिद्धांत ने एक तरफ तो नव-मार्क्सवादी चिंतन को प्रभावित किया है, लेकिन दूसरी तरफ पूँजीवादी उत्पादन विधि की पारम्परिक मार्क्सवादी व्याख्या में यत्नीन रखने वाले अर्थशास्त्रियों ने उसकी आलोचना की है।

निर्भरता सिद्धांत से पहले एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिकी देशों में विकास के निचले स्तर की व्याख्या आधुनिकीकरण सिद्धांत की रोशनी में की जाती थी। माना जाता था कि तीसरी दुनिया के ये देश कुछ आंतरिक खामियों के शिकार होने के कारण विकसित नहीं हो पा रहे हैं। उनके पास न तो पूँजी है, न ही उनकी बचत दर अच्छी है, न उनका औद्योगिक ढाँचा ढंग का है और न ही उनके पास तकनीकी विशेषज्ञता है। निर्भरता सिद्धांत ने अल्प-विकास के इन 'कथित' कारणों को मानने से इनकार कर दिया। उसने विकास के बजाय विकास की क्वालिटी का प्रश्न उठाते हुए उसके साथ समानता और बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति का आग्रह जोड़ा। इसी के साथ निर्भरता सिद्धांत ने प्रथम विश्व के देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच सत्ता संबंधी विषमता को रेखांकित करते हुए दिखाया कि गरीब देशों का विकास भीतरी नहीं बल्कि मुख्य रूप से उन पर आरोपित बाहरी परिस्थितियों के कारण रुका हुआ है।

निर्भरता सिद्धांत की शुरुआत 1949 में सिंगर-प्रेबिश थियरी के रूप में हुई। लातीनी अमेरिका के लिए गठित किये गये संयुक्त राष्ट्र आर्थिक आयोग में कार्यरत अर्जेटीना के अर्थशास्त्री राउल प्रेबिश और हैंस सिंगर ने अपने अलग-अलग शोध-प्रबंधों में दावा किया कि अल्प-विकसित देशों और विकसित देशों के बीच व्यापार की शर्तें लम्बे अरसे से असमान होती चली जा रही हैं। अल्प-विकसित देश अपने कच्चे माल का जितना निर्यात करते हैं, उसके मुताबिक विकसित देशों के कारखानों में बनी वस्तुएँ खरीदने की क्षमता उनके पास नहीं रह गयी है। प्रेबिश का सुझाव था कि अगर अल्प-विकसित देश स्व-निर्भर विकास के रास्ते पर चलना चाहते हैं तो उन्हें निर्यातोन्मुख विकास के बजाय आयात-प्रतिस्थापन आधारित उद्योगीकरण का तरीका अपनाना पड़ेगा।

1957 में इसी सिद्धांत को पॉल बरान ने *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ ग्रोथ* नामक रचना में मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल करते हुए विकसित किया।

साठ और सत्तर के दशक में पॉल स्वीजी और आंद्रे गुंदर फ्रेंक ने भी निर्भरता सिद्धांत में उल्लेखनीय योगदान दिया। इन विद्वानों ने निर्भरता की व्याख्या बाहरी शक्तियों द्वारा आरोपित स्थितियों के संदर्भ में करते हुए दिखाया कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश, असमान व्यापार संधियों, ऋज पर वसूले जा रहे ब्याज के भुगतान और कारखाना निर्मित माल को महँगा बेच कर उसके बदले कच्चे माल का व्यापार करने के कारण केंद्र और परिधि के देशों के बीच असमान संबंधों की संरचनाएँ बन गयी हैं। गुंदर फ्रेंक ने तर्क दिया कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश तीसरी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं को चूस डालता है। परिधि की समृद्धि व्यवस्थित रूप से केंद्र की तरफ प्रवाहित होती चली जाती है। इसका परिणाम लाइलाज अल्प-विकास में निकलता है। फ्रेंक ने दावा किया कि पूँजीवाद एक विश्व-प्रणाली है जिसके तहत महानगरीय मर्मस्थल अर्थात् पश्चिम के विकसित देश अपने चारों ओर परिधि में घूमते 'उपग्रहीय' देशों की आर्थिक आमदनी हड़प कर अपने विकास में इस्तेमाल कर लेते हैं। निर्भरता सिद्धांत के पैरोकारों के अनुसार तीसरी दुनिया के देशों का अल्प-विकास दो तरह से सामने आता है : पहला, कहीं कम और कहीं ज्यादा विकास में (क्योंकि कुछ क्षेत्रों को प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अधिक मात्रा मिलती है जिससे दूसरे क्षेत्र कमजोर रह जाते हैं); और दूसरा, विदेशी पूँजीवाद तीसरी दुनिया में अपनी दलाली करने वाला पूँजीपति और तकनीकशाह वर्ग खड़ा कर देता है ताकि स्थानीय हितों की कीमत पर विदेशी पूँजी के हितों की सेवा की जाती रहे।

निर्भरता सिद्धांत के पैरोकारों ने आरोप लगाया कि गरीब देशों के प्राकृतिक संसाधनों, सस्ते श्रम और बाजारों का दोहन किये बिना प्रथम विश्व के देशों की समृद्धि और खर्चीला जीवन-स्तर कायम नहीं रह सकता। अमीर देश अपनी ताकत का इस्तेमाल करके न केवल अल्प-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था पर पुरानी पड़ चुकी प्रौद्योगिकी मढ़ देते हैं, बल्कि उनके मीडिया, राजनीति, बैंकिंग, वित्त, शिक्षा, संस्कृति, खेल-कूद और मानवीय संसाधनों के विकास को भी कई तरीकों से नियंत्रित करते हैं।

सत्तर के दशक की बहसों को प्रभावित करने वाली यह व्याख्या नव-मार्क्सवादी क्रार दी गयी। लेकिन कई मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों ने इसकी कड़ी आलोचना भी की। उनका कहना था कि फ्रेंक वगैरह ने उत्पादन की विधि यानी पूँजीवादी का विनिमय की विधि का बाजार के साथ घालमेल कर दिया है। दूसरे, इन मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों को यह आपत्ति भी थी कि निर्भरता सिद्धांत अल्प-विकास की

स्थितियों को असम्भव विकास के पर्याय के रूप में देखता है। विश्व-अर्थव्यवस्था में जैसे-जैसे नव-उद्योगीकृत देशों की परिघटना सामने आयी, वैसे-वैसे निर्भरता सिद्धांत की दलीलें कमजोर पड़ती गयीं। तीसरे, यह भी कहा गया कि निर्भरता और अल्प-विकास को एक-दूसरे का पर्याय समझना भी एक भूल है, क्योंकि कनाडा जैसे देश निर्भर होने के साथ-साथ विकसित भी हैं। चौथी आलोचना यह थी कि विभिन्न देश निर्भरता की अलग-अलग मात्रा के शिकार होते हैं। इसलिए निर्भरता का एक सार्वभौम सिद्धांत बनाने के बजाय हाशियाग्रस्त अर्थव्यवस्थाओं की टोस परिस्थितियों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

आज निर्भरता सिद्धांत सत्तर के दशक की तरह प्रभावी नहीं रह गया है। लेकिन उसके द्वारा प्रचलित की गयी भाषा आज भी मार्क्सवादी और अन्य वामपंथी विमर्शों में प्रचलित है। खास तौर से केंद्र और परिधि का मॉडल नव-उपनिवेशवादी शोषण की व्याख्या करने के लिए अक्सर इस्तेमाल किया जाता है।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निरस्त्रीकरण, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट कानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

## संदर्भ

1. आंद्रे गुंदर फ्रेंक (1988), 'द डिवेलपमेंट ऑफ़ अंडरडिवेलपमेंट', सी.के. विल्बर (सम्पा.), *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ डिवेलपमेंट ऐंड अंडरडिवेलपमेंट*, रैंडम हाउस, न्यूयॉर्क.
2. डी. सियर्स (1981), *डिपेंडेंसी थियरी : अ क्रिटिकल रिसेसमेंट*, पिंटर, लंदन.
3. डी. स्ट्रैंग (1990), 'फ्रॉम डिपेंडेंसी टु सॉवरेनिटी : ऐन ईवेंट हिस्ट्री एनालैसिस ऑफ़ डिक्लॉनाइजेशन 1870-1987', *अमेरिकन सोसियोलॉजीकल रिव्यू*, 55.

— अभय कुमार दुबे

## नियोजन

(Planning)

नियोजन मनुष्य के सुचिंतित व्यवहार के कुछ बुनियादी गुणों में से एक है। बिना नियोजन के निजी और सामूहिक स्तर पर न वर्तमान सँवारा जा सकता है, और न ही किसी यत्नी के साथ कहा जा सकता है कि भविष्य कैसा होने वाला है। इस लिहाज से नियोजन एक सांगठनिक प्रक्रिया होने के साथ-साथ तयशुदा पैमाने पर वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए मानस के स्तर पर चलने वाली एक प्रक्रिया भी है। जीवन के हर क्षेत्र में नियोजन करना पड़ता है। चाहे वह व्यापारिक नियोजन हो, या वास्तुशिल्पीय नियोजन; किसी समारोह के लिए की गयी ईवेंट प्लानिंग हो, या आबादी रोकने के लिए की जाने वाली फ़ेमिली प्लानिंग; नगर-नियोजन हो, या ज़मीन का इस्तेमाल करने संबंधी प्लानिंग। लेकिन अपने इन सार्वभौम और सर्वव्यापी अर्थों से अलग समाज-विज्ञान में नियोजन के कुछ आनुशासनिक और वैचारिक अर्थ भी हैं। एक उपादान के तौर पर नियोजन का अध्ययन एक आर्थिक संगठन की पद्धति के रूप में किया जाता है। चूँकि संसाधन हमेशा कम होते हैं और मानवीय आवश्यकताएँ अधिक, इसलिए भौतिक संसाधनों का नियोजित आबंटन अनिवार्य हो जाता है। एक विचार के तौर पर नियोजन का मतलब है मानव समाज को एक पूर्व-निर्धारित भविष्य को ओर ले जाने का बुद्धिसंगत प्रयास। सुसंगत नियोजन के माध्यम से मानवीय समस्याएँ हल करने में वैचारिक आस्था का इतिहास काफी पुराना है।

प्लानिंग का ज़िक्र होते ही 'नियोजन बनाम बाज़ार' की बहस सामने आ जाती है जो बीसवीं सदी के दूसरे दशक से ही अर्थनीति, राजनीति और समाज-रचना के दायरे में चल रही है। आर्थिक नियोजन का रूढ़ अर्थ है सोवियत शैली का ग्रोथ या आर्थिक संवृद्धि आधारित मॉडल जिसे द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद कम्युनिस्ट पार्टी की हुकूमत वाले कई देशों ने अपनाया, और जिसे बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्था वाले पूँजीवादी मॉडल के लिए चुनौती समझा गया। 'नियोजन बनाम बाज़ार' की बहस का सीधा अनुवाद 'लोकतंत्र बनाम तानाशाही' में भी कर दिया जाता है, जैसे कि नियोजन और लोकतांत्रिक व्यवस्था एक-दूसरे के विरोधी हों। दरअसल, इस शीतयुद्धकालीन बहस ने नियोजन के तात्पर्य और महत्त्व के साथ अन्याय किया है।

इसमें कोई शक नहीं कि संसाधनों के आबंटन की ज़िम्मेदारी बाज़ार के हाथ से छीन कर केंद्रीकृत नियोजन-तंत्र के हाथों में देने के बाद सोवियत अर्थव्यवस्था इकॉनॉमिक

प्लानिंग का संदर्भ-बिंदु बन गयी। इसके इर्द-गिर्द एक विस्तृत मार्क्सवादी विमर्श खड़ा हो गया। लेकिन, इस उदाहरण से विचारधाराओं के आर-पार आधुनिक जीवन में नियोजन की भूमिका पूरी तरह स्पष्ट नहीं होती। कई विकासशील देशों ने नियोजन को बाज़ार की जगह नहीं, बल्कि सोवियत शैली के विपरीत बाज़ार के मददगार और पूरक की तरह अपनाया है। खुद भारत की अर्थव्यवस्था इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। जिन दिनों भारत के आर्थिक तंत्र पर कथित रूप से समाजवादी विचार हावी माना जाता था, उन दिनों तो व्यवस्था पंचवर्षीय योजनाओं के मुताबिक चलती ही थी, और आज जब बाज़ार की ताकतें खुल कर खेल रही हैं उस समय भी पंचवर्षीय योजना की अहमियत बरकरार है।

विकसित पूँजीवादी देशों में भी कई बार नियोजन की आर्थिक पद्धति का लाभकारी इस्तेमाल किया गया है। 1945 के बाद पश्चिमी देशों की अर्थव्यवस्थाओं में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ता गया ताकि एक निश्चित सीमा तक आर्थिक वृद्धि क्रायम रखी जा सके, मुद्रास्फीति पर काबू किया जा सके, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ता रहे और बेरोज़गारी का प्रतिशत घटाया जा सके। 1946 में फ्रांस ने निर्देशकात्मक नियोजन की शुरुआत की जिसके तहत सरकार ने सोवियत शैली में आदेश जारी करने के बजाय अर्थव्यवस्था के विकास-पथ के बारे में पूर्वानुमान जारी करने का तरीका अपनाया। इसका नतीजा यह निकला कि बाज़ार के स्तर पर इन भविष्यवाणियों के आधार पर निवेश का सिलसिला चल निकला। सरकार ने इस काम के लिए प्रमुख उद्योगों के लिए आयोगों का गठन किया। विभिन्न उद्योगों की मदद के लिए अनुसंधान का काम शुरू किया गया। नियोजन के लक्ष्यों के निर्धारण में फ्रांसीसी संसद ने भी सहभागिता की। सरकार ने नियोजित निवेश करने वाली फ़र्मों को राजकोषीय प्रोत्साहन देने की घोषणाएँ कीं। फ्रांस की यह कामयाबी देख कर साठ के दशक के दौरान ब्रिटेन में लेबर पार्टी और कंजरवेटिव पार्टी की सरकारों ने नियोजन के जरिये अपनी आर्थिक समस्याएँ हल करने की कोशिश की। ब्रिटेन ने 1966 में पहली बार एक नैशनल प्लान बनाया जो नौ महीने के बाद नाकाम हो गया। लेकिन, इससे अन्य पूँजीवादी देशों को मिली कामयाबी का महत्त्व कम नहीं हो जाता। फ्रांस के अलावा नीदरलैण्ड्स को भी इस कामयाबी का उदाहरण करार दिया जा सकता है।

पचास और साठ के दशक में जापान का आर्थिक चमत्कार अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय द्वारा की गयी सेंट्रलाइज़्ड प्लानिंग का ही नतीजा था। अगर जापानी नीति-निर्माता पारम्परिक श्रम-सघनता वाले खेतिहर उद्योगों में निवेश करने की सलाह ख़ारिज न करते और नियोजित रूप से पूँजी की सघनता वाले इस्पात, ऑटोमोबाइल, इलेक्ट्रिक

और इलेक्ट्रॉनिक उद्योगों में पैसा न लगाते तो आज के जापान की शकल कुछ और होती। पूर्वी एशिया में हांगकांग, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया और ताइवान जैसे पूँजीवादी देश भी अपना आर्थिक विकास केंद्रीकृत नियोजन और बाज़ार की शक्तियों के तालमेल के बिना नहीं कर सकते थे।

पूँजीवादी सरकारों द्वारा नियोजन की इन मिसालों के अलावा बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्थाओं में फ़र्म और कारपोरेशनों के स्तर पर नियोजन के उपकरण के सघन इस्तेमाल को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। हालाँकि ये संगठन बाज़ार की बाह्य परिस्थितियों को ध्यान में रख कर अपनी सारी गतिविधियाँ नियोजित करते हैं लेकिन उन्हें माइक्रो स्तर पर बुद्धिसंगत नियोजन के बेहतरीन उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है। बाज़ार का विरोध करने वाले समाजवादी नियोजन ने भी पूँजीवादी फ़र्मों की नियोजन-शैली से बहुत कुछ सीखा है।

सोवियत शैली के केंद्रीकृत नियोजन का आकर्षण इस आधारभूत तर्क में निहित है कि मनुष्य की प्रतिभा किसी भी आर्थिक समस्या को हल कर सकती है। इसलिए बाज़ार के निर्वैयक्तिक हाथों में थमाने के बजाय अर्थव्यवस्था को कुछ प्रशिक्षित विशेषज्ञों के हाथों में क्यों न रखा जाए। पहले क्या उत्पादित करना है और कितना उत्पादित करना है जैसे लक्ष्य तय किये जाएँ, और फिर मुनाफ़े की चिंता किये बिना नियोजकों की एक टीम 'आवश्यकताओं के लिए उत्पादन' के सिद्धांत में आस्था रखते हुए पूरी योजना बना डाले।

मानवीय आवश्यकताओं की विविधता की कोई सीमा नहीं होती। उपभोक्ताओं की रुचि और फ़ैशन में लगातार तब्दीली होती रहती है। इनकी संतुष्टि के लिए नियोजकों की कोई टीम प्लानिंग नहीं कर सकती। लेकिन, मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं के बारे में मोटे तौर पर एक मतैक्य है इसलिए उन्हें हासिल करने के लिए नियोजन किया जा सकता है। 'आवश्यकताओं के लिए उत्पादन' पर आधारित नियोजन की सफलता के एक ज़बरदस्त उदाहरण के रूप में क्यूबा को देखा जाता है। आर्थिक रूप से पिछड़े हुए देश के तौर पर शुरुआत करने के बावजूद क्यूबा में इस समय 98 फ़ीसदी साक्षरता है और उसकी प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएँ बहुत से पश्चिमी देशों के मुकाबले की हैं। क्यूबा में आर्थिक संसाधन नियोजित रूप से भवन-निर्माण और खेती में लगाये गये। स्कूलों और अस्पतालों का बड़े पैमाने पर निर्माण किया गया। बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों की क्रीमों कम रखी गयी। जनता को मुफ्त शिक्षा, स्वास्थ्य सेवा, सस्ता खाद्य और सस्ती रिहाइश मुहैया कराने में नियोजन को सफलता हासिल हुई।

केंद्रीकृत नियोजन का दूसरा फ़ायदा यह हुआ कि बाज़ार की अनिश्चितताओं से काफ़ी हद तक छुटकारा पाया जा सका। पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं को भारी उद्योगों और

अधिसंरचनात्मक सुविधाओं का स्थायी आधार देने में नियोजन की सफलता की सारी दुनिया ने दाद दी। सोवियत संघ ने तीस के दशक में जो नियोजित आर्थिक विकास की नीतियाँ अपनायीं, उन्हीं के कारण वह द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान नाज़ी आक्रमण के सामने टिक पाया।

केंद्रीकृत नियोजन का एक अहम पहलू है राजनीतिक नियंत्रण अर्थात् अर्थव्यवस्था और राजनीति के बीच घनिष्ठता। इसके उलट बाज़ार आधारित पूँजीवाद आर्थिक प्रक्रिया और राजनीतिक प्रक्रिया को अलग-अलग करने में यकीन करता है। केंद्रीकृत नियोजन सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व में भी विश्वास करता है ताकि वर्गीय हितों के टकराव और खुदगर्जी जैसी प्रचलित मानवीय बुराई से बचते हुए सामाजिक एकजुटता और सामुदायिकता की भावनाएँ सुदृढ़ हो सकें।

केंद्रीकृत नियोजन की प्रमुख समस्या दक्षता में कमी और वृद्धि की दर में गिरावट रही है। पचास के दशक तक ये समस्याएँ दिखाई नहीं पड़ी थीं, इसलिए खुश्चेव ने पश्चिम को दफना देने का शेखी-खोर दावा किया था। लेकिन उसके बाद सोवियत विकास दर गिरने लगी और अस्सी के दशक तक अर्थव्यवस्था सिकुड़ने की स्थिति में आ गयी।

बाज़ार और नियोजन में एक अंतर्विरोधी संबंध है। पूँजीवादी देशों ने बाज़ार की कमियों की पूर्ति करने के लिए नियोजन का सहारा लिया, और एक हद तक अपने मक्रसद में सफल भी रहे। समाजवादी देशों ने इस तालमेल को शुरू में खारिज करते हुए सिर्फ़ नियोजन से काम चलाना चाहा, लेकिन वे धीरे-धीरे ही सही पर बाज़ार के आगमन को स्थायी रूप से नहीं रोक पाये। बाज़ार के जो कुछ अवशेष उन अर्थव्यवस्थाओं में पहले से बचे हुए थे, उन्होंने समाजवादी नियोजन को प्रभावित किया। विश्व-युद्ध के दौरान बाज़ार के कई रूपों को सोवियत संघ में काम करने दिया गया। उन दिनों पार्टी ने 'श्रम बाज़ार' को भी एक सीमा तक सहन किया। देश में उत्पादित होने वाले आलू और सब्जियों का पंद्रह फ़ीसदी हिस्सा किसानों की निजी मालिकाने वाली ज़मीनों से आता था। आगे चल कर उपभोक्ता वस्तुओं का एक कालाबाज़ार पूरे सोवियत संघ में विकसित होता चला गया। 1945 के बाद जहाँ पश्चिमी देशों ने नियोजन के पहलुओं को अपनाया, वहाँ युगोस्लाविया और हंगरी जैसे देश मार्केट सोशलिज़्म की अवधारणा के आस-पास अपनी अर्थव्यवस्थाओं को गोलबंद करने लगे। उन्होंने नियोजन का विकेंद्रीकरण किया और छोटे पैमाने पर पूँजीवादी प्रतिष्ठानों को पनपने का मौक़ा दिया गया।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी

अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिडॉल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजन, क्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

### संदर्भ

1. एंड्रू हेवुड (2004), 'प्रॉपर्टी, प्लानिंग ऐंड द मार्केट', *पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंटीडिक्शन*, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
2. जी. होजसन (1984), *द डेमोक्रेटिक इकॉनॉमी : अ न्यू लुक एट प्लानिंग, मार्केट ऐंड पावर*, पेंगुइन, हार्मड्सवर्थ.
3. ए. नोव (1983), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ फ़्रीजिबिल सोशलिज़्म*, एलेन ऐंड अनविन, लंदन.
4. डी. मिलर (1989), *मार्केट, स्टेट ऐंड कम्युनिटी : थियरेटिकल फ़ाउंडेशन ऑफ़ मार्केट सोशलिज़्म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श

(Planning: Marxist Discourse)

फ़्रेड्रिख एंगेल्स ने अपनी विख्यात रचना *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* के दूसरे अध्याय में कहा है कि 'सामाजिक उत्पादन की अराजकता की जगह पूरे समाज और हर व्यक्ति की जरूरत के मुताबिक उत्पादन का नियोजित सामाजिक नियंत्रण क़ायम' होना चाहिए। इस कथन को छोड़ कर मार्क्स और एंगेल्स की रचनाओं में आर्थिक नियोजन के आधार पर समाजवाद का शीराजा खड़ा करने का उल्लेख शायद ही कहीं मौजूद हो। दरअसल, वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापकों ने भविष्य के समाजवाद की रूपरेखा पर कभी कोई विस्तृत वक्तव्य नहीं दिया। वे ऐसी कोशिश को 'यूटोपियन' मानते

थे। लेकिन, बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में सोवियत संघ द्वारा समाजवाद के निर्माण के लिए केंद्रीकृत आर्थिक नियोजन अपनाने के बाद इसके पक्ष-विपक्ष में सैद्धांतिक बहस फूट पड़ी जो तीसरे दशक में अपने चरम पर पहुँची। बाज़ार की जगह नियोजन को स्थापित करने के पक्ष में ऑस्कर लांगे खड़े हुए थे जिनका तर्क था कि उत्पादन के साधनों के सार्वजनिक (सरकारी) स्वामित्व के साथ केंद्रीकृत नियोजन का संयोग किया जा सकता है। इसके लिए 'एकाउंटिंग प्राइसिज़' के आधार पर दाम निर्धारित करने होंगे। दामों का यह निर्धारण एक प्लानिंग बोर्ड करेगा और तब तक ये दाम कम या ज्यादा किये जाते रहेंगे जब तक माँग और आपूर्ति के नियोजित लक्ष्य समान नहीं हो जाते। लांगे के मुताबिक यह स्थिति बाज़ार के दायरे में अनुकूलतम परिस्थिति को नापने वाले परेटो-मानक के मुताबिक होगी। नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के विद्वानों, खासकर फ्रेड्रिख हायक ने इसका विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि पहले तो सैद्धांतिक दृष्टि से ऐसा होना संदिग्ध लगता है, पर अगर सिद्धांत की दुनिया में ऐसा साबित भी कर दिया जाए तो व्यवहार में ऐसा होना असम्भव है।

इस बहस में लांगे का सैद्धांतिक पक्ष बहुत दिनों तक मज़बूत माना जाता रहा। लेकिन उनके बाद के कई मार्क्सवादी अर्थशास्त्री यह मानने के लिए तैयार नहीं हुए कि केंद्रीकृत नियोजन का काम ठीक वैसे ही आदर्श आर्थिक परिणाम निकालना है जैसे बाज़ार के तहत निकालने की कल्पना की जाती है। खासकर मॉरिस डॉब की व्याख्याओं से परिप्रेक्ष्य निकला कि आर्थिक नियोजन का सार परस्पर निर्भर निर्णयों के बीच कार्यान्वयन से पहले का तालमेल मुमकिन करने में निहित है। बाज़ार परिस्थिति के विकास के बाद यानी घटना के बाद नियोजन करता है। सफल प्लानिंग का काम पूर्वानुमान के आधार पर नियोजन करने के बजाय परस्पर निर्भरता के समायोजन का होना चाहिए।

कहना न होगा कि यह मार्क्सवादी विमर्श केवल सोवियत अनुभव की रोशनी में ही नहीं हो रहा था। यह एक अकादमिक क्रवायद भी थी। सोवियत अनुभव तो एक खास तरह की ऐतिहासिक परिस्थिति की देन था। यह चार चरणों से हो कर गुज़रा : 1917-1923 यानी क्रांति का एकदम शुरुआती दौर, फिर 1928 तक की अवधि जब इस प्रश्न के इर्द-गिर्द काफ़ी बहस हुई, इसके बाद 1929 में पहली सोवियत पंचवर्षीय योजना बनी। स्टालिन के नेतृत्व में यह अवधि 1953 तक जारी रही। फिर आया स्टालिनोत्तर अवधि जो सोवियत संघ के विखंडन तक चली। इन चारों दौरों में की रचनात्मक पहलकदमियाँ भी ली गयीं, और कई सफलताएँ भी मिलीं। कुल मिला कर नियोजन की शकल-सूरत तेज़ रफ़्तार से उद्योगीकरण, नाज़ी हमले के खिलाफ़ गोलबंदी, युद्ध के बाद पुनर्निर्माण और उसके बाद शीत-युद्ध की राजनीति की ज़रूरतों के हिसाब से बदलती गयी। शुरु

में आर्थिक विकास तीव्र गति से हुआ, क्षेत्रीय विकास ने भी रफ़्तार पकड़ी, सौ फ़ीसदी रोज़गार दिया जा सका, मुद्रास्फीति की दर कम रखने में कामयाबी मिली, आम जनता के जीवन-स्तर में कुछ बढ़ोतरी हुई और सांस्कृतिक विकास की गुंजाइशें खुलती हुई प्रतीत हुईं। लेकिन, नियोजन का यह मॉडल अपनी ऐतिहासिक मुश्किलों के साथ अपने साथ राजनीतिक स्वतंत्रता के दमन, व्यक्तिगत आज़ादी के अतिक्रमण, मनमानी निर्णय-प्रक्रिया, दक्षता में कमी, बर्बादी, व्यापक प्रदूषण, पर्यावरण का क्षय, जिंसों की किल्लत और उपभोक्ता-संतोष की समस्या भी साथ में लाया।

विभिन्न उद्यमों द्वारा दी गयी जिन सूचनाओं के आधार पर योजना बनायी जाती थी वे घोषित किये जा चुके आर्थिक प्रोत्साहनों के लालच में गढ़ी जाती थीं। सूचना और काम की प्रेरणा के लिहाज़ से यह मॉडल गहरी ख़ामियों का शिकार था। इन्हीं सब कारणों से सत्तर के दशक के मध्य से सोवियत अर्थव्यवस्था में जड़ता आने लगी। जनता के जीवन-स्तर और कल्याण के प्रावधानों का क्षय होने लगा। 1985 में गोर्बाचेव के आगमन के बाद आर्थिक नियोजन की प्रक्रिया में कुछ सुधार की कोशिश की गयी, पर तब तक बहुत देर हो चुकी थी। आज सोवियत संघ अपने नियोजन के मॉडल में सुधार करने के लिए मौजूद ही नहीं है। दिलचस्प बात यह है कि आज पूरी तरह से विफल मान लिया गया यह मॉडल पूँजीवादी अर्थतंत्र के किसी बुनियादी विकल्प की खोज का नतीजा नहीं था। इसमें अमेरिकी पूँजीवाद के कई आयामों की सचेत नक़ल शामिल थी। मसलन, मैगिनटो गोर्स्क का दैत्याकार इस्पात नगर गैरी, इण्डियाना की प्रतिकृति था। सोवियत उद्यमों में किया जाने वाला उत्पादन टेलरवाद की थीसिस पर आधारित था। फ्रेड्रिख विनस्लो टेलर ने बेतेलहम स्टील कारपोरेशन की तरफ़ से समय और गति के जो अध्ययन किये थे, उनके आधार पर ही पूँजीवाद द्वारा मज़दूरों से तेज़ गति से उत्पादन करवाने के फ़ार्मूले ईजाद किये गये थे। 'वन मैन मैनैजमेंट फ़ैक्ट्री सिस्टम' जैसी लेनिन की पसंदीदा थीसिस इसी की देन थी जिसे मज़दूर एसोसिएशनों द्वारा किये जा सकने वाले सामूहिक प्रबंधन की जगह घोषित रूप से लागू किया गया था।

ज़ाहिर है नियोजन संबंधी मार्क्सवादी विमर्श काफ़ी-कुछ सोवियत या पूर्वी युरोपीय अनुभव से अलग विकसित हो रहा था। इस विमर्श में आर्थिक गतिविधि की परस्पर निर्भरता और निवेश के बड़े-बड़े फ़ैसलों में उसके महत्त्व को केंद्र में रखा गया था। डॉब का कहना था कि आर्थिक नियोजन में कुछ अनिश्चितताएँ ऐसी होती हैं जिनसे बचा नहीं जा सकता, पर बाज़ार की परिस्थितियों में पैदा होने वाली उन अनिश्चितताओं से ज़रूर बचा जा सकता है जो प्रतिद्वंद्वियों की मंशा और कार्ययोजना की गैर-जानकारी के कारण पैदा होती हैं। डॉब के अनुसार आर्थिक योजना सापेक्षिक लागत और दामों के मौजूदा

पैटर्न के बजाय भविष्य में अपेक्षित पैटर्न के मुताबिक बनायी जानी चाहिए। बाजार के विपरीत एक नियोजित अर्थव्यवस्था में आगे जा कर होने वाले परिवर्तनों का पहले से कमोबेश अंदाजा लगाया जा सकता है और उसके आधार पर पेशबंदी की जा सकती है। बाजार यह सुविधा नहीं देता क्योंकि उसमें नियोजित अर्थव्यवस्था की तरह संसाधनों का आबंटन तयशुदा नहीं होता।

आर्थिक नियोजन की इन निर्विवाद खूबियों की रोशनी में पूँजीवादी अर्थशास्त्रियों ने जब सोवियत व्यवस्था की शुरुआती सफलताओं को देखा तो उन्हें लगा कि कम से कम युद्धकाल में तो वे इन उपायों को आजमा ही सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे ही मिले-जुले कारणों से मुक्त बाजार में विचारधारात्मक यकीन रखने वाले देशों, खास कर ब्रिटेन में, द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान पूरे आर्थिक निजाम को प्रतिरक्षा और आक्रमण में झोंकने के लिए नियोजन को इस्तेमाल किया गया।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्यूस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्नाफा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाजार, बाजार की विफलताएँ, बाजार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन।

## संदर्भ

1. पेट डेवाइन (2000), 'इकॉनॉमिक प्लानिंग', संकलित : टॉम बॉटमोर वगैरह (सम्पा.), *अ डिक्शनरी ऑफ़ मार्क्सिस्ट थॉट*, माया ब्लैकवेल, नयी दिल्ली.
2. मॉरिस डॉब (1960), *ऐन एसे ऑन इकॉनॉमिक ग्रोथ ऐंड प्लानिंग*, रॉटलेज ऐंड कीगन पॉल, लंदन.
3. व्लाॅदज़ीमीर ब्रस और काजीमीर्ज लास्की (1989), *फ्रॉम मार्क्स टु द मार्केट : सोशलिज़्म इन सर्च ऑफ़ अ इकॉनॉमिक सिस्टम*, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. ब्रैंको होरवाट (1982), *द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ सोशलिज़्म*, मार्टिन रॉबर्टसन, ऑक्सफ़र्ड, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र

(Neoclassical Economics)

विकसित देशों में आर्थिक विज्ञान की दुनिया पर नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों और पद्धतियों का प्रभुत्व है। मोटे तौर पर इन्हें बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देने वाले और आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को खारिज करने वाले नियमों के रूप में जाना जाता है। भूमण्डलीकरण ने जिन आर्थिक प्रक्रियाओं को बेतहाशा गति प्रदान की है, उनकी बुनियाद में नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र ही है। आर्थिक विज्ञान को सामाजिक और नैतिक सरोकारों से काट कर व्यक्तिवादी रुझानों में सीमित कर देने वाले इस आर्थिक विज्ञान के प्रवक्ताओं ने अपनी बात कहने के लिए ऐडम स्मिथ, रिकार्डो या मार्क्स की तरह इतिहास का हवाला देने या साहित्यिक और विमर्शी शैली में लेखन करने की आवश्यकता नहीं समझी। इन अर्थशास्त्रियों को दर्शन और नीतिशास्त्र में भी रुचि नहीं थी। उनका जोर तो प्रत्यक्षवाद की मदद लेकर गणितीय विधियों के सहारे आर्थिक मॉडल खड़ा करने पर था। उन्होंने क्लासिकल अर्थशास्त्र के कई सिद्धांतों को गणितीय मॉडल के अनुसार पुनर्परिभाषित किया।

नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र की आधार-भूमि क्लासिकल अर्थशास्त्र और ऑस्ट्रियायी आर्थिक विज्ञान द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के संयोग से तैयार हुई। इसके पैरोकारों ने क्लासिकल अर्थशास्त्र से स्व-हित साधने की कोशिश में लगे हुए आर्थिक कर्ता, बाजार की प्रतियोगिता, अदृश्य हाथ और विकेंद्रीकृत अर्थव्यवस्था की धारणाएँ उधार लीं। ऑस्ट्रियायी आर्थिक विज्ञान द्वारा प्रवर्तित सीमांतिय सिद्धांत (मार्जिनल थियरी) का इस्तेमाल करके उन्होंने एक ऐसी आर्थिक पद्धति का तानाबाना खड़ा किया जिसका एक मात्र मकसद उपभोक्ताओं और फ़र्मों को अधिकतम लाभ पहुँचाना था। लगान की अलग-अलग दरों का सिद्धांत प्रतिपादित करने में मार्जिनल थियरी का इस्तेमाल करके रिकार्डो पहले ही इस तरह के संयोग की ज़मीन तैयार कर चुके थे।

समझा जाता है कि 1890 में प्रकाशित अपनी विख्यात रचना *प्रिंसिपल्स ऑफ़ इकॉनॉमिक्स* में अल्फ्रेड मार्शल ने माँग और आपूर्ति का विश्लेषण करके नियोक्लासिकल पद्धति के लिए रास्ता तैयार किया। क्लासिकल अर्थशास्त्र का केंद्र ब्रिटेन था, पर नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के विकास का दायरा अधिक व्यापक था। मैचेंस्टर में जेवंस, लुजाने में लियोन वालरस और वियना में कार्ल मेंगर जैसे अर्थशास्त्रियों ने मिल कर जिन प्रवृत्तियों को स्थापित किया उनके आधार

पर नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र अपने पूर्ववर्ती आर्थिक विज्ञान से अलग होता चला गया।

नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र मानता है कि आर्थिक कर्ता के रूप में उपभोक्ता और फ़र्म की मुख्य दिलचस्पी अपनी उपयोगिता और लाभ को अधिकतम करने में होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति जब तक नहीं हो सकती जब तक अर्थव्यवस्था में एक बुनियादी संतुलन की गारंटी नहीं की जाती। बिना इस संतुलन के नियोक्लासिकल पैरोकारों की मान्यता थी कि उनका बुनियादी विश्लेषण ध्वस्त हो जाएगा। इस लिहाज़ से उन्होंने उपयोगिता का आत्मपरक और व्यक्तिवादी विचार विकसित किया। दर्शन, इतिहास और विमर्श से खुद को अलग करने के बाद आर्थिक शब्दावली में इस विचार की स्थापना के लिए इन अर्थशास्त्रियों ने गणित की विधियों का जम कर इस्तेमाल किया। पॉल सेमुअलसन की रचना *फ़ाउंडेशन ऑफ़ इकॉनॉमिक एनालिसिस* उत्पादन और वितरण के नियोक्लासिकल सिद्धांतों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन के रूप में देखी जाती है। दिलचस्प बात यह है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सेमुअलसन और मिल्टन फ्रीडमैन के बीच हुई पद्धतिमूलक बहस को अर्थशास्त्र की दुनिया बाज़ार के प्रभुत्व और सरकारी हस्तक्षेप के समर्थन के बीच होने वाली बहस के रूप में भी देखते हैं। इस लिहाज़ से सेमुअलसन कीसियन अर्थशास्त्र के पैरोकार लगते हैं। लेकिन, यह भी एक सच्चाई है कि अपनी गणितीय विधियों का इस्तेमाल करके सेमुअलसन ने अर्थव्यवस्था में संतुलन कायम करने वाली प्रणालियों और तुलनात्मक सांख्यिकी पर गौर करके अर्थव्यवस्था में गतिशीलता का सिद्धांत निकाला। उन्होंने उपभोक्ता-व्यवहार का एक परम सिद्धांत भी पेश किया जिसका मक़सद यह दिखाना था कि उपभोक्ता अधिकतम लाभ कैसे हासिल कर सकता है। दिलचस्प बात यह है कि इस व्यक्तिवादी रवैये के तहत ही सेमुअलसन अपने आर्थिक मॉडल के लोकोपकारी पक्ष की दावेदारियाँ भी करते नज़र आये। सेमुअलसन की किताब बताती है कि बीजगणित और कैलकुलस के माध्यम से आर्थिक विज्ञान की समस्याएँ किस तरह से समझी जा सकती हैं।

नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र माँग और आपूर्ति के सिद्धांत के ज़रिये कई क्षेत्रों में आर्थिक समस्याएँ हल करने की कोशिश करता है। मसलन, संसाधनों की कमी होने पर, किसी एक उद्योग के पक्ष में दूसरे से भेदभाव होने की सूरत में, पेटेंट से संबंधित विवादों और विदेशी मुद्रा बाज़ार से संबंधित समस्याओं में इस सिद्धांत का इस्तेमाल किया जाता है। इसके अलावा यह अर्थशास्त्र फ़र्म थियरी, उपभोक्ता व्यवहार सिद्धांत, संतुलन सिद्धांत, मार्जिनल उत्पादकता सिद्धांत और मौद्रिकवाद की स्वीकृति के लिए भी जाना जाता है। इस अर्थशास्त्र का दावा है कि उसके सिद्धांत मूल्य-तटस्थ

हैं। लेकिन उसके आलोचक ऐसा नहीं मानते। आलोचकों की निगाह में नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र पूँजीवादी रूझानों से ग्रस्त है। उनका कहना है कि यह आर्थिक विज्ञान आधुनिक जगत की प्रकृति को समझने में नाकाम रहा है। गणितीय प्रमेयों द्वारा हर समय और हर परिस्थिति में संतुलन की खोज नाकाम होने के लिए अभिशप्त है। कारपोरेशन जैसी आधुनिक संस्था के विशिष्ट चरित्र की ओर यह विज्ञान ध्यान नहीं देता। सरकारों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में हस्तक्षेप का विरोध करके, राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के लिए स्व-विनियमनकारी तंत्र की वकालत करके और ट्रेड यूनियनों पर इज़ारेदारी प्रवृत्तियों का आरोप लगा कर इस विज्ञान ने एक ख़ास तरह की विचारधारा का अनुगामी होने का परिचय दिया है। आलोचकों की मान्यता है कि नियोक्लासिकल अर्थशास्त्री उद्यमशीलता की अवधारणा को भी नज़रअंदाज़ करते हैं, क्योंकि इसकी वजह से संतुलन गड़बड़ा जाता है। वे संसाधनों, प्रौद्योगिकी और प्राथमिकता संबंधी धारणाएँ पहले ही बना लेते हैं और इस प्रकार अर्थशास्त्र के अनिवार्य पहलुओं की उपेक्षा हो जाती है। वे यह मान कर चलते हैं कि आर्थिक कर्ताओं के पास पहले से ही पूर्ण सूचना है जिसके आधार पर वे स्वतंत्र रूप से गतिविधियाँ करने में समर्थ हैं। उपयोगिताओं और लाभों को अधिकतम करने की नियोक्लासिकल थीसिस एकतरफ़ा है और इसके सही होने की परीक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि यह आर्थिक कर्ता के खिलाफ़ होड़ कर रही ताकतों पर ध्यान नहीं देती।

नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र अपने समष्टिगत अवतार में दो तरह की पेशकश करता है। रोज़गार बढ़ाने के लिए वह तजवीज़ करता है कि वास्तविक वेतन में कटौती कर दी जानी चाहिए। दूसरे उनकी मान्यता है कि अगर बाज़ार में मुद्रा सप्लाई बढ़ा दी जाए तो उसके अनुपात में दामों में बढ़ोतरी हो जाएगी।

बीसवीं सदी में नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के विद्वानों ने कीसियन अर्थशास्त्र की प्रस्थापनाओं को यह कह कर आड़े हाथों लिया कि उनके पीछे आर्थिक कर्ताओं के बुद्धिसंगत व्यवहार के बारे में सही पूर्वानुमान का अभाव है।

**देखें :** अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख़ मार्क्स-3, कार्ल मंगर, कीसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कीस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो



स्वाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

## संदर्भ

1. जे.एफ. हेनरी (1990), *द मोंकिंग ऑफ़ नियोक्लासिकल इकॉनॉमिक्स*, अनविन हिमेन, बोस्टन एमए और लंदन.
2. जे.आर. हिक्स और डब्ल्यू. वेबर, (1973) *कार्ल मॅंगर ऐंड द ऑस्ट्रियन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स*, क्लैरंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. जे.आर. हिक्स (1975), 'मिस्टर कीस ऐंड द 'क्लासिक्स': अ सजेस्टिड इंटरप्रिटेशन', *इकॉनोमेट्रिका*, 5.
4. अल्फ्रेड मार्शल (1920), *प्रिंसिपल्स ऑफ़ इकॉनॉमिक्स*, मैकमिलन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## निष्क्रिय क्रांति

(Passive Revolution)

निष्क्रिय क्रांति इतालवी मार्क्सवादी चिंतक और सामाजिक सिद्धांतकार एंतोनियो ग्राम्शी के विमर्श की केंद्रीय धारणाओं में से एक है। फ्रांसीवादियों द्वारा कारागार में डाले जाने के बाद ग्राम्शी द्वारा किये गये जेल-लेखन में निष्क्रिय क्रांति की अवधारणा का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है : एक ऐसी क्रांति जिसमें आम जनता ने भागीदारी न की हो, और सामाजिक परिवर्तन की ऐसी प्रक्रिया जो बेहद मंथर गति से चली हो। इस अवधारणा का इस्तेमाल करके ग्राम्शी ने इतालवी फ्रांसीवाद का चरित्र समझने का प्रयास भी किया था। ग्राम्शी के अध्येताओं का मत है कि इसके सहारे न केवल पूँजीवादी बल्कि समाजवादी व्यवस्थाओं का विकास समझने की कोशिश भी की जा सकती है। भारतीय लोकतंत्र के विकास-क्रम की समझ के लिए पार्थ चटर्जी और सुदीप्त कविराज ने भी ग्राम्शी के इस विचार का प्रयोग किया है।

ग्राम्शी से पहले इटली के ही नियोपोलिटन रूढ़िवादी चिंतक विंसेंजो क्यूको ने निष्क्रिय क्रांति की धारणा का प्रयोग 1799 की इतालवी नियोपोलिटन क्रांति के वर्णन के लिए

किया था। इस क्रांति में फ्रांसीसी क्रांति की भाँति न तो व्यापक जन-भागीदारी थी और न ही इसके कारण ज़मीनी स्तर पर सामाजिक संबंधों में कोई उलट-फेर हुआ था। इस क्रांति में बाहरी ताकत की भूमिका फ्रांसीसी सेना ने निभायी थी जिसका सहारा लेकर पूँजीपति वर्ग का सचेत हिस्सा, अमूर्त क्रिस्म का चिंतन करने वाले बुद्धिजीवियों और कुछ जैकोबिन क्रिस्म के तत्त्वों ने क्रांति सम्पन्न की थी। इसीलिए क्यूको द्वारा इसे निष्क्रिय क्रांति की संज्ञा दी गयी।

ग्राम्शी की मान्यता थी कि रिसर्जिमेंटो (इटली का एकीकरण जिसके परिणामस्वरूप इटली एक आधुनिक पूँजीवाद राष्ट्र-राज्य के रूप में जन्मा) असल में एक निष्क्रिय क्रांति थी। इटली के एकीकरण के लिए दो प्रमुख राजनीतिक ताकतें सक्रिय थीं। मॉडरेट पार्टी और एक्शन पार्टी। इनमें से मॉडरेट पार्टी अपना राजनीतिक वर्चस्व कायम करने में कामयाब रही और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व उसके हाथ में चला गया। मॉडरेटों ने कैवर, पिएमोंट राज्य और उसकी सेना, नौकरशाही एवं व्यापारियों के साथ गठबंधन जैसा संबंध बनाकर वह पूँजीवादी क्रांति सम्पन्न की जिसे फ्रांस में जैकोबिनों ने आम-जनता और किसानों की मदद से पूरा किया था। वस्तुतः इतालवी पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि मॉडरेट पार्टी फ्रांसीसी क्रांति के जन-उफान से डरी हुई थी, इसलिए वह अपने आंदोलन के लिए समर्थन माँगने जनता के बीच जाने के लिए तैयार नहीं थी। वैसे भी उसे इस तरह का कार्यक्रम बनाने की ज़रूरत नहीं थी। कारण यह था कि उसने अपने कार्यक्रम सहयोगियों की आकांक्षाएँ प्रतिबिम्बित करने का पूरा ध्यान रखा था। मसलन, उसमें राष्ट्रीयता की बात की गयी थी, आस्ट्रिया को बाहरी शत्रु के रूप में चिह्नित किया गया था और चर्च के क्रब्जे से भूमि छुड़ाने का जिक्र था। दूसरी और मेज़िनी और गैरिबाल्डी की एक्शन पार्टी उदार-जनतांत्रिक धारा की प्रतिनिधि होने के बावजूद ऐसा कार्यक्रम बनाने में विफल रही जो आम जनता और किसानों की आकांक्षाओं और ज़रूरतों को प्रतिबिम्बित करते हुए उन्हें अपनी ओर खींचने और लामबन्द करने में सफल होता। नतीजतन, गैरिबाल्डी की पार्टी मॉडरेट पार्टी के समक्ष कोई चुनौती पेश नहीं कर सकी। राष्ट्रीय एकीकरण बिना जन-भागीदारी और इसी कारण जनाकांक्षाओं को जगह दिये बिना ही सम्पन्न हो गया। इसीलिए ग्राम्शी ने रिसर्जिमेंटो को 'क्रांति' रहित 'क्रांति' करार दिया।

यहाँ प्रश्न उठता है कि आखिर ग्राम्शी ने इसे क्रांति कहा ही क्यों? जान ए. डेविस के मुताबिक यदि वे इसे क्रांति नहीं कहते तो ख़ुद को दूसरे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल द्वारा अपनाये गये रास्ते 'पॉलिटिकल ग्रैजुएलिज्म' या राजनीतिक क्रमशःवाद के नज़दीक खड़ा पाते। वैसे भी, राष्ट्रीय एकीकरण इटली के एक पूँजीवादी राष्ट्र के रूप में उदय होने

की राह का कोई पहला नहीं बल्कि प्रत्यक्ष कारण था। एकीकरण ने राष्ट्र को जन्म दिया और फिर राष्ट्र के दायरे में उद्योगीकरण हुआ, पूँजीवादी जनतंत्र की स्थापना हुई और इटली यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों की श्रेणी में पहुँच गया।

ग्राम्शी ने निष्क्रिय क्रांति का दूसरा प्रयोग मंथर-गति से होने वाले परिवर्तन के अर्थ में किया। इसका संबंध पूँजीपति वर्ग की हुकूमत के क्रम जमाने से है। ग्राम्शी ने लिखा है कि निष्क्रिय क्रांति की संज्ञा का प्रयोग उस प्रक्रिया के लिए भी किया जा सकता है जिसके तहत सत्ता में आया पूँजीपति वर्ग पहले से विद्यमान ताकतों (मसलन, कुलीन वर्ग) और प्रतिस्पर्धी ताकतों को धीरे-धीरे कुंद कर देता है। रिसर्जिमेंटो के दौरान मॉडरेट पार्टी ने रैडिकल एक्शन पार्टी के प्रमुख तत्त्वों को आत्मसात कर उसे पंगु बना दिया और इस क्रम में उसका अपना भी कार्यांतरण हुआ। डेविस ने ग्राम्शी के इस विश्लेषण को रिसर्जिमेंटो के इतिहास में उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान कहा है।

ग्राम्शी ने निष्क्रिय क्रांति के अपने सूत्र के माध्यम से फ्रासीवाद को समझने की कोशिश भी की। जहाँ बोर्दिगा जैसे उनके वामपंथी साथी फ्रासीवादी परियोजना को युद्ध के बाद मजदूरों के शक्ति-प्रदर्शन से भयभीत पूँजीपति वर्ग की एक तात्कालिक तरकीब और इसी कारण क्षणभंगुर मान कर चल रहे थे, वहीं ग्राम्शी ने इसे उदारतावादी राज्य की निरंतरता के रूप में देखा। उनके मुताबिक जब बूर्जवा वर्चस्व कमजोर पड़ने लगता है और पूँजीवाद अपने ही संकटों से घिर जाता है तब वर्चस्व की दोबारा बहाली के लिए राज्य द्वारा सीधे हस्तक्षेपकारी भूमिका में आना एक तरह की निष्क्रिय क्रांति का ही नमूना है। कारण यह कि राज्य की ओर से किये जाने वाले उपायों में जन-भागीदारी नहीं होती। वे ऊपर से लादे जाते हैं। तीस के दशक में अमेरिका में छाया महामंदी से उबरने के लिए रूज़वेल्ट द्वारा अपनायी गयी नीति 'न्यू डील' एक निष्क्रिय क्रांति ही थी। इसी तरह, इटली में फ्रासीवाद का सत्ता पर क्राबिज होना और फ्रासीवादी तंत्र द्वारा इतालवी अर्थ-व्यवस्था में दूरगामी परिणाम लाने वाली नीतियाँ अपनाने को ग्राम्शी ने निष्क्रिय क्रांति के जरिये व्याख्यायित करने का प्रयास किया।

रोजर साइमन का मत है कि निष्क्रिय क्रांति की धारणा न केवल बूर्जवा बल्कि समाजवादी व्यवस्थाओं को समझने में भी काम आ सकती है। समाजवाद की ओर संक्रमण में मजदूर-वर्ग की रणनीति का चरित्र निष्क्रिय-क्रांति के विरोधी (एंटी-पैसिव रिवोल्यूशन) का होना चाहिए। यानी उसका यह भरसक प्रयत्न होना चाहिए कि जिस तरह की व्यवस्था के लिए वह संघर्षरत है उसमें वह अपने साथ अधिक-से-अधिक जन-समूहों को लामबन्द करे।

भारत का एक राष्ट्र-राज्य के रूप में निर्माण उपनिवेशवाद के विरोध की प्रक्रिया के तहत हुआ। पार्थ

चटर्जी ने भारतीय राष्ट्र-राज्य के निर्माण को निष्क्रिय क्रांति के सूत्रीकरण के तहत समझने का प्रयास किया है। इसी तरह का एक और प्रयास सुदीप्त कविराज के लेखन में देखने को मिलता है। सत्तर और अस्सी के दशक में भारतीय लोकतंत्र के घटनाक्रम ने कई मार्क्सवादी विश्लेषकों को अपने विचार बदलने पर मजबूर कर दिया था। हरित क्रांति के गर्भ से निकले धनी किसानों (ग्रामीण पूँजीपतियों) की बढ़ती हुई राजनीतिक ताकत और मँझोली व दलित जातियों की प्रबल होती हुई गोलबंदी उनकी पुरानी प्रस्थापनाओं में फिट नहीं बैठ रही थी। भारतीय राज्य को इन नये महत्त्वकांक्षी तबकों की माँगों के प्रति अनुक्रिया करते देख कर मार्क्सवादियों ने अपने विश्लेषण को और समृद्ध किया। उन्होंने पूँजीपतियों, धनी किसानों और अधिकारी-तंत्र को तीन प्रभुत्वशाली वर्गों के रूप में चिह्नित करके दिखाया कि उनके बीच होड़ और गठजोड़ की प्रक्रिया उस राजनीतिक स्पेस में चल रही है जिसकी बागडोर अपेक्षाकृत स्वायत्त भारतीय राज्य के हाथों में है। इस मॉडल को सुदीप्त कविराज ने सैद्धांतिक रूप दिया। उन्होंने 'पैसिव रेवोल्यूशन' की रोशनी में अपना सूत्रीकरण किया। कविराज के मुताबिक भारत का यह मॉडल एक संक्रमणकारी स्थिति का ही प्रतिनिधित्व कर रहा है। दूसरी ओर भारतीय राज्य के बदलते हुए चरित्र की सबसे ताजा शिनाख्त पार्थ चटर्जी ने राजनीतिक समाज की धारणा के सूत्रीकरण के जरिये की है। वे कहते हैं भारतीय राज्य अब स्वायत्त न रह कर कारपोरेट पूँजी के नैतिक-राजनीतिक वर्चस्व के तले आ गया है। उनके मुताबिक केंद्र और राज्यों की सरकारों पर नियंत्रण करने के लिए कारपोरेट पूँजी राजनीतिक दलों और चुनावी गोलबंदी के बजाय नौकरशाह-प्रबंधकों, मुद्रित व दृश्य-श्रव्य मीडिया और न्यायपालिका वगैरह का इस्तेमाल करती है। राजकीय क्षेत्र पर इस पूँजी का रुतबा इस क्रूर गालिब हो गया है कि मार्क्सवादी समेत तक्ररीबन सभी तरह की पार्टियाँ निजी निवेश पर आधारित तेज आर्थिक विकास की रणनीति पर सहमत हो गयी हैं। इस लिहाज से पार्थ चटर्जी सुदीप्त कविराज द्वारा अपनाये गये पैसिव रेवोल्यूशन वाले मॉडल से सहमत नहीं हैं।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख्तिन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट

ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजमिन, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, क्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. एंतोनियो ग्रांशी (2006), 'सिलेक्सन फ्रॉम दी प्रिजन नोटबुक्स', सम्पादित और अनूदित : क्विंटिन होअर और जी.एस. स्मिथ, ओरिएंट लॉगमैन, चेन्नई.
2. जॉन ए. डेविस (सम्पा.) (1979), 'ग्रांशी ऐंड इटलीज़ पैसिव रेवोल्यूशन', क्रूम होल, लंदन.
3. पार्थ चटर्जी (2010), 'द स्टेट', नीरजा गोपाल जयल और प्रताप भानु मेहता (सम्पा.), *द ऑक्सफर्ड कम्पेनियन टु पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, नयी दिल्ली.
4. सुदीप्त कविराज (1988), 'अ क्रिटीक ऑफ पैसिव रेवोल्यूशन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 23, अंक 45-7.

— विजय कुमार झा

## निरस्त्रीकरण

(Disarmament)

निरस्त्रीकरण का सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि युद्धों की मुख्य वजह हथियार होते हैं और उनके उन्मूलन या उनकी मात्रा में बेहद कमी कर देने से शांति उपलब्ध की जा सकती है। आज निरस्त्रीकरण का प्रस्ताव और उससे जुड़ी हुई प्रक्रिया का अध्ययन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अनुशासन के तहत किया जाता है। पर, समाज को हिंसा और अपराधों से मुक्त करने के मकसद से निरस्त्रीकरण का सहारा लेने की कोशिश के भी कई उदाहरण मौजूद हैं। मसलन, जापान की तोकुगावा शोगुन हुकूमत ने बंदूकों की संख्या में क्रमशः कटौती की नीति अपनाने का प्रयोग किया था। नतीजे के तौर पर आज जापान दुनिया का एक ऐसा देश है जो नागरिक इस्तेमाल के लिए न बंदूकें बनाता है और न ही आयात करता है, जबकि एक ज़माने में वहाँ प्रति व्यक्ति बंदूकों की संख्या दुनिया में शायद सबसे ज़्यादा हुआ करती थी। इसके ठीक उलट अमेरिका का उदाहरण है, जहाँ कैसी भी बंदूक रखने के लिए उसके अधिकतर राज्यों में किसी लाइसेंस की ज़रूरत नहीं होती। नतीजतन, अमेरिका के आलोचक मानते हैं कि यह समाज 'बंदूक और रोटी की संस्कृति' की भींच में फँसा हुआ है। अमेरिकी अर्थव्यवस्था हथियारों के विश्वव्यापी व्यापार से होने वाली आमदनी पर निर्भर है। इसलिए वहाँ की

मिलिट्री-इण्डस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स उत्तरोत्तर भारी-भरकम होता जा रहा है। निरस्त्रीकरण के संदर्भ में यह साफ़ कर देना ज़रूरी है कि उसे शस्त्र-नियंत्रण की अवधारणा से अलग करके देखा जाना चाहिए। निरस्त्रीकरण के पैरोकारों का दावा है कि हथियारों को पूरी तरह से प्रतिबंधित करने से ही शांतिपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की स्थापना हो सकती है। इसके विपरीत शस्त्र-नियंत्रण का उद्देश्य महज़ विनियमनकारी है। इसका मकसद शांति और परस्पर सौहार्द पर आधारित नयी विश्व-व्यवस्था बनाना नहीं हो सकता। इसके ज़रिये मौजूदा व्यवस्था को प्रबंधित ही किया जा सकता है, क्योंकि शस्त्र-नियंत्रण की संधियों के साथ-साथ हथियारों के प्रसार की प्रक्रिया भी चलती रहती है।

ऐतिहासिक रूप से निरस्त्रीकरण की दो परस्पर विपरीत परिघटनाओं की शिनाख्त की गयी है। पहली परिघटना युद्ध में जीतने वाली ताकतों द्वारा पराजित ताकतों पर निरस्त्रीकरण थोपने की है। इसका सबसे ताज़ा उदाहरण प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर हुई वरसाई संधि के रूप में देखा जा सकता है। 1919 में हुई इस संधि के तहत जर्मनी पर पाबंदी लगा दी गयी थी कि वह एक लाख से ज़्यादा सैनिकों की फ़ौज नहीं रख सकता। इस संधि पर दस्तखत करने के बाद जर्मनी किसी तरह की आक्रामक गतिविधियाँ करने की स्थिति में नहीं रह गया था। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद भी विजयी मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी और जापान पर इस तरह की पाबंदियाँ लगायी थीं। लेकिन निरस्त्रीकरण के इस परिप्रेक्ष्य के साथ दिक्कत यह है कि इसके नतीजे बहुत ख़राब निकलते हैं। वरसाई संधि के बाद जर्मनी ने अपने ऊपर लगी पाबंदियों से कतराने के लिए अपनी सीमाओं से बाहर के इलाकों में प्रशिक्षण कैंम्प और गोला-बारूद की फ़ैक्ट्रियाँ लगाने की योजना पर कामयाब अमल किया। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद शीत युद्ध की राजनीति के आग्रहों के तले ख़ुद अमेरिका ने पश्चिम जर्मनी और जापान की फ़ौजी ताकत बढ़ाने की भूमिका अदा की। साठ के दशक से अमेरिका और सोवियत संघ ने तनाव शैथिल्य (देतों) की नीति अपनायी जिससे निरस्त्रीकरण को कुछ बल मिला। सत्तर के दशक से साल्ट (स्ट्रैट्जिक आर्म्स लिमिटेशन ट्रीटी), स्टार्ट (स्ट्रैट्जिक आर्म्स रिडक्शन ट्रीटी) और एबीएम (एंटी बैलेस्टिक मिलाइल ट्रीटी) जैसी संधियाँ हुईं। लेकिन निरस्त्रीकरण की प्रक्रिया को शीत-युद्ध के दौरान तेज़ी से बढ़ी हथियारों की होड़ नुकसान पहुँचाती रही। दूसरी परिघटना स्वैच्छिक निरस्त्रीकरण की है। इसके तहत विभिन्न राष्ट्रीय सरकारें परस्पर स्वीकार्य शर्तों के आधार पर सभी पक्षों द्वारा निरस्त्रीकरण करने की संधि करती हैं। हालाँकि निरस्त्रीकरण का अंतिम तर्क सभी तरह के हथियारों का उन्मूलन ही हो सकता है, पर स्वैच्छिक निरस्त्रीकरण की योजना मुख्यतः दो तरह से सामने आती है।

पहली योजना आदर्शवादी क्रिस्म की है जिसे जर्नल एंड कम्प्लिट डिसआर्मामेंट की संज्ञा दी गयी है। इसका एक ताज़ा उदाहरण 1986 के रिक्वाविक शिखर सम्मेलन में सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचेव द्वारा रखा गया 1996 तक सभी आणविक बैलेस्टिक मिसाइलों का उन्मूलन करने का प्रस्ताव है। दिलचस्प बात यह है कि शिखर सम्मेलन के दूसरे पक्ष यानी अमेरिका के राष्ट्रपति रोनाल्ड रेगन भी इस पर राजी हो गये थे। यह दूसरी बात है कि ऐसी नौबत ही नहीं आयी, क्योंकि नब्बे के दशक की शुरुआत में ही सोवियत संघ का वजूद खत्म हो गया। लेकिन यह मानना पड़ेगा कि 1986 में इसी प्रस्ताव के कारण गोर्बाचेव की लोकप्रियता में काफ़ी इजाफ़ा हुआ था, क्योंकि उस समय कई प्रेक्षकों की मान्यता थी कि आणुविक होड़ खतरनाक रूप धारण करती जा रही है।

दूसरी योजना क्षेत्रीय निरस्त्रीकरण की है जिसके तहत एक खास भौगोलिक क्षेत्र से कुछ क्रिस्मों के हथियारों का उन्मूलन किया जाता है। आणुविक हथियार मुक्त क्षेत्र बनाने के प्रस्ताव इसके व्यावहारिक सबूत हैं। इस तरह के समझौतों में सबसे बड़ी दिक्कत यह आती है कि अगर किसी क्षेत्र में किसी एक देश ने आणुविक हथियार हासिल कर लिए तो फिर दूसरे देशों को इसी रास्ते पर चलने से नहीं रोका जा सकता। इसी वजह से दक्षिण एशियाई आणुविक मुक्त क्षेत्र बनाने के प्रस्ताव पर आज तक अमल नहीं हो सका। चूँकि भारत और पाकिस्तान के पास एटमी हथियार बनाने की क्षमताएँ हैं इसलिए नहीं लगता कि इस इलाक़े में एटमी निरस्त्रीकरण का मंसूबा कभी कामयाब होगा। लेकिन इसका मतलब यह भी नहीं निकाला जा सकता कि क्षेत्रीय निरस्त्रीकरण की सारी कोशिशें ही नाकाम हो गयी हैं। लातीनी अमेरिका 1967 के बाद से ही आणुविक परीक्षणों से मुक्त क्षेत्र इसी तरह की एक संधि के कारण बना हुआ है। इसी तरह 1959 की अंटार्कटिक संधि के कारण पिछली आधी सदी से अंटार्कटिक का न कोई फ़ौजी इस्तेमाल किया गया है और न ही वहाँ किसी भी तरह का आणुविक परीक्षण किया गया है। 1967 की एक संधि के कारण अंतरिक्ष को फ़ौजी गतिविधियों से मुक्त क्षेत्र बनाने में कामयाबी मिली है।

निरस्त्रीकरण सिद्धांत की व्यावहारिकता के आलोचक इन सफलताओं की अहमियत को संदेह की दृष्टि से देखते हैं। उनका कहना है किये सभी क्षेत्र सामरिक दृष्टि से गैर-महत्वपूर्ण हैं। अगर किसी वजह से हालात बदलते हैं और इन क्षेत्रों की अहमियत में भी परिवर्तन होता है, तो फिर इन संधियों के ज़रिये निरस्त्रीकरण पर अमल नामुमकिन हो जाएगा। इन आलोचकों का यह भी कहना है कि हथियारों की मौजूदगी को युद्ध का कारण मानना भी अपने-आप में प्रश्नांकित करने योग्य है। हथियारों को तो समस्या के लक्षण के रूप में देखना चाहिए, न कि उसके मूलभूत कारण के रूप

में। दूसरे, निरस्त्रीकरण के लिए होने वाली संधियों में हमेशा उनके कार्यान्वयन की पुष्टि न हो पाने की समस्या रहती है। अगर निरस्त्रीकरण की संधि में शामिल लोग हथियारों का ज़ख़ीरा भी बढ़ाते रहें तो विश्व शांति के लिए बेहद खतरनाक स्थिति पैदा हो सकती है।

निरस्त्रीकरण को मुख्यतः अव्यावहारिक मानने के कारण कई विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों की प्राथमिकता उसके शस्त्र-नियंत्रण, टकराव के निबटारे और किसी देश में किसी शस्त्र-प्रणाली पर पाबंदियाँ लगाने पर शोध करने में ज्यादा देखी जाती है। दरअसल, निरस्त्रीकरण एक ऐसा विषय है जिस पर बहुत ज्यादा साहित्य प्रकाशित नहीं हुआ है, और बहुत से लोग इस बारे में प्रकाशित क्लासिक पुस्तकों से वाकिफ़ भी नहीं हैं।

देखें : आदर्शवाद, आतंकवाद, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, इमैनुएल कांट, इतिहास का अंत, एडवर्ड हैलेट कार, जाति-संहार, तृतीय विश्व, द्वितीय विश्व-युद्ध, नस्लवाद, नव-उपनिवेशवाद, निर्भरता सिद्धांत, पेटेंट, प्रथम विश्व-युद्ध, प्रगति, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में पेटेंट क़ानून, रंगभेद, उपनिवेशवाद, यथार्थवाद, युद्ध, युरोपीय यूनियन, रचनात्मकतावाद, राजनय, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विश्व-सरकार, वि-उपनिवेशीकरण, सभ्यताओं का संघर्ष, सम्प्रभुता, संयुक्त राष्ट्र, साम्राज्यवाद, शक्ति-संतुलन, शांति, शांतिवाद, शस्त्र-नियंत्रण, हथियारों की होड़।

### संदर्भ

1. सेमूल मेलमान (सम्पा.) (1958), *इंस्पेक्शन फ़ॉर डिसआर्मामेंट*, कोलंबिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. अल्वा मिर्डाल (1978), *द गेम ऑफ़ डिसआर्मामेंट : हाउ द यूनाइटेड स्टेट्स एंड रशिया रन द आर्म्स रेस*, पेंथियन, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र

(Ethics and Economics)

क्या अर्थशास्त्र अपनी बुनियादी प्रकृति में एक नैतिक विद्या है? क्या उसकी आचरण संहिता नीतिशास्त्र के किन्हीं नियमों के तहत संचालित होती है? नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के उदय से पहले इन सवालों का जवाब साफ़ तौर से हाँ में दिया जा सकता था। लेकिन, जब से पॉल सेमुअलसन ने आर्थिक विश्लेषण को एक ऐसे अनुशासन के रूप में सूत्रबद्ध किया है जिसका प्राथमिक लक्ष्य न्यूनतम द्वारा अनुकूलतम परिणाम प्राप्त करने की विधि का पता करना हो, तभी से इन दोनों

शास्त्रों के बीच का संबंध बहसतलब हो गया है। दरअसल, नियोक्लासिकल सिद्धांत के तहत अर्थशास्त्र उत्तरोत्तर तकनीकी रूप लेता हुआ नैतिक प्रश्नों से अपना नाता तोड़ता जा रहा है। अगर किसी प्रणाली में परिवर्तन होता है तो उसके प्रभावों को अच्छा-बुरा बताये बिना इंजीनियरिंग की भाँति वह उनकी व्याख्या का प्रयास करता है। मसलन, अगर बाज़ार में दाम बढ़ गये हैं तो वह सिर्फ एक तथ्य का उल्लेख करेगा कि आपूर्ति कम हो गयी है। इस परिवर्तन से समाज पर सुख या दुःख के संदर्भ में पड़ने वाले प्रभाव पर वह कोई विचार करने के लिए तैयार नहीं होगा। नियोक्लासिकल सिद्धांत सम्पदा की प्रकृति, उत्पादन और वितरण की चर्चा करते समय नीति-अनीति के प्रश्नों से खुद को दूर रखता है। उसके पैरोकार अपने रवैये के पक्ष में जहाज़-निर्माण का उदाहरण देते हैं कि जहाज़ बनाने वाले उसकी रचना और रचना प्रक्रिया के प्रबंधन की चिंता करते हैं न कि जहाज़ की उपयोगिता की। कुल मिला कर गणितीय सूत्रों में खुद को व्यक्त करने वाला नियोक्लासिकल सिद्धांत अर्थशास्त्र को एक विधायक विज्ञान की तरह देखता है जिसके तहत वह महज़ एक विधि रह जाता है। एक विधायक विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र का नैतिकता से कोई लेना-देना नहीं रह जाता। वह नैतिक या अनैतिक के बजाय खुद को पूरी तरह से तटस्थ बताता है। उसका दावा होता है कि उसके निर्णय व्यक्तिपरक न हो कर वस्तुनिष्ठ होते हैं।

नियोक्लासिकल बोलबाले की आड़ में यह ऐतिहासिक तथ्य छिप जाता है कि अधिकांश अर्थशास्त्र नैतिक दर्शन से ही प्रवाहित हुआ है। किसी ज़माने में उसे अनैतिक या नैतिक रूप से तटस्थ विज्ञान करार दिये जाने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। अरस्तू, ऐडम स्मिथ, जॉन स्टुअर्ट मिल और मार्क्स जैसे दार्शनिकों और युगप्रवर्तक विद्वानों ने आर्थिक प्रश्नों पर समाज और व्यक्ति की खुशहाली के संदर्भ में ही विचार किया था। एडिनबरा और केम्ब्रिज जैसे ब्रिटिश विश्वविद्यालयों में तो अर्थशास्त्र की पढ़ाई ही नैतिक दर्शन के तहत होती थी। दिलचस्प बात यह है कि नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र के संस्थापक अल्फ्रेड मार्शल और डब्ल्यू.एस. जेवंस ने भी अपने ज़माने में गरीबी के प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए अर्थशास्त्र के अध्ययन में रुचि ली थी। वे अर्थशास्त्रियों के अंतःकरण को स्पर्श करना चाहते थे। 1885 में मार्शल ने केम्ब्रिज में अपना उद्घाटन भाषण देते हुए कहा था कि उनका उद्देश्य ऐसे स्नातकों का निर्माण करना है जिनके पास ठंडा दिमाग और भावावेशित हृदय हो।

अर्थशास्त्र का इतिहास बताता है कि उसके और नीतिशास्त्र के बीच संबंधों में तब्दीली की धीमी आहटें क्लासिकल अर्थशास्त्र के युग में ही सुनायी देने लगी थीं। स्मिथ ने अपनी रचना *वेल्थ ऑफ़ नेशंस* में स्व-हित में दिलचस्पी रखने वाले आर्थिक कर्ता को केंद्र में रखा था। डेविड ह्यूम का दावा था कि तथ्य और मूल्य न सिर्फ अलग-

अलग होते हैं बल्कि उन्हें ऐसा होना भी चाहिए। ह्यूम के इस सूत्रीकरण में तथ्यात्मक, प्रत्यक्षवादी और आनुभविक आर्थिक विज्ञान और मानकीय (नॉर्मेटिव) आर्थिक विज्ञान के बीच अलगाव की सम्भावनाएँ निहित थीं। आर्थिक प्रणाली का अमूर्त मॉडल रचने की कोशिश डेविड रिकार्डो ने ही शुरू की थी। मार्क्स और उनके साथियों के बीच अर्थशास्त्र में गणित के इस्तेमाल को लेकर चर्चा हुई थी, और वे कमोबेश इस नतीजे पर पहुँच गये थे कि गणितीय सूत्रों के प्रयोग के बिना अर्थशास्त्र को एक समुचित विज्ञान में नहीं बदला जा सकता। दूसरी तरफ़ यह भी एक तथ्य है कि ये सभी विद्वान अर्थशास्त्र को नीतिशास्त्र से अलग करने के पक्ष में नहीं थे। स्मिथ द्वारा प्रवर्तित स्व-हित में दिलचस्पी रखने वाले आर्थिक कर्ता और स्वार्थी क्रिस्म के आर्थिक कर्ता में फ़र्क आसानी से किया जा सकता था।

अर्थशास्त्र व्यक्तियों के व्यवहार और सामूहिकताओं (फ़र्मों और सरकारों) के व्यवहार में फ़र्क करता है। लेकिन नैतिकता परोपकार पर ज़ोर देती है इसलिए नीतिशास्त्र के मुताबिक अर्थशास्त्र को इन सभी आर्थिक कर्ताओं के लिए परोपकार करने के कर्तव्य निर्धारित करने चाहिए। इसके मुताबिक एक उत्पादक, उपभोक्ता या बचतकर्ता के रूप में इन सभी आर्थिक एजेंटों को अपने सामने मौजूद कुछ विकल्पों में एक का चयन करना पड़ेगा जिसके नतीजे अच्छाई (उचित) या बुराई (अनुचित) में निकलेंगे। इस संबंध में व्यक्तियों से भी ज्यादा प्रभाव सामूहिकताओं द्वारा किये जाने वाले चयन का होगा। उत्पादन और निवेश संबंधी उनके फ़ैसलों से वर्तमान और भविष्य में लोगों और समाज का जीवन प्रभावित होता है। फ़र्मों और सरकारों द्वारा लिए गये वेतन और भत्ते संबंधी निर्णयों से आमदनी का बँटवारा तय होगा। व्यावहारिक स्थिति यह है कि फ़र्मों से भी ज्यादा सरकारों द्वारा लिए जाने वाले राजकोषीय, वाणिज्यिक और निवेश फ़ैसलों से आर्थिक जीवन पर गहरा असर पड़ता है। इन्हीं सब कारणों से नियोक्लासिकल प्रत्यक्षवाद के दावों के बावजूद अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के आपसी संबंधों को दरकिनार नहीं किया जा सकता।

इस रिश्ते की समझ बनाने में कई तरह के सिद्धांतों ने योगदान किया है जिनमें उपयोगितावाद और मार्क्सवाद का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। सामाजिक समझौते के हामियों ने भी इसमें हाथ बँटाया है। हॉब्स और रूसो की शुरुआती सामाजिक समझौतापरक प्रस्थापनाओं के बाद जॉन रॉल्स द्वारा प्रतिपादित अधिकारों के विमर्श ने आर्थिक जीवन में नीतिशास्त्र के महत्त्व को स्थापित करने की भूमिका निभायी है। उपयोगितावाद और मार्क्सवाद व्यक्ति के बजाय सामाजिकता और सामूहिकता पर ज़ोर देते हैं, और उसी संदर्भ में असमानता और वंचनाओं की व्याख्या करते हैं। ये दोनों विचारधाराएँ सामाजिक पूँजी को उच्चतर महत्त्व देती हैं, और बाज़ार की नियंत्रणहीन गतिविधियों की जगह लोकोपकारी

नीतियों की वकालत करती हैं।

अर्थशास्त्र की कई शाखाओं में नैतिक प्रश्नों के आलोक में नीतियों पर चर्चा होती रही है : चाहे आमदनी के वितरण का सवाल हो, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र हो, प्रतियोगिता के प्रश्न हों या फिर संसाधनों की किल्लत का मामला हो। इसी के साथ शोषण की अवधारणा भी नैतिक प्रश्न को पूरे आवेग के साथ उठाती है। मार्क्स द्वारा प्रतिपादित अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत इसका सबूत है। इजारेदार पूँजीवाद का अध्ययन बताता है कि किस तरह एकाधिकारवादी स्थितियाँ समाज की क्रीमत पर बेतहाशा मुनाफे का सृजन करती हैं। आर्थिक नैतिकता बताती है कि फ़र्में, सरकारें और व्यक्ति नियंत्रणहीन स्थिति में एक-दूसरे का शोषण करने की तरफ़ चले जाते हैं।

नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र के संबंधों को इस प्रकार पेश किया जा सकता है : आर्थिक कर्ताओं की नैतिकता उनके आचरण को प्रभावित करती है और इस प्रकार आर्थिक परिणामों पर असर डालती है। दूसरी तरफ़ से अर्थशास्त्री के अपने नैतिक दृष्टिकोण का नैतिकता और दूसरों के व्यवहार पर असर पड़ता है। ये प्रक्रियाएँ जाने-अनजाने रूप में चलती रहती हैं। चूँकि अर्थशास्त्री परिणामों में रुचि रखते हैं, इसलिए उन्हें लाजमी तौर पर उनकी नैतिकता में भी रुचि रखनी चाहिए। कल्याणकारी अर्थशास्त्र नैतिक प्रश्नों में रुचि रखे बिना एक क्रदम भी नहीं चल सकता। सार्वजनिक नैतिकता के आर्थिक पहलुओं पर गौर किये बिना सार्वजनिक नीति का विकास ही नहीं हो सकता। अर्थशास्त्र चाहे तथ्यपरक और प्रत्यक्षवादी हो, या फिर मानकीय, उनकी सीमाएँ हमेशा परस्परव्यापी होती हैं। प्रत्यक्षवादी अर्थशास्त्र को भी प्रासंगिक होने के लिए अंततः किन्हीं न किन्हीं नैतिक मूल्यों पर आधारित होना पड़ता है।

**देखें :** अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजन, निर्यात, निर्यात, निर्यात : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी

अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटी, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

## संदर्भ

1. डी.एम. हाउसमान और एम.एस. मेकफ़र्सन (1993), 'टेकिंग इथिक्स सीरियसली : इकॉनॉमिक्स ऐंड कंटेम्पेरी मॉरल फ़िलॉसफी', *जरनल ऑफ़ इकॉनॉमिक लिटरेचर*, 31.
2. आई.एम.डी. लिटिल (2002), *इथिक्स, इकॉनॉमिक्स ऐंड पॉलिटिक्स : प्रिंसिपल्स ऑफ़ पब्लिक पॉलिसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. जे.एफ़. हेनरी (1990), *द मेकिंग ऑफ़ नियोक्लासिकल इकॉनॉमिक्स*, अनविन हिमेन, बोस्टन एमए और लंदन.
4. अल्फ्रेड मार्शल (1920), *प्रिंसिपल्स ऑफ़ इकॉनॉमिक्स*, मैकमिलन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## नीरा देसाई

(Neera Desai)

स्वतंत्र भारत में जिन कई प्रतिभा सम्पन्न विदुषियों ने स्त्रियों की आर्थिक-सामाजिक दशा सुधारने के लिए तन्मयता और समर्पण से काम किया, उनमें समाजशास्त्री नीरा देसाई (1925-2009) का नाम उल्लेखनीय है। नीरा देसाई ने स्वतंत्र भारत में लोकतांत्रिक व्यवस्था के संस्थानीकरण में अभूतपूर्व योगदान दिया और स्त्रियों से संबंधित विषयों के अध्ययन के लिए न केवल कई संस्थान स्थापित किये, बल्कि स्त्री-अध्ययन को भारत की विश्वविद्यालयीय शिक्षा-शोध का एक अहम हिस्सा भी बनाया। 1954 में मुम्बई के एसएनडीटी स्त्री विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में नवनियुक्त प्राध्यापक नीरा देसाई ने अपनी अधिकतर छात्राओं को स्त्री-अधिकारों जैसे मूल प्रश्नों पर बिलकुल मौन पाया। अपने विद्यार्थियों की इस उदासीनता ने ही नीरा को स्त्रियों की समस्याओं का तार्किक विश्लेषण करने को प्रेरित किया। उन्हें भारतीय नारी आंदोलन की प्रणेताओं में से एक माना जाता है। समाजशास्त्र में अपने शोध के दौरान नीरा देसाई ने भारत में स्त्रियों की भूमिका के आर्थिक, मानवशास्त्रीय और ऐतिहासिक पहलुओं की जाँच की। 1957 में जब उनकी रचना *वुमॅन इन मॉडर्न इण्डिया* का प्रकाशन हुआ तो इस पुस्तक को भारतीय



नीरा देसाई (1925-2009)

स्त्रियों की स्थिति पर लिखा गया एक मौलिक ग्रंथ माना गया। 1950 के आरम्भिक वर्षों में नीरा ने जो लिखा उसे 1970 के बाद स्त्री-अधिकारों के आंदोलन ने पूरी तरह सही साबित किया। नीरा देसाई के लिए अकादमिक उद्यम और सक्रिय एक्टिविज्म एक साथ चलते थे और भारत में नारी अधिकार आंदोलनों में विद्वत्ता और सक्रियतावाद का सामंजस्य करने वालों की वे पथ-प्रदर्शक थीं।

नीरा के अनुसार एक लड़की शिक्षा के माध्यम से आत्मसम्मान, समझदारी, निष्पक्षता और ज्ञान जैसे मूल्यों को आत्मसात करती है। एक नागरिक के रूप में अपना अस्तित्व पहचानती है ताकि एक वांछित सामाजिक परिवर्तन में भूमिका निभा सके। नीरा के अनुसार स्त्रियों की शिक्षा उनमें सामाजिक उद्देश्य की पहचान और सामाजिक और राष्ट्रीय विकास में अहम भूमिका निभाने की योग्यता प्रदान करती है। उन्होंने प्रस्ताव किया कि स्त्री विश्वविद्यालय का मकसद केवल स्त्रियों के करियर को बढ़ावा देने के लिए पाठ्यक्रम चलाने का ही न हो, बल्कि उसे इस बात का भी अध्ययन करना चाहिए कि देश में स्त्रियों की अवस्था कैसी है।

1972 में नीरा देसाई को भारत में स्त्रियों की दशा का विश्लेषण करने के लिए गठित की गयी समिति में शामिल किया गया। 1974 में इस समिति ने भारत में पहली बार स्त्रियों की स्थिति पर एक विस्तृत रिपोर्ट *समानता की ओर*

का प्रकाशन किया। इसी साल नीरा देसाई ने भारतीय शिक्षा में एक नयी क्रांति का सूत्रपात किया जब उन्होंने एसएनडीटी स्त्री विश्वविद्यालय में स्त्रियों से संबंधित अध्ययन पर एक अनुसंधान केंद्र की स्थापना की। अपनी स्थापना के साथ ही यह अनुसंधान केंद्र अन्य शैक्षणिक संस्थाओं के लिए प्रेरणा स्रोत और अनुकरणीय उदाहरण बन गया।

1981 में जिन स्त्री-विचारकों ने स्त्रियों से संबंधित अध्ययन पर पहला राष्ट्रीय अधिवेशन आयोजित किया था, उनमें नीरा देसाई अग्रणी भूमिका में थीं। स्त्री-अध्ययन को विश्वविद्यालयों में एक विशिष्ट अनुशासन के रूप में विकसित करने के लिए नीरा देसाई ने स्वयं इसके पाठ्यक्रम, अध्ययन सामग्री, मौलिक शोध सामग्री और नारीवादी शिक्षण शास्त्र (फ़ेमिनिस्ट पैडागॉजी) की विषयवस्तु तैयार की। नीरा देसाई ने इस अध्ययन को भारतीय परिवेश के अनुरूप इस तरह ढाला कि यह अमेरिका या युरोप में प्रचलित अध्ययन-अध्यापन से बिलकुल अलग हो गया। 1982 में गठित इण्डियन एसोसिएशन ऑफ़ वुमंस स्टडीज़ की नीरा देसाई संस्थापक सदस्य थीं। 1988 में उन्होंने स्पैरो (साउंड एंड पिक्चर आर्काइव ऑन वुमॅन) की स्थापना की। इस अद्वितीय संस्थान का उद्देश्य ऐसा लेखागार बनाना था जो स्त्रियों के लिखित, मौखिक, फ़ोटो, फ़िल्म जैसे इतिहास को सहेज सके।

नीरा देसाई ने भारत में औरतों के अधिकारों के लिए संघर्षरत युवा नारीवादी बुद्धिजीवियों को केवल थोथे ज्ञान के स्थान पर वास्तविकता से जुड़े ऐसे बौद्धिक संसाधन विकसित करने के लिए कहा जो समाज के लिए उपयोगी और प्रासंगिक हों। स्त्री-अध्ययन का विकास स्त्रियों की संवेदनाओं, प्रवृत्तियों और दृष्टिकोण के अनुरूप करने के लिए उन्होंने पंचमहाभूतशिक्षण, प्रशिक्षण, दस्तावेज़ लेखन, अनुसंधान, और अभियान जैसे तत्त्व गिनाये। स्त्री-आंदोलन के आरम्भिक व अनिश्चित दिनों में भारत की युवा स्त्री अनुसंधानकर्ताओं और कार्यकर्ताओं को नीराबेन देसाई ने असीमित प्रोत्साहन, मार्गदर्शन और समर्थन दिया।

एक सजग सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में नीरा देसाई नर्मदा बचाओ आंदोलन, काश्तकारी संगठन और मानवाधिकार तथा स्त्री-अधिकारों के लिए संघर्षरत कई संगठनों से जुड़ी रहीं। वे भारत की क्षेत्रीय भाषाओं में स्त्री समस्याओं पर नवीनतम लेखन की कमी से अवगत थी और इसलिए उन्होंने बहुत से लेखन का गुजराती तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद भी किया। नीरा देसाई ने गुजराती में अत्यंत सरल भाषा में *स्त्री अभ्यास श्रेणी* नामक शृंखला में स्त्री-आंदोलन के बारे में पुस्तकें प्रकाशित कीं।

1925 में एक मध्यम वर्गीय गुजराती परिवार में जन्मी नीराबेन के माता-पिता उदार और प्रगतिशील विचारों के थे।

उनकी माँ अनुसुईया ने उन्हें घर से बाहर की दुनिया देखने को प्रोत्साहित किया तो पिता भद्राजी बलदेवजी ध्रुव ने उनकी शिक्षा एवं चरित्र निर्माण पर विशेष ध्यान दिया। मुम्बई में नीरा को एनी बेसेंट के दर्शन से प्रभावित थियोसोफिस्ट फ़ैलोशिप स्कूल में पढ़ायी के साथ राष्ट्रवादी विचारों की शिक्षा भी मिली और आस-पड़ोस से उन्होंने राजनीतिक और साम्प्रदायिक मुद्दों के बारे में सीखा। एक स्कूली छात्रा के रूप में भी नीराबेन ने अपनी सहपाठिनों मंदाकिनी (बाद में कुन्निकल नारायण) और उषा मेहता (जिन्होंने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के लिए एक भूमिगत रेडियो शुरू किया था) के साथ सक्रिय रूप से गाँधी द्वारा गठित वानर सेना के लिए काम किया। 1942 में नीरा ने अपनी पढ़ाई के लिए मुम्बई के एल्फिस्टन कॉलेज में प्रवेश तो लिया लेकिन उसी समय भारत छोड़ो आंदोलन शुरू हो गया। नीरा इस आंदोलन में कूद पड़ीं। परिणामस्वरूप उन्हें कुछ समय के लिए कारावास में रहना पड़ा। अपने जेल प्रवास के दौरान नीरा का ऐसी स्त्रियों से सम्पर्क हुआ जो स्त्री-सशक्तीकरण से सम्बद्ध समस्याओं पर ज़मीनी काम कर रही थीं। भविष्य में अपने नारीवादी अभियान के लिए नीरा देसाई ने इन अनुभवों से प्रेरणा ग्रहण की।

भारत में स्त्री-अधिकारों के लिए नीरा देसाई ने जिस स्वतंत्रता संग्राम का सूत्रपात किया था वह अब भी जारी है। इस संघर्ष के लिए नीरा देसाई कई सक्रिय संस्थान अपने पीछे छोड़ गयी हैं।

**देखें :** अरुणा आसफ़ अली, आनंदीबाई जोशी, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन में स्त्री-नेतृत्व-1 और 2, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दलित-नारीवाद, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, महादेवी वर्मा, दुर्गाबाई देशमुख, संतोष कुमारी देवी, सावित्रीबाई फुले।

## संदर्भ

1. नीरा देसाई व उषा ठक्कर (2011), *वुमॅन इन इण्डियन सोसाइटी, नैशनल बुक ट्रस्ट, नयी दिल्ली*.
2. विभूति पटेल, 'नीरा देसाई (1925-2009) : पायनियर ऑफ़ वुमॅन स्टडीज़ इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 44, अंक 28.
3. मैत्रेयी कृष्णराज (2009), 'ए होमेज टू नीराबेन', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 44, अंक 36.
4. नीरा देसाई, 'द मेकिंग ऑफ़ अ फ़ेमिनिस्ट', *इण्डियन जर्नल ऑफ़ जेंडर स्टडीज़*, खण्ड 2, अंक 2.

— रवि दत्त वाजपेयी

## नेटवर्क

(Network)

नेटवर्क की अवधारणा सूचना-क्रांति के मर्म में है। तकनीकी रूप से नेटवर्क आपस में जुड़ी उन प्रणालियों का नाम है जिनके भीतर चुनिंदा सूचना-सामग्री का आदान-प्रदान किसी निश्चित उद्देश्य के तहत किया जाता है। नेटवर्क पर कोई सत्ता और संस्थागत कोटिक्रम लागू नहीं होता। प्रौद्योगिकी और उसके नियमों की समझ रखने वाला कोई भी व्यक्ति नेटवर्क तक पहुँच सकता है। नेटवर्क एक खुली संरचना है जिसका सीमाहीन विस्तार सम्भव है। इंटरनेट अपने-आप में एक ऐसे ही बेहद विशाल और विकेंद्रीकृत संचार नेटवर्क का उदाहरण है जिसे भूमण्डलीय पैमाने पर 'नेटवर्कों का नेटवर्क' कहा जाता है। लेकिन, इतना बताने भर से नेटवर्क के समाजवैज्ञानिक मायने साफ़ नहीं होते। कम्प्यूटर इंजीनियरिंग ने विभिन्न कम्प्यूटरों और सहयोगी इकाइयों के आपसी जोड़ के रूप में इस पद का प्रयोग शुरू किया था। समाज-विज्ञान ने इसे वहीं से लिया और फिर इस पद के इर्द-गिर्द मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के दायरों में गम्भीर चिंतन-मनन होने लगा।

अस्सी के दशक के उत्तरार्ध में समाज को नेटवर्कों के एक समुच्चय के रूप में कल्पित किया गया। नब्बे के दशक में सूचना-क्रांति के कारण हो रही व्यापक तब्दीलियों के मद्देनज़र राष्ट्र-राज्य द्वारा स्थापित सीमाओं का उल्लंघन करने वाली 'नेटवर्क-सोसाइटी' की अवधारणा सूत्रबद्ध की गयी। इसके पीछे एक नये क्रिस्म के पूँजीवादी समाज की कल्पना थी जो अधिक लचीला, विकेंद्रित और व्यक्तिवादी रुझानों वाला होगा। नेटवर्क संबंधी चिंतन से ही 'सोशल नेटवर्किंग' और 'एक्टर-नेटवर्क' की धारणाएँ निकली हैं। लगभग एक ही समय (नब्बे के दशक के मध्य में) सूत्रीकृत किये जाने और परस्पर संबंधित होने के बावजूद समाजशास्त्र में इन तीनों विचारों की अलग-अलग जगह है। समाज-विज्ञान नेटवर्क को नये सामाजिक विन्यास के सूचक के रूप में देखता है जिसकी प्रकृति पर व्यक्तिवादी संस्कृति हावी है, और जो लोगों, जिंसों, पूँजी, संकेतों और सूचनाओं की भूमण्डलीय गतिशीलता सुलभ कराता है। आज नेटवर्क की अभिव्यक्ति वैज्ञानिक और अकादमीय हलकों के बाहर लोकप्रिय रूपक की शकल अख़्तियार कर चुकी है जिसका इस्तेमाल मनमाने ढंग से किसी भी संदर्भ में किया जाता है।

नया मीडिया डिजिटल प्रौद्योगिकी का पर्याय है और डिजिटल उपकरणों की ख़ास बात यह होती है कि वे अकेले काम करने के लिए मजबूर नहीं होते। वे सहजता और



स्वाभाविकता के साथ परस्पर जुड़ जाते हैं, और उनका यह इंटरफेस नेटवर्क का रूप ले लेता है। ये नेटवर्क कई तरह के हो सकते हैं। किसी एक इमारत या किसी छोटे से भौगोलिक क्षेत्र में लोकल एरिया नेटवर्क (एलएएन) या इन्टरनेट के जरिये कम्प्यूटर आपस में जुड़ कर नेटवर्क बना सकते हैं। यह इलाका किसी नगर पालिका, किसी राज्य, देश या कई देशों को मिला कर बनने वाला विशाल क्षेत्र भी हो सकता है (डब्ल्यूएन यानी वाइड एरिया नेटवर्क)। बड़ा हो या छोटा, हर नेटवर्क का एक आधारभूत स्थापत्य होता है जिसे टोपोलॉजी कहते हैं। जितने कम्प्यूटर और उपकरण आपस में जुड़े होंगे, यह टोपोलॉजी उतनी ही जटिल होगी। अर्थात् नेटवर्कों को उनकी शकल-सूरत के आधार पर वर्गीकृत किया जा सकता है। पहली क्रिस्म है स्टार टोपोलॉजी की जिसमें एक मुख्य कम्प्यूटर केंद्र में होता है और अपने साथ जुड़े अन्य उपकरणों के बीच होने वाले डेटा (सूचना सामग्री) के विनिमय की लगाम उसी के हाथों में रहती है। दूसरी क्रिस्म है रिंग टोपोलॉजी जिसके तहत कम्प्यूटर और अन्य उपकरण वृत्ताकार जुड़ कर सिर्फ एक-दूसरे को ही सम्बोधित करते हैं। डिजिटल म्यूज़िक के क्षेत्र में यह टोपोलॉजी अधिक प्रचलित है। एमआईडीआई (म्यूज़िकल इंस्ट्रूमेंट डिजिटल इंटरफेस) के तहत एक प्रधान उपकरण अपनी मातहत इकाइयों के साथ संचार-संबंध कायम करता है। एमआईडीआई की मिसाल बताती है कि विभिन्न उपकरणों के बीच समरसता कायम करने में कामयाबी कैसे मिली। अस्सी के दशक की शुरुआत में अलग-अलग कम्पनियों द्वारा बनाये गये डिजिटल म्यूज़िक सिंथेसाइज़रों के बीच जुड़ाव नहीं हो पाता था। उनकी आंतरिक डिज़ाइन अलग-अलग होने के कारण संगीतकारों को काम करने में बहुत दिक्कत होती थी। इस समस्या से निबटने के लिए विभिन्न निर्माताओं ने एमआईडीआई प्रोटोकाल तैयार किया। 1982 में इसे बाकायदा लिखा गया और उसके बाद उसे सिंथेसाइज़र बनाने वाली प्रौद्योगिकी में अनिवार्यतः शामिल किया जाने लगा। इस परिवर्तन ने एक क्षण में पॉप म्यूज़िक के नजारे को बुनियादी रूप से बदल डाला। यह एक स्वैच्छिक प्रोटोकाल था जिसका आज भी अनुपालन किया जाता है।

कई तरह की टोपोलॉजीज़ को मिला कर एक इस तरह का नेटवर्क बनता है जो अक्सर इंटरनेट प्रयोग करने वालों के काम आता है। जैसे : डेटा स्टोर करने के लिए एक नेटवर्क, एक निश्चित इलाके के साथ संचार स्थापित करने के लिए उसका जुड़ाव और इंटरनेट तक पहुँच के लिए कई तरह के सर्वरों से उसका सम्पर्क।

ज़ाहिर है कि एक पेचीदा नेटवर्क आम तौर पर कई तरह की टोपोलॉजीज़ का संगम होता है। उसके उचित संचालन के लिए कुछ मानकों या आचार संहिताओं

(प्रोटोकाल) की आवश्यकता पड़ती है। अगर प्रोटोकाल नहीं होगा तो मीडिया के विभिन्न रूपों के बीच समरसता (कॉम्पेटिबिलिटी) नहीं होगी। यह इसलिए आवश्यक है कि मीडिया उपकरण बाज़ार में अलग-अलग निर्माताओं द्वारा बनाये जाते हैं, कम्प्यूटरों के लिए अलग-अलग स्थापत्य और लेंग्वेजिज़ का इस्तेमाल किया जाता है। लाखों-करोड़ों उपकरणों को आपस में जोड़ने वाले इंटरनेट जैसा मेटा-नेटवर्क (महा-नेटवर्क) चल ही नहीं सकता अगर एक निश्चित प्रोटोकाल के तहत इन उपकरणों में आपसी संवाद सम्भव न हो। संचार में शामिल सभी पक्षों को इन नियमों का पालन करना पड़ता है। इनके संकेताक्षरों के पीछे 'पी' अक्षर होता है। जैसे : एफटीपी, टीसीपी, आईपी और एचटीटीपी।

नेटवर्क अगर जटिल क्रिस्म का है तो उसे चलाने के लिए एक नहीं बल्कि कई संहिताओं की ज़रूरत होगी ताकि संचार प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों का ठीक से प्रबंधन किया जा सके। ऐसा सबसे मशहूर मॉडल ओएसआई या ओपन सिस्टम इंटरकनेक्शन रिफ़रेंस मॉडल है जिसका सूत्रीकरण मानकीकरण के अंतर्राष्ट्रीय संगठन (आईएसओ) ने सत्तर के दशक में किया था। इंटरनेट की डिज़ाइन इसी पर आधारित है। इसके तहत नेटवर्क प्रणाली को सात परस्पर संबंधित परतों में बाँट दिया जाता है। हर परत अलग-अलग काम करती है और अपने से ऊपर और नीचे की परतों से सम्पर्क बनाये रखती है। वैसे तो सभी परतें अपने-अपने हिस्से में आये सभी तरह के काम करती हैं, पर ऊपरी परतें ज़्यादातर नेट का इस्तेमाल करने वालों को सेवा मुहैया कराने, विभिन्न एप्लीकेशन प्रोग्रामों और गतिविधियों के साथ काम करने की ज़िम्मेदारी निभाती हैं। निचली परतों के पास वास्तविक सूचना-संचार का दायित्व रहता है। नेट सर्फ़िंग कर रहे व्यक्ति को लगता है कि उसका वास्ता केवल सबसे ऊपर काम कर रही परत से है जो उसे ई-मेल या सर्वरों और मशीनों के बीच डेटा के दैनंदिन विनिमय की सुविधा प्रदान कर रही होती है। उसे नहीं पता होता कि उस परत के नीचे छह अन्य परतें प्रजेंटेशन, सेशन, ट्रांसपोर्ट, नेटवर्क, डेटा लिंक और फ़िज़िकल हार्डवेयर से संबंधित काम में जुटी हुई हैं जिससे सूचना-सामग्री नीचे की तरफ़ सम्पीडित की जा रही है ताकि वह किसी नेटवर्क के हार्डवेयर से गुज़रती हुई उसके अगले सिरे पर फिर से जमा हो सके और इस प्रक्रिया में कम से कम शोरगुल हो और कम से कम विकृतियाँ पैदा हों।

इस संरचना के प्रत्येक स्तर पर विभिन्न प्रोटोकाल काम करते हैं जिनके कारण ये परतें आपस में संवाद करते हुए पूरी प्रणाली को चला पाती हैं। इस विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि नेटवर्क एक स्पष्ट आंतरिक स्थापत्य के आधार पर चलते हैं। उनका संचालन कुछ सार्वभौम नियमों और मानकों के तहत होता है। ऐसा न होने की सूरत

में नेटवर्क में शामिल विभिन्न प्लेटफॉर्मों और प्रणालियों के बीच किसी भी तरह की सुसंगत अन्योन्यक्रिया सम्भव ही नहीं हो पायेगी।

नेटवर्क के तकनीकी पहलुओं पर गौर करने के बाद समाज-विज्ञान में नेटवर्क संबंधी बहस के केंद्रीय मुद्दे पर भी विचार करना आवश्यक है। क्या नेटवर्क को केवल एक अवधारणा के तौर पर ही लिया जाना चाहिए ताकि उसके माध्यम से व्यक्तियों, प्राणियों या मशीनों के बीच बने संचार-सूत्रों को व्यक्त किया जा सके? क्या अवधारणा के तौर पर नेटवर्क को उसकी भौतिक संरचना से अलग किया जा सकता है? क्या इस हकीकत को अनदेखा किया जा सकता है कि इस सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना का उद्गम तो तकनीकी और प्रौद्योगिकीय है? क्या नेटवर्क पर विचार करते समय तारों, केबलों, सरकिटों, कम्प्यूटरों के बिम्बों को पूरी तरह से खारिज करना मुमकिन है? चूंकि नेटवर्क को उसके इन स्रोतों से पूरी तरह पृथक करके देखना सम्भव नहीं है, इसलिए अधिकतर समाज-वैज्ञानिकों ने उसे एक ऐसी उदीयमान शै के रूप में ग्रहण किया है जो जटिल, अ-रैखिकीय, विकेंद्रित और कोटिक्रमहीन है। इसका नतीजा नेटवर्कों को नियंत्रित करने वाली राजनीतिक-आर्थिक ताकतों की संरचना और उनके इरादों पर बहुत कम विचार के रूप में निकला है। इस पहलू पर भी अभी गौर नहीं किया गया है कि नेटवर्कों को चलाने वाले प्रोटोकाल किसी न किसी कोटिक्रम पर आधारित होते हैं। नेटवर्कों के दायरे में काम करने वाली सत्ता, पहुँच और नियंत्रण की संरचनाओं पर अनुसंधान होना अभी बाक़ी है।

**देखें :** अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क सोसाइटी, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

## संदर्भ

1. डी. कॉर्नर (2004), *कम्प्यूटर नेटवर्क्स एंड इंटरनेट्स*, पियर्सन प्रेंटिस हॉल, अपर सेडिल रिवर, एनजे.
2. एस. जानसन (1997), *इंटरफेस कल्चर : हाऊ न्यू टेक्नॉलॉजी ट्रांसफॉर्मर्स द वे वी क्रिएट एंड कम्युनिकेट*, बेसिक बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. डब्ल्यू. शे (1999), *अंडरस्टैंडिंग डेटा कम्युनिकेशंस एंड नेटवर्क्स*, बुक्स कोल, पेसिफ़िक कोल, सीए.
4. टी. टेरानोवा (2004), *नेटवर्क कल्चर : पॉलिटिक्स फ़ॉर द इनफ़ॉर्मेशन एज*, प्लूटो, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## नेटवर्क सोसाइटी

(Network Society)

बीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में सूचना-क्रांति और डिजिटल प्रौद्योगिकी पर निर्भर नये मीडिया के कारण दुनिया भर में सामाजिक संरचनाओं का विन्यास एक ऐतिहासिक परिवर्तन के दौर से गुज़रते हुए दिखाई दिया। आधुनिक राज्य और पूँजीवाद के इर्द-गिर्द काम करने वाले सामाजिक उसूल ऐसे सूचना-नेटवर्कों से प्रभावित होने लगे जो आर्थिक और राजनीतिक विनिमय में उत्तरोत्तर भागीदारी कर रहे थे। डिजिटल प्रौद्योगिकी का लाभ उठा कर भूमण्डलीकृत बाजारों में पूँजी बहुत तेज़ रफ़्तार से गति करने लगी। राष्ट्र-राज्यों ने भी खुद को नेटवर्क-राज्य के रूप में कल्पित करना शुरू किया। उनकी प्रतिष्ठा और भविष्य उनकी स्वायत्तता और सम्प्रभुता के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों के साथ उनकी नेटवर्कनुमा पार्टनरशिप पर भी निर्भर हो गया। एक विकेंद्रीकृत संचार नेटवर्क के तौर पर इंटरनेट व्यक्तिगत और सामुदायिक अन्योन्यक्रिया के प्रमुख ज़रिया बनता चला गया। औद्योगिक युग की प्रौद्योगिकियों का काम भौतिक वस्तुओं के उत्पादन को उत्तरोत्तर बढ़ाना था, लेकिन सूचना-प्रौद्योगिकियों ने ज्ञान और सूचना के अभूतपूर्व उत्पादन और वितरण के युग की सृष्टि कर दी। समकालीन पूँजीवादी समाज के तहत इस परिस्थिति का अध्ययन करके मैनुअल कैसेल्स ने 'नेटवर्क सोसाइटी' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। 1996, 1997 और 2000 में कैसेल्स का महाग्रंथ *द इनफ़ॉर्मेशन एज* तीन हिस्सों में प्रकाशित हुआ। पहले खण्ड *द राइज़ ऑफ़ इनफ़ॉर्मेशन सोसाइटी* में उन्होंने विस्तार से नेटवर्क की अवधारणा की रोशनी में नयी सदी की दहलीज़ पर होते हुए सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों का विश्लेषण पेश किया।

नेटवर्क सोसाइटी के विचार का एक कैसेल्स-पूर्व इतिहास भी है। सत्तर के दशक में टोरंटो विश्वविद्यालय के समाजशास्त्री बैरी वेलमैन ने इस दिशा में सोचना शुरू कर दिया था। उनका आग्रह था कि समाजों का अध्ययन नेटवर्कों के एक नेटवर्क के रूप में किया जाना चाहिए, न कि कोटिक्रम के आधार पर संरचित समूहों के रूप में। इस सिलसिले में उनकी सैद्धांतिक रचना 1988 में *द नेटवर्क सिटी* के रूप में सामने आयी। सत्तर के दशक में ही वेलमैन के विचारों के आधार पर रोज़ेन हिल्डज़ और मरे तुरौफ़ ने *द नेटवर्क नेशन* का प्रकाशन किया जिसमें दावा किया गया था कि कम्प्यूटर आधारित संचार में समाज को बदल डालने की क्षमता है। इन दोनों ने इंटरनेट के आगमन से पहले ही

एक कम्प्यूटर समर्थित संचार प्रणाली ईआईईएस की रचना भी करके दिखाई।

मैनुअल कैसेल्स भी मानते हैं कि नेटवर्क अपने आप में कोई नयी चीज़ नहीं है, पर सूचना-समाज के उदय ने उन्हें एक नयी ताकत से सम्पन्न कर दिया है। नयी प्रौद्योगिकी के कारण अब नेटवर्कों का इस्तेमाल समन्वित निर्णय-प्रक्रिया और फ़ैसलों पर विकेंद्रित अमल के लिए किया जा सकता है जिसके कारण मानवीय क्रियाशीलता एक नये और ऊँचे स्तर पर पहुँच गयी है। प्रौद्योगिकी का महत्त्व मानने के बावजूद कैसेल्स की ख़ास बात यह है कि वे नेटवर्क को उसके प्रौद्योगिकीय स्रोत से परे जा कर एक ऐसी सामाजिक संरचना के रूप में देखने की कोशिश करते हैं जो उन्नीसवीं और उनके अनुसार बीसवीं सदी के औद्योगिक समाजों से अलग तरह की है। नेटवर्क आधारित सामाजिक संरचना बेहद गतिशील और खुली हुई होती है जिसके संतुलन को बिगाड़े बिना उसके साथ कई तरह के नवाचार किये जा सकते हैं। कैसेल्स के लिए नेटवर्क एक रूपक है जिसके आईने में सामाजिक संबंधों के मौजूदा क्षण की तस्वीर देखी जा सकती है। नेटवर्क उनके लिए एक ऐसे समाज की प्रतीक है जो उत्तरोत्तर केंद्र-च्युत होता जा रहा है, जिसका लचीलापन बढ़ता जा रहा है और बेहद व्यक्तिवादी रुझानों से सम्पन्न है। जाहिर है कैसेल्स नेटवर्कों को नियंत्रित करने वाली कोटिक्रम आधारित प्रक्रियाओं को पूरी तरह से नज़रअंदाज़ करके उन्हें केवल गतिशीलता और खुलेपन के संदर्भ में ही समझते हैं।

इसी क्रम में आगे विचार करते हुए कैसेल्स एक ऐसे सामाजिक रूप की तजवीज़ करते हैं जिसमें वास्तविक दिक् और काल का रूपांतरण हो गया है। यह सामाजिक रूप 'समयहीन समय' और 'प्रवाही स्पेसों' से बना है। समयहीन समय का मतलब है कम्प्यूटरीकृत समय अर्थात् फटाफट होने वाला संचार और सूचना-विनिमय जो मनुष्य की संवेदन-शक्ति से भी ज़्यादा तेज़ है। रफ़्तार का आलम यह है कि चिंतन और आलोचना के लिए दरकार समय भी अनुपलब्ध हो गया है। साठ के दशक के मध्य में मार्शल मैकलुहन ने विद्युत आधारित प्रौद्योगिकियों का विश्लेषण करते हुए इस तरह के हालात पूर्व-कल्पित किये थे।

प्रवाही स्पेसों से कैसेल्स का तात्पर्य है कि स्थानिकताएँ अपने सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक तात्पर्यों से विरत हो कर अमूर्त हो गयी हैं। इस मुक़ाम पर पहुँच कर कैसेल्स के लिए नेटवर्क नये सामाजिक विन्यास का महज़ रूपक नहीं रह जाता, बल्कि स्वयं में एक विशिष्ट स्थानिक रूप बन जाता है जिसे अलग-अलग जगहों पर मौजूद नोड्स के साथ उसके कनेक्शनों के आधार पर परिभाषित किया जा सकता है।

यहीं सवाल उठता है कि कैसेल्स के लिए नेटवर्क विश्लेषण का एक औज़ार है या वे उसके माध्यम से नये सामाजिक और सांस्कृतिक रूपों का वर्णन कर रहे हैं? या ये दोनों ही बातें सही हैं? कैसेल्स इतना ज़रूर मानते हैं कि नेटवर्क उसी समय तक एक खुली प्रणाली की तरह काम कर पाते हैं। जब तक अपने दायरे के भीतर संवाद करने में समर्थ होते हैं। इसके लिए उन्हें समान रूप से स्वीकृत प्रोटोकॉल की ज़रूरत होगी और इस मुक़ाम पर नियंत्रण और सत्ता के प्रश्न उठेंगे। चूँकि नेटवर्क खुद में नेटवर्कों की बहुलता पर आधारित होंगे, इसलिए उन्हें जोड़ने और चलाने वाले स्विचों के पास सत्ता रहेगी। ये स्विच समाजों को सही रास्ते पर चलाने या गुमराह करने की ताकत रखेंगे। नेटवर्कों के भीतर ही विशेष सुविधा और सीमांतीयता के मुक़ाम होंगे। हालाँकि नेटवर्कों के भीतर कोई केंद्र नहीं होगा, पर कुछ नोड्स की हैसियत अपनी ज़िम्मेदारी के कारण दूसरों से अधिक अहम होगी। लेकिन किसी नोड की यह हैसियत प्रणालीगत नहीं होगी। वे अपनी महत्ता ज़्यादा से ज़्यादा सूचनाएँ आत्मसात करके और उन्हें अधिक से अधिक क्षमता से संसाधित करके हासिल करेंगे। जैसे ही उनका यह प्रदर्शन कमज़ोर पड़ेगा, वे अपनी हैसियत खो देंगे।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि कैसेल्स नेटवर्क सोसाइटी को किसी भी तरह के प्रणालीगत प्रभुत्व के अंदेश से मुक्त मानते हैं। उनका यह आग्रह कुछ ताज़ुब में डालता है क्योंकि सत्ता की संरचनाएँ किसी न किसी रूप में नेटवर्कों में अंतर्निहित होती ही हैं। ऐतिहासिक और राजनीतिक कारकों से कुछ शहर इंटरनेट के लिए या किन्हीं अन्य नेटवर्कों के लिए दूसरों से ज़्यादा अहम हो जाते हैं। कैसेल्स इस तरह की पहलुओं की सीधी जाँच नहीं करते, पर वे नेटवर्कों, राजनीतिक प्राधिकार और मानवीय एजेंसी के बीच सूत्रों पर सवालिया निशान लगाते हैं। वे पूछते हैं, 'नेटवर्क को प्रोग्राम कौन करता है?' और वे नियम कौन बनाता है जिनका नेटवर्क द्वारा स्वचालित भाव से अनुपालन किया जाता है? कैसेल्स जवाब देते हैं कि यह काम सामाजिक अभिनेताओं का है। उनका विचार है कि नेटवर्क से क्या काम लिया जाए, इसे लेकर सामाजिक अभिनेताओं के बीच जद्दोजहद तो है, पर एक बार जब नेटवर्क की प्रोग्रामिंग हो गयी तो फिर उसके नियम सभी अभिनेताओं को मानने होंगे।

अपनी नेटवर्क थियरी का इस्तेमाल करके कैसेल्स समकालीन पूँजीवाद का विश्लेषण करते हैं। वे कहते हैं कि पूँजीवाद को किसी एक संरचनागत इकाई की तरह देखने के बजाय एक जटिल और गतिशील नेटवर्कों के नेटवर्क की तरह देखना चाहिए। नेटवर्कों के माध्यम से पूँजी प्रवाहित होती है। छोटे-छोटे नेटवर्क मिल कर पूँजी का महा-नेटवर्क बनाते हैं। उनके बीच द्वंद्व होता है, पर वह द्वंद्वत्मकता भी

उसी विराट तर्क की छाया में सम्पन्न होती है। नेटवर्कों की वजह से सामाजिक रिश्तों का व्यक्तीकरण हो गया है। यह समुदायों से बनने वाले संसार से अलग तरह की परिघटना है। समुदाय साझा मूल्यों पर आधारित होते थे, पर नेटवर्क सोसाइटी अपनी-अपनी पसंद और हितों के साधन पर आधारित होती है। व्यक्तियों के अलावा परिवारों और सामाजिक समूहों द्वारा बनाये गये नेटवर्क भी इसी प्रवृत्ति पर कार्यरत रहते हैं।

**देखें :** अभिलेखागार, आख्यान, इंटरएक्टिविटी-प्रौद्योगिकीय विमर्श, इंटरएक्टिविटी-सामाजिक विमर्श, इंटरफ़ेस, एक्टर-नेटवर्क थियरी, डिजिटल डिवायड, दिन-प्रति दिन के अभिलेखागार, नया मीडिया, नेटवर्क, प्रोपेगंडा, बाजारू संस्कृति, भारत में संचार-क्रांति, भारतीय मीडिया-1, 2 और 3, भारतीय मीडिया स्फ़ेयर, मास मीडिया, मीडिया और सरकार, मीडिया-पक्षधरता, मीडिया-स्टडीज़, संचार, संचार-क्रांति, स्मृति और अभिलेखागार, सोशल नेटवर्क विश्लेषण, सूचना, सूचना-समाज, वैकल्पिक मीडिया।

### संदर्भ

1. मैनुएल कैसेल्स (1996), *द राइज ऑफ़ नेटवर्क सोसाइटी, द इनफ़ॉर्मेशन एज : इकॉनॉमी, सोसाइटी ऐंड कल्चर*, खण्ड 1, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
2. अलेक्स गैलोवे (2004), *प्रोटोकॉल : हाउ कंट्रोल एगिजस्ट आफ्टर डिस्टेंटलाइजेशन*, एमआईटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए.
3. टी. टेरानोवा (2004), *नेटवर्क कल्चर : पॉलिटिक्स फ़ॉर द इनफ़ॉर्मेशन एज*, प्लूटो, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## नैसी शोदरौ

(Nancy Chodorow)

अमेरिकी समाजशास्त्री और मनोविश्लेषण की आलोचक नैसी शोदरौ (1944-) के विमर्श ने फ़्रॉयड के सिद्धांतों में संशोधन का प्रस्ताव करते हुए उन्हें नारीवाद के लिए उपयोगी बनाने की भूमिका अदा की है। वे मुख्यतः 1978 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *रिप्रोडक्शन ऑफ़ मदरिंग : साइकोएनालिसिस ऐंड द सोसियोलॉजी ऑफ़ जेंडर* के लिए विख्यात हैं। इस रचना का प्रकाशन उस ज़माने में हुआ था जब अमेरिका में ज़्यादातर नारीवादी मनोविश्लेषण को तिरस्कार की दृष्टि से देखती थीं। शोदरौ सबसे पहले तो फ़्रॉयड के इस तर्क का खण्डन करती हैं कि बच्चों की सेक्शुअलिटी बहुरूपी होती

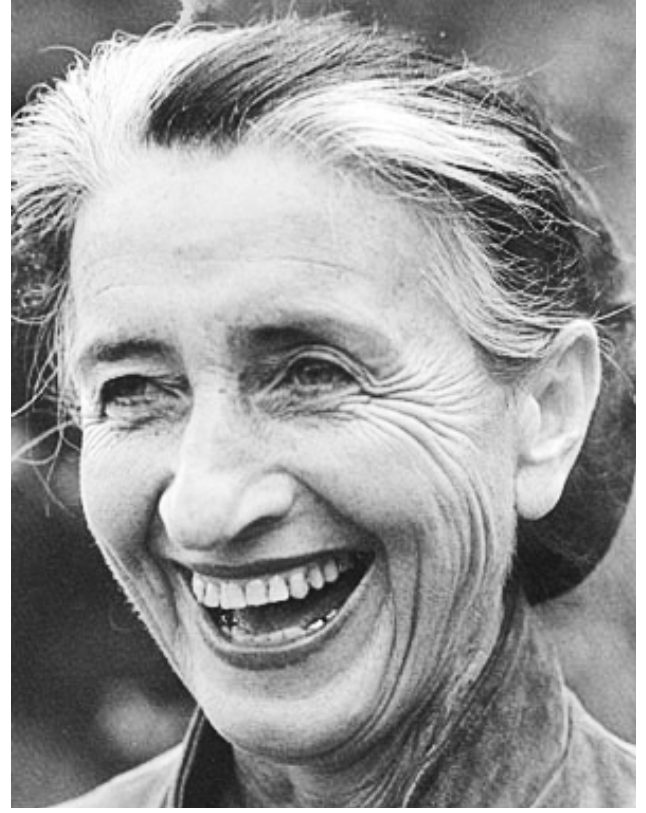
है। वे शिशु को बालक या बालिका-शिशु के रूप में देखने पर ज़ोर देती हैं। उनका कहना है कि फ़्रॉयड द्वारा पिता, शिशु और मातृ-मनोग्रंथि पर दिया जाने वाला ज़ोर अनुचित है। इसके ज़रिये वे मानस के शुरुआती विकास में पिता की भूमिका को इतना अधिक रेखांकित कर देते हैं कि माँ के साथ बालिका-शिशु के संबंध की उपेक्षा हो जाती है। शोदरौ ने आग्रह किया कि बच्चे के विकास और व्यक्ति की लैंगिक इयत्ता की रचना में शिशु को दिये जाने वाले महत्त्व के बजाय माँ के स्तन की संगठनकारी भूमिका पर रोशनी डाली जानी चाहिए। इसी तर्ज पर आगे बहस करते हुए शोदरौ ने स्त्रीत्व को एक दुर्बल इयत्ता का परिणाम बताने वाले फ़्रॉयडियन विवरण को भी ठुकरा दिया। उन्होंने दावा किया कि फ़्रॉयड मातृ-मनोग्रंथि से पहले की अवधि के महत्त्व का कमतर मूल्यांकन करते हैं और स्त्री की देह में शिशु की कमी को केंद्रीय महत्त्व दे देते हैं। इस प्रक्रिया में स्त्री की अस्मिता एक कमी पर आधारित हो कर नकारात्मक हो जाती है। फ़्रॉयड की निगाह में स्त्री एक ऐसे अस्तित्व में बदल जाती है जो पुरुष नहीं है। शोदरौ चाहती हैं कि स्त्री के मनोविश्लेषण को शिशु-ईर्ष्या और बधियाकरण-ग्रंथि (कैस्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स) की जकड़ से निकाला जाना चाहिए।

नैसी शोदरौ उन नारीवादियों के बीच एक प्रमुख हस्ताक्षर के रूप में पहचानी जाती हैं जिन्होंने फ़्रॉयड की स्थापनाओं की कड़ी आलोचना की, लेकिन साथ में स्त्री के अस्तित्व को समझने के लिए उनका नियोजित रूप से इस्तेमाल भी किया। शोदरौ और उनकी समकालीन विदुषियों को लग रहा था कि सेक्शुअल अस्मिता की रचना समझने का समाजशास्त्रीय मॉडल नाकाफ़ी साबित हो रहा है। जेंडर संबंधी भिन्नताएँ या सेक्स संबंधी भिन्नताएँ केवल समाजीकरण के आईने में देख कर नहीं समझी जा सकतीं, क्योंकि इनकी जड़ें कहीं गहरी होती हैं। इसलिए उन्होंने फ़्रॉयड की रचनाओं पर ध्यान दिया। उन्होंने पाया कि फ़्रॉयड ने मानवीय अस्मिता की रचना में सेक्स-संबंधी फ़र्क की निर्णायक भूमिका मानी है। इयत्ता पाने के लिए व्यक्ति को स्त्री या पुरुष बनना होता है। कोरे समाजशास्त्रीय रवैये से असंतुष्ट नारीवादियों को लगा कि फ़्रॉयड के सिद्धांत का वे अपने लिए विनियोग कर सकती हैं। ख़ास तौर से 'डिफ़रेंस' या भिन्नता पर ज़ोर देने वाले नारीवादियों ने फ़्रॉयड को और गहराये से पढ़ कर जाना कि स्त्री और पुरुष की सामाजिक सत्ता की अलग-अलग संरचना किस तरह बच्चों की मानसिक बनावट पर असर डालती है।

उन्होंने यह भी पाया कि शिशुओं के सामाजिक वयस्क बनने की प्रक्रिया की सबसे ज़्यादा गहन जाँच-पड़ताल फ़्रॉयड ने ही की है। 1933 में प्रकाशित अपनी एक

रचना फ़ेमिनिटी में फ़्रॉयड 'स्त्री क्या है' के बजाय यह देखते हैं कि 'स्त्री बनती कैसे है'। जाहिर है कि फ़्रॉयड केवल यह मान लेने से संतुष्ट नहीं थे स्त्री खास तरह के हारमोनों, आनुवंशिकी और कुछ सहजात विशेषताओं के मिश्रण का नतीजा है। पश्चिमी चिंतन में बचपन की आम तौर पर उपेक्षा की गयी थी, लेकिन फ़्रॉयड ने बच्चों को महज़ अविकसित वयस्क मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने शैशव को दो भागों में बाँटा— मातृ-मनोग्रंथि से पहले की अवधि और उसके बाद की अवधि। पहले की अवधि में शिशु माँ के साथ अभिन्न रूप से जुड़े रहते हैं और माँ ही उनके प्रेम का लक्ष्य होती है। दूसरी अवधि में वे माँ से अलग होना और पिता की तरफ़ झुकना शुरू करते हैं, यानी उनकी इयत्ता माँ से अलगाव और पिता से जुड़ाव पर निर्भर हो जाती है। फ़्रॉयड ने अपने विमर्श में माँ से शिशु के अलगाव को इतना महत्त्व दिया है कि उसे माँ को ख़ारिज करने की संज्ञा दे दी है। माँ के इस अस्वीकार के बिना बच्चे को उसकी विशिष्ट शिखिस्यत मिल ही नहीं सकती। चूँकि पिता के पास शिश्न है (जो न माँ के पास है और न ही बालिका-शिशु के पास), इसलिए बालिका-शिशु स्त्री बनने की प्रक्रिया में शिश्न की कमी की पूर्ति पुरुष के शिश्न के साथ सहवास की कामना के जरिये करती है। फ़्रॉयड के मुताबिक बालिका को बहुत जल्दी ही यह एहसास हो जाता है कि बालक से उसकी भिन्नता शिश्न और भगनासा की भिन्नता का पर्याय ही नहीं है, बल्कि भगनासा शिश्न के मुकाबले कमतर भी है। इसलिए बालिका के जीवन में शिश्नधारी पुरुष हर तरह की सत्ता का स्रोत बन जाता है। 'डिफ़रेंस' पर जोर देने वाले जिन नारीवादियों ने फ़्रॉयड की प्रस्थापनाओं को पलटा, उनमें शोदरौ प्रमुख हैं। उन्होंने कैरेन होर्नी और मेलैनी क्लिन द्वारा मुहैया करायी गयी बुनियाद पर अपने विमर्श की रचना की।

फ़्रॉयड सेक्शुअलिटी और मानस की रचना के केंद्र में पुत्र और पिता को रखते हैं, शोदरौ ने यही स्थान पुत्री और माँ को दिया है। पुत्र को अपनी लैंगिक इयत्ता हासिल करने के लिए अपनी माँ से अलग होना पड़ता है, लेकिन पुत्री को इस पृथकता की आवश्यकता नहीं पड़ती। शोदरौ के अनुसार फ़्रॉयड ग़लती से (और अपने लैंगिक पक्षपात के कारण भी) यह मान बैठते हैं कि दूसरों से अलगाव किये बिना व्यक्ति अपनी इयत्ता हासिल नहीं कर सकता। वे कहती हैं कि संबंध-सूत्र तोड़ना और अपने आत्म के इर्द-गिर्द चौहद्दी बना लेना मानसिक दृढ़ता की नहीं बल्कि दुर्बलता की निशानी समझी जानी चाहिए। ऐसा करने की प्रक्रिया में पुरुष की इयत्ता में एक नकारात्मकता का प्रवेश हो जाता है, जबकि स्त्री की इयत्ता संबंधवाचक बनी रहती है। पुरुष की नकारात्मकता संबंधवाचकता की कमी के जरिये अभिव्यक्त होती है। वह



नैसी शोदरौ (1944-)

निकटता से डरता है जिसका उसकी इयत्ता की शकल-सूरत पर गहरा असर पड़ता है।

शोदरौ की दलील है कि बालिका और माँ के बीच का अलगाव सम्पूर्ण न हो कर आंशिक रहता है। इस आंशिकता के पीछे भी माँ की देह में शिश्न की अनुपस्थिति कारण नहीं होती, बल्कि इसकी चालक-शक्ति माँ की शिखिस्यत से प्राप्त दृढ़ता है। दूसरी तरफ़ बालक माँ से अपने रिश्ते को पूरी तरह से तोड़ देता है। चूँकि माँ ही बालक/बालिका के प्रथम प्रेम और जुड़ाव का केंद्र है, इसलिए इस प्रक्रिया में पुत्र को बहुत बड़ी मनोवैज्ञानिक क्रीमत चुकानी पड़ती है। फ़्रॉयड के विमर्श में मातृ-मनोग्रंथि की रचना के क्षण से व्यक्तित्व का विकास शुरू होता है यानी बच्चे अपनी लैंगिक अस्मिता हासिल करने के लिए पिता की तरफ़ झुकना शुरू होते हैं। शोदरौ कहती हैं कि यह अस्मिता मातृ-मनोग्रंथि से पहले की अवधि में बनती है जब संवेदी धरातल पर बालक/बालिका माँ के निकटस्थ होते हैं और दोनों की उससे पृथकता का स्तर और रास्ता भी अलग-अलग रहता है।

शोदरौ की तरह फ़्रॉयड भी यह बात मानते हैं कि लड़कों के बजाय मातृ-मनोग्रंथि के पहले की अवधि में लड़कियों का माँ से संबंध कहीं लम्बा होता है। लेकिन शोदरौ यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि इसी कारण से

लड़कियाँ अपूर्ण रह जाती हैं और संस्कृति के दायरे में उनका प्रवेश मुश्किल हो जाता है। उल्टे इस कारण से स्त्री की संबंधधर्मिता गहन हो जाती है जिसकी वजह से वह आगे चल कर माँ बनने की तरफ बढ़ती है। वे माँ को चाहती रहती हैं, माँ बनना चाहती हैं क्योंकि बिना उसके वे उस संबंधवाचक अनुभव की पुनर्रचना नहीं कर सकतीं जो उन्हें शैशव में हुआ था। स्त्री के भीतर करवटें लेने वाली यह माँ और मातृमूलक व्यवहार का यह पुनर्जन्म ही उसे लालन-पालन में पिता के मुकाबले ज्यादा नमनीय और जिम्मेदार बनाता है। दुर्भाग्य यह है कि मातृत्व की इन्हीं जिम्मेदारियों के कारण स्त्री उत्पीड़न और शोषण का निशाना बनी है। फ्रॉयड की मान्यता यह है कि स्त्री अपनी शक्ति की तुलनात्मक कमी की भरपाई बेटे के जरिये पुरुष-शक्ति प्राप्त करके करती है। जाहिर है कि शोर्दरौ इससे असहमत हैं। वे माँ बनने और लालन-पालन करने की उसकी आकांक्षा को समाज और इयत्ता के एक बेहतर मॉडल के रूप में पेश करती है। शोर्दरौ का विचार है कि अपनी इन्हीं खूबियों के कारण स्त्री-विमर्श नव-उदारतावादी व्यक्तिवाद और मर्दवादी रवैये को सुधार सकता है। प्राक्-मातृमनोग्रंथि अवस्था के बाद मातृछवि से खुद को अलग करने में जो तनाव लड़कों को झेलना पड़ता है, उसी से उनकी भाषा इतनी सख्त, खुरदुरी और सपाट हो जाती है। विकास के उषाकाल में लगे आंतरिक झटके से लड़कियाँ साफ़ बच जाती हैं, क्योंकि उन्हें अपनी माँ से अलग दीखने या अलग होने का कोई तनाव नहीं होता। इसलिए उनकी भाषा अधिक सहज, अंतरंग और प्रवाहपूर्ण होती है। उनकी भाषा किसी आंतरिक झटके, वियोग या कमी से नहीं फूटती, इसलिए उच्छल भी ज्यादा होती है, और इस भाषा का उपयोग बृहत्तर समाज को स्पंदित रखने में भी हो सकता है।

आगे चल कर शोर्दरौ ने स्त्री-पुरुष के विभेद से परे जा कर स्त्रियों के बीच विभेद की भी जाँच की। 1989 में प्रकाशित अपनी रचना *फेमिनिज्म ऐंड साइकोएनालिटिक थियरी* में उन्होंने यह भी तर्क दिया कि पुरुष के प्रभुत्व का कारण केवल एक ही नहीं है, न ही जेंडर-विभेद हमेशा विषमता का सूचक होता है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, आनंदीबाई जोशी, इस्लामिक नारीवाद, गायत्री चक्रवर्ती स्पिवाक, चिपको आंदोलन, जूडिथ बटलर, जेंडर, दलित नारीवाद, देवदासी, देवकी जैन, नारीवाद, नारीवाद की पहली लहर, नारीवाद की दूसरी लहर, नारीवाद की तीसरी लहर, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, नारीवादी इतिहास-लेखन, नारीवाद और अर्थशास्त्र, नारीवादी दर्शन, नारीवाद और साम्प्रदायिकता, पर्यावरणीय नारीवाद, पब्लिक-प्रायवेट, पण्डिता रमाबाई सरस्वती, पितृसत्ता, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, भारत में स्त्री-आरक्षण-1 और 2, महादेवी वर्मा, मैरी वोल्सनक्रॉफ़्ट, राजनीतिक दर्शन

के नारीवादी आयाम, रमाबाई रानाडे, ल्यूस इरिगरे, स्त्री और साम्प्रदायिकता, स्त्री-श्रम, सम्पत्ति : नारीवादी परिप्रेक्ष्य, सिमोन द बोउवार, स्त्री-आरक्षण, हेलन सिचू।

### संदर्भ

1. नैसी शोर्दरौ (1978), *रिप्रोडक्शन ऑफ़ मदरिंग : साइकोएनालिसिस ऐंड द सोसियोलॉजी ऑफ़ जेंडर*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, बर्कले.
2. नैसी शोर्दरौ (1989), *फेमिनिज्म ऐंड साइकोएनालिटिक थियरी*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, सीटी.
3. जगमंड फ्रॉयड (1933), 'फेमिनिटी' (1933), *न्यू इंट्रोडक्टरी लेक्चर्स इन साइकोएनालिसिस*, जे. स्ट्रैची (सम्पा.), पेंगुइन हारमंड्सवर्थ.

— अनामिका

## नोआम चोमस्की

(Noam Chomsky)

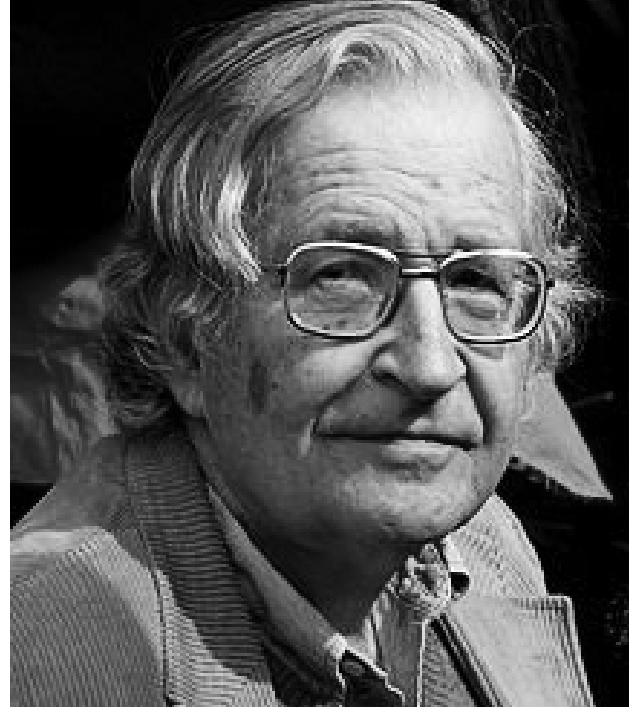
प्रख्यात अमेरिकी चिंतक नोआम चोमस्की (1928-) की विश्वव्यापी ख्याति के मुख्यतः दो आधार हैं। एक ओर उन्हें भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में मौजूद चिंतनधाराओं को बुनियादी रूप से प्रभावित करने का श्रेय जाता है। उन्होंने भाषा के बारे में आधुनिकतावादी नज़रियों का विकास किया। दूसरी ओर अपने धारदार राजनीतिक विश्लेषण तथा राजनीतिक सक्रियता से उन्होंने दुनिया भर में अपने ढेरों समर्थक और प्रशंसक भी पैदा किये। उन्होंने मूलतः पूँजीवाद तथा उसकी उत्पीड़नकारी नीतियों की अराजक-समाजवादी दृष्टिकोण से आलोचना करते हुए विपुल साहित्य की रचना की है।

नोआम चोमस्की का जन्म 7 दिसंबर, 1928 को अमेरिका के पेनिसिलवेनिया प्रांत के फ़िलाडेल्फ़िया शहर में हुआ था। उन्होंने मैसेच्युएट्स इंस्टिट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी में लगभग 55 साल तक अध्यापन किया। भाषाशास्त्र के संबंध में चोमस्की के दृष्टिकोण के मूल में यह स्थापना है कि भाषा का व्यवहार तथा भाषा सीखने के कुछ पहलू मानव मस्तिष्क में जन्मजात मौजूद होते हैं और वे केवल दी गयी शिक्षा पर आधारित नहीं होते। चोमस्की के इस नज़रिये को भाषा के मामले में सहजातवादी दृष्टिकोण कहा गया। चोमस्की ने पचास के दशक में भाषा के बारे में मौजूद अनुभववादी नज़रिये की विशेष तौर पर आलोचना की। उस समय इस विचार-पंथ का मुख्य तर्क यह था कि भाषा कैसे

सीखी जाती है यह पता करने के लिए प्रेरणा-अनुक्रिया मॉडल खास तौर पर उपयोगी रहता है। चोमस्की के अनुसार इस दृष्टिकोण की सीमा यह है कि इसमें भाषा का व्यवहार करने वाले व्यक्ति द्वारा असीमित अभिव्यक्तियाँ पैदा करने तथा उनका सामना करने का सटीक आकलन नहीं हो पाता है। इसके अतिरिक्त भाषा-ग्रहण के बारे में अनुभववादी नज़रिया व्यक्ति द्वारा अर्जित ज्ञान एवं भाषा-प्रयोग की समानता के विषय को भी ठीक से विवेचित नहीं कर पाता है।

चोमस्की के अध्यापक रहे जेलिग हैरिस जैसे संरचनावादियों ने किसी भी भाषा को उसके वक्ता द्वारा निर्मित अभिव्यक्तियों के संकलन के रूप में देखा था। भाषा-वैज्ञानिक भाषा को व्याकरण के गणितीय फ़ार्मूलों के रूप में देख रहे थे जो अभिव्यक्तियों की संरचना का निर्माण करते हैं। इस सिद्धांत में हर भाषा का भिन्न व्याकरण, उसके भिन्न प्रयोग करने वाले तथा भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों के रूप सामने आते रहते हैं। हालाँकि चोमस्की ने भी भाषाओं को पैदा करने वाले व्याकरण के गणितीय रूपों से असहमत नहीं जतायी (जैसे गणित के कई समीकरण असीमित अंक-समूहों को पैदा करते हैं) पर वह हैरिस के संरचनावाद के पार भी गये और अलग व्याकरण तथा भिन्न भाषा प्रयोगों पर आधारित अनुभववादी नज़रिये का विरोध किया। उन्होंने संरचनावादी तथा अनुभववादी दृष्टिकोण के स्थान पर मूल व्याकरण पर अपना भाषा संबंधी सिद्धांत केंद्रित किया। उनका कहना था कि यह मूल व्याकरण ही सभी भाषाओं का सार होता है। इसी मूल व्याकरण में निपुणता किसी भाषा को सम्भव बनाती है और यही मूल व्याकरण मानव मस्तिष्क में जन्मना उपस्थित रहता है।

चोमस्की के अनुसार सभी मनुष्य एक पूर्व निर्धारित बनावट के साथ आते हैं ताकि वे भाषा को आत्मसात कर सकें और भाषा को समझने की क्षमता उनमें निहित होती है। चोमस्की ने इसे अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *लैंग्वेज ऐंड माइंड* (1972) में भाषा ग्रहण उपकरण भी कहा है जो सभी भाषाओं में समान रूप से मौजूद व्याकरणगत नियमों को धारण करता है। इसी के बल पर बच्चे उस भाषा के नियमों को सीख पाते हैं जो उन्हें सिखायी जाती है। यानी चोमस्की इसका खण्डन करते हैं कि मानव-मन अपने जन्म के समय किसी साफ़-सुथरी स्लेट की तरह होता है और उस पर लिखी जाने वाली इबारतों बाद के अनुभवों से बनती हैं। उनका मानना है कि मस्तिष्क का ऐसा तंत्र जन्म के समय से ही मौजूद रहता है जो भाषा एवं ज्ञान के दूसरे रूपों को सम्भव करता है। वे लिखते हैं, 'जब हम मानव-भाषा का



नोआम चोमस्की (1928-)

अध्ययन करते हैं, तब हम उस चीज़ की तरफ़ बढ़ रहे होते हैं जिसे मानव-सार कहा जा सकता है। हम मस्तिष्क की विशिष्ट क्षमता समझने का प्रयास कर रहे होते हैं जो मनुष्यों में अनूठे रूप में मौजूद होती है।'

पर इस स्थापना के बावजूद चोमस्की यह भी कहते हैं कि भाषा के प्रयोक्ता अपनी इस जन्मना निपुणता के बारे में सजग हों, ऐसा कतई आवश्यक नहीं होता। यानी मानवीय कुशलता से जुड़ी सभी क्षमताओं के बारे में व्यक्ति स्वयं ही सचेत नहीं होते। चोमस्की के अनुसार कोई भी वाक्य अपनी व्याकरणिक संरचना में बदलाव से बोधगम्यता खो बैठता है और इसी वजह से व्याकरण से जुड़ी शुद्धता चोमस्की का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। चोमस्की ने अपने भाषा संबंधी शोध के अंतर्गत व्युत्पत्तिकारी व्याकरण जैसे पदों का प्रयोग किया है। जेनरेटिव ग्रामर का काम वक्ता के आंतरिक ज्ञान को बाहर लाना है। इसी के तहत उन्होंने परिवर्तनशाली व्याकरण, प्रत्यक्ष संरचना एवं गहन संरचना की अवधारणाओं का भी विकास किया है। परिवर्तकारी व्याकरण वह होता है जिसमें वक्ता को व्याकरण के सबसे सूक्ष्म नियमों की जानकारी हासिल करनी होती है और उन्हीं सूक्ष्म नियमों के माध्यम से वह किसी वाक्य में परिवर्तन पैदा कर देता है। प्रत्यक्ष संरचनाओं का संबंध उन शब्दों से होता है जो वास्तव में लिखे जाते हैं, जबकि गहन संरचना किसी वाक्य के अंतर्निहित संदेश या अर्थ का पर्याय होती है। चोमस्की ने तर्कवाद को

अनुभववाद की तुलना में ज्यादा महत्वपूर्ण सिद्ध किया और इस मामले में उनका दृष्टिकोण देकार्त के निकट है। यह तर्क देना कि भाषा-ग्रहण का बुनियादी हुनर हर जगह समान रूप से मानव मस्तिष्क में पहले से मौजूद रहता है, एक प्रकार से सार्वभौमिकता तथा तर्कवाद की स्थापना करता है।

भाषा संबंधी यह सार्वभौमिकतावादी चिंतन चोमस्की की राजनीतिक दृष्टि में भी देखा गया है जब वे सभी मनुष्यों की समान योग्यता स्वीकारने और उन्हें समान रूप से न्याय प्रदान करने का आग्रह करते हैं। चोमस्की ने अमेरिका की विदेश-सैन्य नीतियों, उसके पूँजीवाद एवं मीडिया के पक्षपात के पैसे विश्लेषण किये हैं। चोमस्की के मुताबिक चीजों के बारे में उनका नजरिया परम्परागत क्रिस्म के अराजकतावादियों जैसा है और उसकी जड़ें ज्ञानोदय तथा उदारतावाद में निहित हैं। चोमस्की ने ग्लोबल जस्टिस (वैश्विक न्याय) की अवधारणा भी प्रस्तुत की है जिसमें उन्होंने राज्य एवं कारपोरेट स्वार्थों को मानवीय स्वतंत्रता के पूर्ण विकास के लिए खासतौर पर बाधक बताया है। उन्होंने अमेरिका को ऐसा उत्पीड़नकारी राज्य करार दिया है जो अन्य देशों पर उस समय युद्ध थोपता है जब वे अपने संसाधनों एवं बाजार को अमेरिका के लिए खोलने से इनकार कर देते हैं। चोमस्की ने वियतनाम युद्ध के दौरान अमेरिकी सैन्यवाद तथा साम्राज्यवाद की कठोर आलोचना की। उनके इस रवैये ने उन्हें दुनिया भर के साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों तथा अमेरिकापरस्ती का विरोध करने वाले समुदायों के बीच बेहद लोकप्रिय बना दिया।

उन्होंने अमेरिका द्वारा एक ओर दूसरे देशों को लोकतंत्र और मानवाधिकार का उपदेश देने तथा दूसरी ओर दुनिया की सबसे अलोकतांत्रिक-अधिनायकवादी सत्ताओं से साँठगाँठ रखने के दोहरे रवैया की भी निंदा की। इसके लिए उन्होंने केवल सिद्धांत ही नहीं प्रतिपादित किया बल्कि अमेरिकी अपराधों के आँकड़े भी विस्तार से प्रस्तुत किये। चिली में पिनोशे की या निकारागुआ की फ्रासीवादी सत्ता के समर्थन के कारण मानवाधिकारों का बर्बरता से हनन हुआ। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान की ज़मीन पर ओसामा बिन लादेन को पकड़ने और उसकी हत्या करने को भी उन्होंने किसी देश की सम्प्रभुता का उल्लंघन बताया और लादेन की तरह ही पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश को विश्व में होने वाली अनगिनत हत्याओं, सैन्य-दखल तथा अस्थिरता के लिए ज़िम्मेदार ठहराया। उन्हें वामपंथी भी माना गया पर चोमस्की ने स्वयं को वाम-राजनीति से जोड़ने के स्थान पर अपने लिए एनार्को-सिंडिकलिस्ट जैसे संबोधन का प्रयोग किया है। इस तरह वे खुद को प्रूथों और

जॉर्ज सोरेल की विचार-परम्परा से जोड़ लेते हैं।

अमेरिका की तरह सोवियत संघ द्वारा भी अन्य देशों में हस्तक्षेप, सत्ता-पलट या सैन्य मदद देने की उन्होंने उतनी ही आलोचना की और तीसरी दुनिया के देशों के लिए इन दोनों शक्तिशाली सत्ताओं को खतरनाक बताया। चोमस्की का मानना है कि उनके विचार ऐसे रहे हैं जिसे सत्ता के शक्तिशाली समूह सुनना नहीं चाहते और इसीलिए अमेरिका में उनकी स्थिति राजनीतिक रूप से असहमत रहने वाले व्यक्ति जैसी हो गयी है। चोमस्की ने सत्ता के दैवीय-प्राकृतिक रूप की धारणा पर प्रहार किया और कहा कि सत्ता अगर न्यायसंगत नहीं है तो वह अवैध है और वह भंग करने योग्य है। यह ज़िम्मेदारी सत्ता की है कि वह स्वयं को न्यायसंगत सिद्ध करे।

चोमस्की ने पूँजीवाद के प्रभाव के कारण कार्यस्थलों पर बढ़ते शोषण एवं गुलामी की संस्कृति पर भी विचार किया और कर्मचारियों-मजदूरों द्वारा कार्यस्थल को अपने नियंत्रण में रखने का समर्थन किया। चोमस्की ने मीडिया, खास तौर पर अमेरिकी मीडिया की संरचना एवं प्रभावोत्पाकता के बारे में भी विस्तार से अपना विवेचन तथा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने मीडिया का विश्लेषण करते हुए प्रोपेगंडा मॉडल प्रस्तुत किया जो एडवर्ड एस. हर्मन के साथ सहलेखन में प्रकाशित पुस्तक *मैनुफैक्चरिंग कनसेंट : द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ मास मीडिया* (1988) के रूप में सामने आया। प्रोपेगंडा मॉडल के मुताबिक अमेरिका जैसे लोकतंत्र में अधिनायकवादी राज्यों के विपरीत नियंत्रण के अत्यंत सूक्ष्म तथा अहिंसक तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है। इस संदर्भ में चोमस्की के इस वाक्य को प्रायः दोहराया जाता है— किसी लोकतंत्र में किया जाने वाला प्रोपेगंडा किसी अधिनायकवादी राज्य की निरंकुश हिंसा जैसा ही होता है। उन्होंने तथ्यों और विश्लेषणों से दिखाया है कि किस प्रकार अमेरिका द्वारा किसी राष्ट्र को विरोधी या शत्रु घोषित कर देने के बाद मुख्यधारा का अमेरिकी मीडिया अभिजन हितों के अनुरूप आचरण करने लगता है।

देखें : अराजकतावाद, अमेरिकीकरण, अर्थ-विज्ञान, फ़र्दिनैंद द सॅस्यूर, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, लक्षण-विज्ञान।

### संदर्भ

1. जेपीबी एलेन और पाल वैन बरेन (सम्पा.) (1971), *चोमस्की : सेलेक्टेड रीडिंग्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.
2. नोआम चोमस्की (1989), *नेसेसरी इल्यूजंस, थाट कंट्रोल इन डेमोक्रेटिक सोसाइटीज़*, साउथएंड प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. नोआम चोमस्की (1972), *स्टडीज़ ऑन सीमेंटिक्स इन जेनेरेटिव*



- ग्रामर, माउटन, द हेग, माउटन.
4. नोआम चोमस्की (1988), *मैनुफैक्चरिंग कंसेंट, द पॉलिटिकल इकॉनॉमी ऑफ़ मास मीडिया* (एडवर्ड हरमेन के साथ), पैथियन बुक्स, न्यूयार्क.
5. रॉबर्ट एफ़. बर्कले (1997), *नोआम चोमस्की, अ लाइफ़ ऑफ़*
- डिसेंट*, केम्ब्रिज प्रेस, लंदन.
6. बैरी पैटमैन (सम्पा.)(2005), *चोमस्की ऑन अनार्किज़म*, एके प्रेस, ओकलैण्ड.

— वैभव सिंह